व्याकरणतन्त्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की
डी० फिल् उपाधि के लिए प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुति-कर्ता
हरिराम मिश्र
व्याकरणाचार्य, एम० ए० (लब्धस्वर्णपदक)

निर्देशक
डा० सुरेश चन्द्र पाण्डे
प्रोफेसर
संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
१९८४

प्राक्कथन

व्याकरण के विकास की वह प्रारम्भिक अवस्था थी जब भाषा की व्युत्पत्ति-प्रतिपादक के रूप में उसकी प्रशंसा की गई थी । भट्टि महाकवि अपने महाकाव्य में बाईसवें सर्ग में व्याकरण के इसी स्वरूप को निम्नलिखित शब्दों से अभिव्यक्त करते हैं -

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्तामर्श इवान्धानां भवेद्व्याकरणादृते ।। भट्टि 22/33

व्याकरण को जानने वालों की ही इस प्रकार के महाकाव्यों में गति हो सकती थी, अन्य सामान्य सहृदयों की नहीं । किन्तु व्याकरण का एक दूसरा भी प्रधान पक्ष है, वह है उसका सैद्धान्तिक पक्ष । पाणिनि के अत्यन्त वैज्ञानिक ग्रन्थ अष्टाध्यायी के सूत्रों में जो सिद्धान्त अनभिव्यक्त थे तथा अन्यत्र इतस्ततः बिखरे पड़े थे उन समस्त महत्त्वपूर्ण विवेचनों को सर्वप्रथम अभिव्यक्त करने का श्रेय महाभाष्यकार पतञ्जलि को है पतञ्जलि के व्याख्यान से ही व्याकरण की पूर्णता प्रतिष्ठित होती है । पतञ्जलि की धारणा को भर्तृहरि ने और दार्शनिक रूप दे दिया है । उस समय मानव की चित्तशान्ति के लिए तत्तत्सम्प्रदायों के अनुसार सूक्ष्मतत्त्वों के विवेचन में आचार्यों का अधिक आग्रह था, भर्तृहरि आदि वैयाकरण भी उसी धारा में कूद पड़े । इन्होंने शब्दस्वरूप के तात्त्विक ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार की । इस प्रसङ्ग में शब्द के पारमार्थिक स्वरूप की इन्हें भी व्याख्या करना पड़ी । शब्दतत्त्व की व्याख्या में इन्होंने वैयाकरणों के तर्कों के अतिरिक्त अपने सिद्धान्त के विकास में सहायक अन्य आचार्यों की मान्यताओं को अतीव आदर के साथ स्वीकार किया है । भर्तृहरि का उद्घोष है कि विभिन्न आगमों के सिद्धान्तों की व्याख्या से प्रज्ञा में वह विवेक आ जाता है जिससे अपने सिद्धान्तों के विकास में किसी प्रकार की बाधा नहीं रह जाती ।

इन आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की व्याख्या में अन्यों के विचारों को स्वीकार करने में अपना गौरव माना है । वस्तुतः इन आचार्यों द्वारा

प्रतिपादित सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति से परिपूर्ण ही व्याकरण "सर्वविदपार्षदं हीदं शास्त्रम्" कहलाने का अधिकारी होता है। आचार्य पाणिनि आदि वैयाकरणों का इतना सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक विवेचन था कि उससे काव्यशास्त्रियों का आकर्षित होना स्वाभाविक ही था।

काव्यों को मानवों की सहज अनुभूतियों का सुन्दर दर्पण माना गया है । इन अनुभूतियों की सशक्त अभिव्यक्ति किन रूपों में हो सकती थी इसी गवेषणा में अलङ्कारादि तत्त्वों का समावेश किया जाने लगा था । सामाजिक रुझान के अनुसार कभी किसी तत्त्व को प्रधान मानकर काव्यों का उपनिबन्धन हुआ तो कभी अन्य तत्त्व को । उपनिबद्ध काव्यों में विद्यमान अलङ्कारादि तत्त्वों की आलोचना की प्रवृत्ति भरत के नाट्य-शास्त्र से प्रारम्भ होती है । यह प्रथम शास्त्रीय ग्रन्थ है जहाँ काव्यों में विद्यमान तत्त्वों का समालोचनात्मक स्वरूप स्पष्ट किया गया है । अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या में इन्हें तथा इनके परवर्ती समालोचकों को अन्य शास्त्रों से पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ है । इस तथ्य को ये आचार्य स्वत: भी स्वीकार करते हैं । वैयाकरणों ने इनके विवेचन के लिए व्यापक आधार अपने ग्रन्थों में तैयार कर दिया था । काव्यतत्त्व के समालोचकों को प्रेरणा लेकर अपने लक्ष्यग्रन्थों के आधार पर तत्तत् सिद्धान्तों का विकास मात्र करना करना था इसीलिए काव्यशास्त्र व्याकरण का परिशिष्ट भाग भी कहा गया है ।

फिर भी यह कह देना कि जितना भी काव्यशास्त्रियों का व्याख्यान है वह अन्य शास्त्रापेक्षी ही है, उनके साथ अन्याय करना होगा। उन्होंने अपने काव्योपयोगी अनेक सिद्धान्तों की मौलिक व्याख्या की है । इन व्याख्याओं में अन्य शास्त्रों की छाया तक नहीं है । पारिभाषिक नाम भले ही इन्होंने अन्य शास्त्रों से लिया है किन्तु उसकी स्वसम्प्रदाया-नुरोधिनी व्याख्या में ये स्वतन्त्र थे । इतना अवश्य है कि कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों की व्याख्या में इन्होंने वैयाकरणों से सीख ली है तथा उनका आदर किया है ।

वैयाकरणों के स्फोट आदि सिद्धान्तों के प्रति भामह आदि कतिपय आचार्यों में अरुचि भी थी, फिर भी वे व्याकरण के प्रति उसके विस्तृत एवं व्यवस्थित विचारों के प्रति नतमस्तक ही रहे । व्याकरण एवं साहित्य दोनों शास्त्रों के संयुक्त विवेचन से किसी भी तत्र तत्र प्रतिपादित सिद्धान्त का स्वरूप मस्तिष्क में एकदम साफ साफ अङ्कित हो उठता है । ध्वनिसिद्धान्त की ही दृष्टि से विचार किया जाय तो वैयाकरणों के विचारों को समझे बिना उस सिद्धान्त की स्फुट अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है । दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रतिभा को देखकर अपने आप इन मनीषियों के प्रति आदरभाव से मस्तक झुक जाता है ।

संस्कृत-भाषा के अध्ययन में प्रारम्भ से ही मेरी जो प्रवृत्ति थी उसके मूल में मेरे पूज्य पिताजी का सत्प्रयास था । मेरे जनक श्री उमादत्त मिश्र जी मध्य-प्रदेश के शासकीय महाविद्यालयों में संस्कृत विषय के प्रवक्ता थे, उन्होंने अपनी ज्ञान-परम्परा की रक्षा के लिए अपने साथ ही रखकर मुझे संस्कृत की शिक्षा प्रदान की । यह मेरा सौभाग्य था कि उनकी देखरेख में संस्कृत पढ़ने का मुझे समुचित वातावरण प्राप्त हुआ । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उन्हीं परम-पूज्य पिताजी के सहयोग, प्रेरणा एवं आशीर्वाद का फल है ।

मैंने 1975 से 1980 तक अविच्छिन्न रूप से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में सुयोग्य विद्वानों से व्याकरण आदि विषयों का अध्ययन किया । इस विश्वविद्यालय की शास्त्री तथा आचार्य परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से सम्बालित एम०ए०§साहित्य§ परीक्षा में मैंने सफलता प्राप्त की । इन परीक्षाओं में निर्धारित व्याकरण तथा साहित्य के शास्त्रों का अध्ययन करते समय इनमें विद्यमान समस्याओं के प्रति मेरा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ ।

कुछ अर्वाचीन विद्वानों ने इन समस्याओं का अपने अपने ग्रन्थों में विचार भी किया है । इनमें डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी-कृत संस्कृत व्याकरण-दर्शन, डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय-कृत ध्वनिसिद्धान्त विरोधी सम्प्रदाय एवं

उनकी मान्यताएँ, डॉ० भोलाशङ्कर व्यासकृत शब्दशक्तिविवेचन, गोपीनाथ शास्त्री द्वारा लिखित फिलासफी ऑफ वर्ड एण्ड मीनिंग, डॉ० कपिलदेव द्विवेदी का अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन तथा डॉ० अमरजीत कौर कृत संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। किन्तु इन ग्रन्थों में किसी सिद्धान्त की सम्प्रदाय-विशेष के अनुसार ही व्याख्या की गयी है । इनके विचारों से मैं लाभान्वित तो हुआ किन्तु व्याकरण-तन्त्र के विचारों से काव्यशास्त्री कहाँ तक प्रभावित हुए इस समस्या का अपेक्षित स्पष्ट उत्तर मुझे कहीं नहीं मिला । अतः मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ ।

इस प्रसङ्ग में गुरुवर्य डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डे, प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन मेरा पवित्र कर्तव्य है । उन्होंने विषय-चयन से लेकर इस शोध प्रबन्ध की प्रस्तुति तक मुझे अपना समुचित सहयोग प्रदान कर मेरा सफल मार्गनिर्देशन किया है । विभागीय उन अध्यापकों के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने मुझे समय समय पर इस कार्य के लिए उत्साहित किया ।

प्रख्यात वैयाकरण पण्डित रामवदन शुक्ल जी के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने व्याकरण की गुत्थियों को सुलझाने में मुझे अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया है ।

मित्रों में श्री हरिशंकर उपाध्याय, प्रवक्ता, दर्शन-विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, डॉ० मदनमोहन तिवारी, अध्यक्ष, उ०प्र०रिसर्च एसोसिएशन, तथा श्री शेषनारायण त्रिपाठी को धन्यवाद देता हूँ इन्होंने समय समय पर मुझे प्रेरणा दी है तथा प्रबन्ध-शोधन आदि कार्यों में मुझे अपेक्षित सहयोग प्रदान किया है ।

आर्थिक सहयोग के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को तथा

पुस्तकीय सहायता के लिए इस विश्वविद्यालय के पुस्तकालयीय कर्मचारियों को भी धन्यवाद प्रदान करता हूं।

साफ तथा सुन्दर टङ्कण के लिए भाई राकेश भी धन्यवाद के पात्र हैं।

हरिराममिश्र

§हरिराम मिश्र§
शोध-छात्र

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी,
इलाहाबाद §उत्तर प्रदेश§ ।

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय

व्याकरणशास्त्र का महत्त्व

व्याकरण की वेदमूलकता :

"भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" इस भारतीय मान्यता के अनुसार अखिल ज्ञानराशि वेदों में समस्त विद्याओं का मूलस्वरूप विद्यमान है । वेद अपौरुषेय एवं नित्य होने के कारण भ्रम, प्रमाद विप्रलिप्सा आदि मानवीय दोषों से सर्वथा परे हैं । अतः वेदों में जिस विद्या का मूलस्वरूप प्राप्त है उसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध हो जाता है । इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण का पदव्युत्पत्त्यात्मक मूलरूप वेदों में विद्यमान है । अनेक पदों की व्युत्पत्तियाँ वैदिक मन्त्रों में मिलती हैं । "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" §ऋ० 1/164/50§ में यज्ञ शब्द की तथा "धान्यमसि धिनुहि देवान्" §यजु० 1/20§ में धान्य शब्द की व्युत्पत्ति की गयी है । आचार्य पाणिनि यज्ञ शब्द को "यज्" धातु से "यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षोनङ्" §पा० सू० 3/3/90§ सूत्र से "नङ्" प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न करते हैं । इसी प्रकार धान्य शब्द के लिए महाभाष्य में पतञ्जलि ने "धिनोतेर्धान्यम्" कहकर "धिन्" धातु से धान्य की निष्पत्ति माना है । आचार्य व्याकरण के इस पदव्युत्पत्त्यात्मक स्थूल स्वरूप के विवेचन के साथ साथ सृष्टि के सूक्ष्म विवेचन, विश्लेषण तथा परीक्षण को भी व्याकरण का विवेच्य प्रतिपादित करते हैं । आचार्यों की यह धारणा मूलरूप में यजुर्वेद में वहाँ परिपरिलक्षित होती है जहाँ प्रतिपादित किया गया है कि प्रजापति ने रूपों को देखकर सत्य और अनृत का व्याकरण अर्थात् विभाजन, विश्लेषण किया । उसने अनृत में अश्रद्धा की तथा सत्य में श्रद्धा की प्रतिष्ठा की ।[1] तैत्तिरीय संहिता में भी उल्लिखित है - प्रारम्भ में वाक्तत्त्व अव्याकृत था, इन्द्र ने देवों की प्रार्थना पर उसका व्याकरण किया फलतः

1- दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाँ सत्ये प्रजापतिः ।।
यजुर्वेद 19/77

वाक्तत्त्व को "व्याकृतावाक्" कहा जाने लगा ।[1] इतना ही नहीं संग्रहकार व्याडि, पतञ्जलि तथा व्याकरण को मोक्ष का सीधा मार्ग कहने वाले भर्तृहरि आदि आचार्यों द्वारा शब्दतत्त्व को नित्य, अनादि, अनन्त तथा समस्त अर्थरूप जगत्प्रपञ्च का विवर्तरूप में उत्पादक मानने का आधार ऋग्वेद में विद्यमान वाक्सूक्त ही है । इसका विवेचन आगे किया जायेगा ।

व्याकरण की वेदमूलकता का भर्तृहरि ने स्पष्ट शब्दों में उद्घोष किया है । इनका विचार है कि व्याकरण एक स्मृति है ।[2] राजशेखर भी काव्यमीमांसा में व्याकरण को स्मृति मानते हैं ।[3] व्याकरण को स्मृति मान लेने से इसकी वेदमूलकता स्पष्ट हो जाती है । वेदविद् आचार्यों ने शब्द-निबन्धन अथवा अशब्दनिबन्धन, स्मरणमूलक होने से दृष्टादृष्टप्रयोजनवती· अनेक रूपों से युक्त स्मृतियों का मूलत्वेन वेद का ही आश्रय लेकर वैदिक लिङ्गों के आधार पर उपनिबन्धन किया ।[4] समस्त स्मृतियों को वेदमूलक बताने के अनन्तर आचार्य भर्तृहरि यह प्रतिपादित करते हैं कि तर्क की अपेक्षा आगम के प्रबल होने के कारण भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सा आदि दोषों से अनाक्रान्त अकृतक अर्थात् अपौरुषेय आम्नाय रूप वेदशास्त्र का तथा पूर्वपूर्वस्मृतिमूलक व्याकरण स्मृति का प्रमाणत्वेन आश्रय लेकर शिष्ट पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा शब्दों का अनुशासन किया गया ।[5] साधुशब्दों के प्रयोगों में शिष्ट पुरुषों

1- वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते ।
तै०सं० 6/4/7

2- स्मृतिशास्त्रमिदम् । महाभाष्य त्रिपादी प्रथम आह्निक

3- व्याकरणस्मृतिन्निर्णीतः शब्दः । काव्यमीमांसा पृष्ठ 46

4- स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः ।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः ।। वा०प० 1/7

5- तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम् ।
आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम् ।। वा०प० 1/43

द्वारा विहित अविच्छिन्न परम्परा ही सनिबन्धना स्मृति है तथा अकृतक शास्त्र वेद श्रुति है । भर्तृहरि ने कहा भी है कि आचार्यों ने श्रुति को अनादि अव्यवच्छिन्न अर्थात् प्रवाह परम्पराविच्छेद शून्य तथा अकर्तृक माना है। जबकि स्मृति का शिष्टजन समय समय पर निबन्धन करते हैं अत: यह सनिबन्धना कहलाती है । इतना अवश्य है कि स्वरूपत: उपनिबध्यमान होने पर भी वह प्रवाहपरम्परया विच्छिन्न नहीं होती ।[1]

प्राचीन काल में व्याकरण में स्वभाविक प्रवृत्ति :

वेदों के अनन्तर मुण्डकोपनिषद् §1/1§ तथा गोपथ ब्राह्मण §पू0 1/24§ आदि में व्याकरण का शब्दत: निर्देश मिलता है । रामायण महाभारत आदि के रचनाकाल में अपभाषण से बचने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक समझा जाने लगा था । महर्षि वाल्मीकि ने किष्किन्धाकाण्ड में लिखा है कि निश्चित ही इसने सम्पूर्ण व्याकरण का सम्यक् अध्ययन किया है क्योंकि अधिक भाषण करते हुए इसके द्वारा एक भी असाधु शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ ।[2] वाल्मीकि रामायण में यह भी उल्लेख किया गया है कि हनुमान ने सूर्य से व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया था । महाभारत में व्याकरण के सम्बन्ध में कहा गया है कि समस्त अर्थों का व्याख्यान करने के कारण वैयाकरण कहलाता है, अर्थ का ज्ञान व्याकरण के द्वारा होता है, क्योंकि व्याकरण अर्थ की व्याख्या प्रस्तुत करता है ।[3]

1- अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम् ।
शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृति: ।। वाक्यपदीय 1/144

2- नूनं कृत्स्नमनेन व्याकरणं बहुधाश्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम् ।। वा0रामा0किष्किन्धाकाण्ड 3/29

3- सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते ।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ।। महाभारत उद्योगपर्व 43/61

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में साधु शब्दों के स्वरूप निर्णय के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक माना जाता था तथा व्याकरण के अध्ययन अध्यापन की अविच्छिन्न परम्परा विद्यमान थी । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस तथ्य को अभिव्यक्त किया है । इनके अनुसार प्राचीन काल में यह परम्परा विद्यमान थी कि संस्कार हो जाने के बाद ब्राह्मण व्याकरण का अध्ययन करते थे ।[1] "संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास" के लेखक युधिष्ठिर मीमांसक महोदय ने अपना मतव्यक्त किया है कि त्रेता युग के आरम्भ में व्याकरणशास्त्र ग्रन्थरूप में सुव्यवस्थित हो चुका था ।[2] प्राचीन काल से व्याकरणशास्त्र की प्रवर्तमान अविच्छिन्न परम्परा, पाणिनि के द्वारा व्याकरण का वैज्ञानिक स्वरूप अभिव्यक्त कर देने पर सभी श्रेष्ठ कवियों एवं लेखकों द्वारा तत्प्रतिपादित नियमों का अक्षरशः अनुपालन तथा नियमों का उल्लङ्घन करने पर काव्यशास्त्रियों द्वारा च्युतसंस्कृत्यादि नित्य दोषों का निर्देश व्याकरण के सर्वाभिमत महत्त्व को स्वतः सिद्ध कर देते हैं । व्याकरण लक्षणहीन च्युतसंस्कृत्यादि दोषों का यथावसर विवेचन किया जायेगा ।

प्रायः तत्तच्छास्त्रकार अपने अपने शास्त्रों में जनमनः प्रवृत्ति के लिए मोक्षादि अभीष्ट प्रयोजनों का ग्रन्थारम्भ में उपपादन करते हैं किन्तु व्याकरण को वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने वाले आचार्य पाणिनि ने व्याकरण में प्रवृत्ति के लिए इसके महत्त्व या किसी प्रयोजन विशेष का प्रतिपादन नहीं किया है । सम्भवतः "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो

1- पुराकल्प एतदासीत् संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते ।
महाभाष्य पस्पशाह्निक

2- संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० 56

वेदो ध्येयो ज्ञेयश्च"[1] श्रुति के आधार पर पाणिनि की धारणा बनी होगी कि जिस प्रकार बिना किसी प्रयोजन के नित्यकर्म संध्यावन्दन आदि में मनीषियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है उसी प्रकार प्रत्यवाय परिहार के लिए उत्तम अधिकारियों की व्याकरणाध्ययनादि में स्वत: प्रवृत्ति अवश्य होगी । इससे यह भी ध्वनित होता है कि पाणिनि के समय व्याकरण के ज्ञान के लिए बुधों की स्वाभाविक रुचि एवं प्रवृत्ति रही होगी । पाणिनि द्वारा व्याकरण के प्रयोजन का निर्देश न करने के कारण व्याकरण विरोधियों ने व्याकरण को निष्प्रयोजन कहने का जो दु:साहस दिखाया है उसका विवेचन तथा खण्डन आगे निरूपित किया जायेगा ।

कालान्तर में व्याकरणशास्त्र के अध्ययन अध्यापन में भले ही कुछ गणनीय मनीषियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही हो, किन्तु विषय की दुरूहता एवं नीरसता के कारण मन्दाधिकारियों की प्रवृत्ति कमहोती गयी । उन्होंने सोचा वेद से वैदिक शब्दों के स्वरूप का ज्ञान हो जायेगा तथा लोक-व्यवहार से लौकिक शब्दों का स्वरूपबोधपूर्वक अर्थज्ञान हो जायेगा व्याकरण का अध्ययन एवं ज्ञान निष्प्रयोजन है ।[2] इस धारणा से वार्तिककार कात्यायन एवं महर्षि पतञ्जलि परिचित थे अत: दोनों ने व्याकरण को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का भागीरथ प्रयास किया । इस महत्त्वपूर्ण प्रयास का ही परिणाम है कि महर्षि पाणिनि को चिरस्थायिनी कीर्ति मिली एवं व्याकरण को सभी विद्याओं का प्रकाशक तथा मोक्ष का प्रतिपादक तक स्वीकार किया गया ।

1- महाभाष्य पस्पशाह्निक पृष्ठ 15 पर उद्धृत ।

2- वेदान्नो वैदिका: शब्दा: सिद्धा लोकाच्च लौकिका: । अनर्थकं व्याकरणम्। महाभाष्य पस्पशाह्निक पृष्ठ 31 पर उद्धृत ।

आचार्यों द्वारा व्याकरण के महत्त्व का प्रतिपादन :

वार्तिककार कात्यायन तथा पतञ्जलि :

यद्यपि पाणिनि से लेकर समस्त वैयाकरण शब्दों से अर्थ प्रतीति में लोकव्यवहार को प्रधान कारण मानते हैं किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि व्याकरण निरर्थक है । लोकव्यवहार से प्रतीतार्थक शब्दों का यदि व्याकरणानुमत प्रयोग होता है तो उससे धर्म होता है । अपशब्दप्रयोगकृत अधर्म से बचने के लिए व्याकरण ही उपाय है । शास्त्रपूर्वक अर्थात् साधु शब्दों के प्रयोग से धर्म को स्वीकार करते हुए कात्यायन ने "लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगेशास्त्रेण धर्मनियमः"[1] वार्तिक लिखा है ।

व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप को सर्वप्रथम स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करने वाले शेषावतार महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण के प्रति अरुचिमूलक न्यूनता का अनुभव कर शब्दव्युत्पत्ति लक्षण व्याकरण को लोकप्रिय बनाने के लिए स्वर्ग, अपूर्व आदि व्यवहित फलों में अविश्वास के कारण व्याकरण का व्यापक लक्षण "अथ शब्दानुशासनम्" किया । यद्यपि भर्तृहरि "शब्दानुशासनम्" की व्याख्या में व्याकरण का कार्य लोकप्रयुक्त शब्दों का अनुशासन ही बताते हैं किन्तु पतञ्जलि अनुशासन को अन्वाख्यान कहकर यह द्योतित करते हैं कि शब्दों के साधुत्व की व्यवस्था के साथ साथ व्याकरण का कार्य है - शब्दों से सम्बन्धित सम्पूर्ण ज्ञातव्य का व्याख्यान । व्याकरण से भाषा इसी अर्थ में नियन्त्रित होती है । व्याकरण के द्वारा कोई शब्द बनाए नहीं जाते अपितु लोक में प्रयुक्त शब्दों के स्वरूप का निर्धारण किया जाता है । व्याकरण भाषा की अर्थभावना पदरचना और वाक्यरचना में परस्पर सम्बन्ध संस्थापित करने वाली विविध प्रक्रियाओं और उनकी नियामिका शक्तियों का परिचायक

1- महाभाष्य पस्पशाह्निक पृष्ठ 45

होता है । लोकभाषा लौकिक व्याकरण का आधार है, अतः भाषा की ही तरह व्याकरण के विकास और विस्तार सतत एवं गतिशील सिद्ध होते हैं । पतञ्जलि ने शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध का निर्धारक लोक को मानते हुए स्पष्ट किया है कि अर्थ को बुद्धि का विषय बनाकर प्रयुज्यमान शब्दों का निर्माण किसी के द्वारा नहीं किया जाता । जिस प्रकार घट से प्रयोजन रखने वाला व्यक्ति कुम्भकार से कहता है - घट का निर्माण करो मैं इससे अपना कार्य करूंगा, इस प्रकार कभी भी शब्द का प्रयोग करता हुआ व्यक्ति वैयाकरणों के परिवार में जाकर नहीं कहता कि शब्द का निर्माण करो, मैं इनका प्रयोग करूंगा । प्रयोक्ता अर्थ के अनुसार शब्द का प्रयोगकरता चलता है ।[1] पतञ्जलि का यह विवेचन शब्द की नित्यता का प्रतिपादक होते हुए व्याकरण के स्वरूप की ओर भी इङ्गित करता है कि व्याकरण शब्द का निर्माण न कर शब्द के मूल स्वरूप की व्याख्या करता है ।

कात्यायन एवं पतञ्जलि व्याकरण के स्वरूप एवं उपयोगिता का विस्तृत निरूपण करते हैं । इनकी धारणा है - अक्षरतत्त्व का यथार्थ ज्ञान व्याकरण है । अक्षरसमाम्नाय अर्थात् अकारादि अक्षरसमूह वाक्समाम्नाय अर्थात् वाक्तत्त्व का सङ्कलन है । यही ज्ञान एवं विज्ञान के विवेचन का विषय है, इसी में ब्रह्म का निवास है पुष्पित एवं फलित यही तत्त्व चन्द्र एवं तारामण्डल के सदृश सर्वत्र अलङ्कृत हैं, यह ज्ञेय है, यह ब्रह्मराशि है । शब्दतत्त्वरूप इस ब्रह्मतत्त्व का ही सृष्टि में सर्वत्र प्रतिभान होता है ।

1- यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते, नेषां निवृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति । ये पुनः कार्याभावा निवृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते । तद्यथा - घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह-कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामि । न तावच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते । म० भा० पस्पशा०

समस्त वेदों के ज्ञान के समान ही अक्षरसमाम्नाय का ज्ञान अतीव महत्त्वपूर्ण है । समस्त वेदों के ज्ञान से होने वाली पुण्यफल की प्राप्ति अक्षरसमाम्नाय के ज्ञान से होती है अत: दोनों के ज्ञान का फल समान है । वेदविहित "राजसूय" आदि यज्ञों से जिस प्रकार माता, पिता स्वर्ग में सम्पूजित होते हैं उसी प्रकार इसके ज्ञान से युक्त व्यक्ति के माता पिता स्वर्ग में पूजित होते हैं।[1] इस अक्षरतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व एवं प्रतिभा के साक्षात्कार के लिए व्याकरण की आवश्यकता को स्वीकार कर इन्होंने व्याकरणशास्त्र को अभीष्टसिद्धि का सरल साधन माना है । अत: सत्य असत्य के विवेचन तथा प्रकृति, प्रत्ययविभागज्ञानपूर्वक लौकिक तथा वैदिक समस्त शब्दों के स्वरूपज्ञान के लिए व्याकरण की अनिवार्यता अपरिहार्य है । शब्दों के स्वरूप का अवबोधक होने के कारण व्याकरण शब्दज्ञान द्वारा अज्ञानकृतपाप का निवर्तन कर अदृष्ट का भी उत्पादक सिद्ध होता है ।

पतञ्जलि व्याकरण का लक्षण मानते हैं - "व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन अस्मिन् वा" । जिसके द्वारा, या जिसमें शब्दों को व्याकृत किया जाता है वह व्याकरण है । इसकी व्याख्या में भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है कि व्याकरण के द्वारा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त की व्याख्या करना आचार्य को अभिप्रेत था।[2]

1- वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म प्रवर्तते ।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते ।।
सो यमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नाय: पुष्पित:
फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो
ब्रह्मराशि: सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने
भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गेलोके महीयेते । महाभाष्य द्वि०आ०पृ०126-127·

2- तत्रायं व्याकरणशब्द: ~~शब्द:~~ किं ब्रूते ? व्याक्रियते इत्यनेन द्वारेण शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाचिख्यासन्नुपन्यासं करोति । म०त्रि० 1/1/1

तुल्यस्वरूपवाला कोई शब्द कभी कभी भिन्न अर्थ में भिन्न निमित्त से परस्पर बिना किसी अपेक्षा के स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होता है ।[1] शब्द के इस प्रवृत्ति-निमित्त की व्याख्या व्याकरण द्वारा की जाती है । इस शब्दप्रवृत्ति के तत्त्वज्ञान से शब्दब्रह्म की उपलब्धि या उसके रसास्वाद की अनुभूति स्वीकार कर भर्तृहरि व्याकरण को अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं ।[2] इसका विवेचन आगे किया जायेगा ।

व्याकरण के सामान्य स्वरूप को निरूपित करते हुए कात्यायन तथा पतञ्जलि ने व्याकरणज्ञान के रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह इन विशिष्ट प्रयोजनों का तात्त्विक विवेचन किया है ।[3]

1- रक्षा :

वेदों के स्वरूप की रक्षा के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है । व्याकरण ही वह माध्यम है जिसके द्वारा लोप, आगम आदि वर्णविकारों का निरूपण होता है । लोक में प्रयुक्त शब्दों से वेद में प्रयुक्त शब्दों में कहीं कहीं भिन्नता पाई जाती है । लौकिक संस्कृत में दुह् धातु का लङ्‌लकार, बहुवचन में अदुहत रूप होता है जबकि वैदिक संस्कृत में "त" का लोप तथा "रुट्" का आगम करने पर अदुह्र रूप होता है । साधु दोनों हैं किन्तु बिना व्याकरण के ज्ञान के एक की साधुता में दूसरे की असाधुता का अर्थावबोधविघातक

1- शब्दो हि कश्चित् तुल्यरूप: प्रवर्तमानो भिन्नार्थो भिन्ननिमित्त: परस्परमनपेक्षमाण: प्रवर्तते । महाभाष्य त्रिपादी 1/1/1

2- तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते । वा0 1/131

3- रक्षोहागमलघ्वसंन्देहा: प्रयोजनम् । म0 1/1/1 पृ0 13·

भ्रम होने लगेगा । वैयाकरण भ्रम का निरास कर अर्थज्ञानपूर्वक वेद की रक्षा करता है ।[1] यहाँ व्याकरण की परम्परया पुरुषार्थ धर्मादि की प्रतिपादकता भी आचार्य ने मानी है ।[2] भर्तृहरि अपनी व्याख्या में रक्षा का अर्थ विद्यमान या प्रचलित अर्थ की हानि से बचाना मानते हैं ।[3]

वेद धर्मार्थ आदि पुरुषार्थों के साधक हैं, व्याकरण पर वेदों की रक्षा का भार है, अतः वेदों का उपकारक होने से व्याकरण भी पुरुषार्थों का प्रतिपादक हैं ।

2- ऊहः -

व्याकरण के ज्ञान से वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान में सहायता मिलती है । वैयाकरण प्रकृति प्रत्ययादि के प्रकरणानुरूप प्रयोग की कल्पना कर लेता है। वैदिकमन्त्रों में सभी लिङ्गों तथा सभी विभक्तियों का निर्देश नहीं किया गया, विभक्ति की कल्पना स्वतः करनी पड़ती है । "अग्नयेत्वा जुष्टं निर्वपामि" के प्रसङ्ग में कहे गये "सौर्यं चरुं निर्वपेद्ब्रह्मवर्चसकामः" में "सूर्यायत्वाजुष्टं निर्वपामि" का ऊह करना पड़ता है । वैयाकरण ही समझ सकता है कि अग्नये का सदृश चतुर्थी एक वचन में सूर्याय होगा । इस प्रकार प्रकृति एवं विकृति के परिज्ञान से ही शब्दों का विविधतामय प्रयोग सम्भव हो पाता है, अतः प्रकृति एवं विकृति के ज्ञापक व्याकरण की नितान्त आवश्यकता है ।[4]

1- रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यति । वही

2- पारम्पर्येण पुरुषार्थसाधनतामस्याह । वही प्रदीप

3- वही, त्रिपादी टीका ।

4- ऊहः खल्वपि - न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः । ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः । तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम् । तस्मादध्येयम् व्याकरणम् ।
महाभाष्य 1/1/1 पृ० 14.

3- आगम :

व्याकरण के ज्ञान से परम्परा से अविच्छिन्न उपदेशों या शास्त्रों का सम्यक् परिज्ञान होता है । आगम व्याकरणाध्ययनका फल तथा प्रयोजक दोनों है । आगम प्रतिपादित करता है कि किसी दृष्ट कारण की अपेक्षा के बिना ही ब्राह्मण षडङ्ग वेद का अध्ययन एवं ज्ञान करे । साङ्गवेद का अध्ययन एवं ज्ञान नित्य कर्म माना गया है । व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, कल्प, एवं छन्दस् इन छहों वेदाङ्गों में व्याकरण प्रधान है । वाक्यों एवं वाक्यार्थों का ज्ञान पदों एवं पदार्थों के ज्ञान के आधीन है तथा पदों एवं पदार्थों के ज्ञान का निमित्त व्याकरण है । अत: व्याकरण के ज्ञान होने पर ही वाक्यार्थबोध सम्भव होता है । बिना व्याकरण के वेदार्थ का ज्ञान न हो सकने से तदज्ञानकृत अनर्थ का निवारण इसके ज्ञान के बिना अशक्य है । षडङ्गों में इसकी प्रधानता के कारण इसमें किया गया प्रयत्न सार्थक होता है ।[1]

4- लघु :

ब्राह्मण को शब्दों का सम्यक् ज्ञान अवश्य करना चाहिए । शब्दों के परिज्ञान का व्याकरण सरलतम उपाय है । प्रतिपद पाठ की अपेक्षा शब्दों के प्रकृति प्रत्ययादि विभागपूर्वक व्याकरणविहित अन्वाख्यान में अत्यधिक लाघव है । अत: लाघवपूर्वक शब्दपरिज्ञानार्थ व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है ।[2] महाभाष्य के इस अंश की व्याख्या में भर्तृहरि ने माना है कि शब्दों के ज्ञान में व्याकरण के अतिरिक्त कोई सरल उपाय नहीं है अत: व्याकरण

1- आगम: खल्वपि-"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"। प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने च कृतो यत्न: फलवान् भवति ।
वही पृ0 15

2- लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् "ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया:" इति । नचान्तरेण व्याकरणम् लघुनोपायेन शब्दा: शक्या ज्ञातुम् । वहीं पृ0 17.

शब्दज्ञान के लिए लघु उपाय है । वस्तुत: इसके अतिरिक्त शब्दज्ञान को कोई भी शास्त्र उपाय ही नहीं बन सकता । अथवा यह कह सकते हैं कि व्याकरण के माध्यम से ही शब्दों का शीघ्रतम ज्ञान सम्भव है ।[1]

5- असन्देह :

अर्थनिर्णय में सन्देहनिवृत्ति के लिए पतञ्जलि व्याकरण के परिज्ञान को आवश्यक मानते हैं । "स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत्" प्रयोग में "स्थूलपृषती" शब्द में उपस्थित सन्देह का निराकरण व्याकरण के ज्ञान के बिना अशक्य है । यहाँ सन्देह है - बहुब्रीहि समास माना जाय या तत्पुरुष समास । दोनों समासों में शब्द का अर्थ बदल जाता है । "स्थूलानि पृषन्ति यस्या:" इस विग्रह में बहुब्रीहि समास होने पर अर्थ होता है - बड़े बड़े धब्बों वाली । बहुब्रीहि समास में पूर्वपदप्रकृति स्वर होता है तथा तत्पुरुष समास में समासान्त अन्तोदात्त स्वर होता है । तत्पुरुष समास में विग्रह "स्थूलाचासौ पृषती च" होगा ।[2] सन्देह में व्याकरणज्ञान के द्वारा स्वर आदि के आधार पर सन्देह की निवृत्ति सम्भव है । व्याकरण को न जानने वाले व्यक्ति को सन्देह रहेगा ही । अत: असन्देह के लिए व्याकरण का अध्ययन एवं ज्ञान आवश्यक है ।

व्याकरणज्ञान के इन पाँच मुख्य प्रयोजनों के अतिरिक्त व्याकरण के महत्त्व के प्रतिपादन के लिए पतञ्जलि ने अनेक गौण प्रयोजनों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । इस निबन्ध में सबका निरूपण अशक्य है अत: वे वहीं से अवधेय हैं । इस प्रकार कात्यायन तथा पतञ्जलि सर्वाधिक पवित्र ज्ञान की रक्षा

1- तेषां ज्ञाने व्याकरणादन्यो लघुरुपायो नास्ति ।
तस्माद् व्याकरणम् लघुरुपाय: शब्दज्ञानं प्रति ।
अन्य उपाय एव न सम्भवति, तस्मादध्येयं व्याकरणम् ।
अथवा अचिरकाला सम्प्रतिपत्तिलाघवम् । तस्य व्याकरणमुपाय: । म॰ त्रिपादी 1/1/1

2- महाभाष्य 1/1/1 पृ॰-17

एवं वृद्धि आदि के लिए भाषा एवं वाणी के स्वरूप के परिचायक व्याकरण के ज्ञान को अत्यावश्यक मानते हैं ।

समस्त वेदाङ्गों में व्याकरण को प्रधान माना गया है । इस धारणा को को दृढ एवं सत्य सिद्ध करने का बहुत कुछ श्रेय महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि को है । इन्हीं के प्रयास के कारण व्याकरण गम्भीर विषयों के प्रतिपादन में सुधीजनों का मार्गदर्शक बना । पतञ्जलि ने महाभाष्य में व्याकरण के गम्भीर विषयों के प्रतिपादन के अतिरिक्त लौकिक व्यवहार, आवश्यक धर्म, वैज्ञानिक तथ्य, दार्शनिक सिद्धान्त आदि की व्याख्या प्रसन्न-गम्भीर शैली में मृदुल तथा प्राञ्जल भाषा के द्वारा प्रस्तुत की है ।

विज्ञान की दृष्टि से गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का इनका स्पष्ट प्रतिपादन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । अचेतन वस्तुओं का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए "स्थाने न्तरतम:" (पा०सू० 1/1/50) के "सूक्ष्मत्याख्यानाधिकरण" में महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि हाथ से फेंका गया ढेला प्रक्षेपशक्तिभर जाकर न तो तिरछे गमन करता है न ही ऊपर जाता है, आन्तर्य के कारण पृथ्वी की ओर ही गमन करता है क्योंकि ढेला पृथ्वी का विकार है । इसी प्रकार अन्तरिक्ष में विद्यमान सूक्ष्म जल का विकार धूम है । वह धूम वायु से रहित आकाश में न तिरछे जाता है न ही नीचे जाता है आन्तर्य से अप् का विकार होने के कारण अप् में ही जाकर मिल जाता है । तथा च सूर्य के विकार किरणें निवात आकाश में न तिर्यक् गमन करती हैं न नीचे आन्तर्य के कारण सूर्य में ही जाकर मिल जाती है ।[1] यही गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त है जिसका अनन्तरभावी

1- अचेतनेष्वपि तद्यथा-लोष्ट: क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव । तिर्यग्गच्छति नोर्ध्वमारोहति । पृथ्वीविकार: पृथ्वीमेव गच्छत्यान्तर्यत: । तथा या एता आन्तरिक्ष्य: सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूम: । स धूम आकाशे निवाते नैव तिर्यग्गच्छति नावागवरोहति अब्विकारोऽप एव गच्छत्यान्तर्यत: । तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं नैव तिर्यग्गच्छति नावीगवरोहति । ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यत: । महाभाष्य 1/1/50

विद्वानों ने बहुश: विश्लेषण किया । इस प्रकार के अपूर्वप्रतिपादितवैज्ञानिक सम्मान्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन में सिद्धहस्त आचार्य ने निश्चित रूप से व्याकरण के महत्त्व को परिवर्धित करने में अपनी अहम् भूमिका निभायी ।

शब्दविज्ञान व्याकरणशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । इस दृष्टि से भी पतञ्जलि ने शब्दों के लिङ्गादि के निर्धारण का तथा शब्दों की उत्पत्तिप्रक्रिया आदि का रोचक शैली में वैज्ञानिक विवेचन किया है ।

अचेतन पदार्थों के अवबोधक खट्वा वृक्ष आदि शब्दों के लिङ्ग निर्धारण में वैज्ञानिक कारण को स्पष्ट करते हुए पतञ्जलि ने -
"संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्तत: ।
संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूते: सप् प्रसवे पुमान् ।।[1]
वार्तिक की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि सर्वत्र यज्ञप्रक्रियाविधि के द्वारा आदान एवं प्रदान प्रवृत्त होते हैं । दृश्यमान समस्त पदार्थ समूह परिवर्तमान ही रहता है अत: उसमें एकरूपता नहीं रहती । किन्तु परिवर्तमान होने पर भी एकान्तत: सत्ता का परित्याग नहीं होता । अपने भावों का अन्यत्र प्रदान तथा अन्य के भावों का आदान रूप आदान प्रदान प्रक्रिया यज्ञ है । जिस प्रकार दीपक निरन्तर तैलावयवों का आदान करता है तथा प्रकाश को सर्वत्र बिखेरता है उसी प्रकार वृक्ष भीमूल से जल का ग्रहण करते हैं तथा पुष्प फलादि को प्रदान कर वायु आदि को प्रभावित करते हैं । अत्यन्त जड ईंट, पत्थर आदि पदार्थों में भी यही प्रक्रिया होती है । कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप में क्षणभर भी स्थित नहीं रहता । जितनी वृद्धि होनी चाहिए या तो पदार्थों में उतनी वृद्धि होती है या उनका ह्रास होता है । परिवर्तन के कारण ही पदार्थों में प्राचीनत्व तथा नवीनत्व उपपन्न होता है । इस स्थिति में आदान की

1- महाभाष्य 4/1/3 में वार्तिक

विवक्षा में स्त्रीलिङ्ग शब्द की, प्रदान की विवक्षा में पुँल्लिङ्ग शब्द की तथा तटस्थ्य की विवक्षा में नपुंसकलिङ्ग शब्द की प्रवृत्ति होती है ।[1]

इस प्रकार संस्त्यान की विवक्षा में स्त्रीलिङ्ग प्रसव की विवक्षा में पुँल्लिङ्ग तथा दोनों की अविवक्षा में अर्थात् तटस्थता की स्थिति में नपुंसकलिङ्ग को मानकर आचार्य ने भर्तृहरि आदि के लिए व्यापक आधार प्रस्तुत किया है तथा परम्परया स्वीकृत –

> "स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमश: पुरुष: स्मृत: ।
> उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ।।"

इस लिङ्ग के लक्षण को अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों के कारण अस्वीकृत कर अपनी स्वतन्त्र धारणा का उपन्यास किया है । इसी प्रकार इनके द्वारा बहुश: अनेक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों का तात्त्विक विश्लेषण किया गया है । महाभाष्य में यत्र तत्र बिखरे हुए इन सिद्धान्तों का अन्य दार्शनिकों एवं साहित्य शास्त्रियों द्वारा अनुपालन व्याकरण के महत्त्व को स्वत: सिद्ध कर देता है।

आचार्य भर्तृहरि :

महर्षि पतञ्जलि के अनन्तर व्याकरणशास्त्र के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

1– अधिकरणसाधना लोके स्त्री, स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति । कर्तृसाधनश्च पुमान् – "सूते पुमान् इति । इह पुनरुभयं भावसाधनं – संस्त्यानं स्त्री, प्रवृत्तिश्च पुमान् । कस्य पुन: संस्त्यानं स्त्री प्रवृत्तिर्वा पुमान् ? गुणानाम् । केषाम् ? शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम् । सर्वाश्च पुनर्मूर्तय एवमात्मिका: संस्त्यानप्रसवगुणा: शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्य: । यत्राल्पीयांसो गुणास्तत्रावरतस्त्रय: शब्द: स्पर्शो रूपमिति । रसगन्धौ न सर्वत्र । प्रवृत्ति: खल्वपि नित्या । नहीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्तमप्यवतिष्ठते, वर्धते वा यावदनेनवर्धितव्यम् अपायेन वा युज्यते । तच्चोभयं सर्वत्र । यद्युभयं सर्वत्र कुतो व्यवस्था ? "विवक्षात:" ।। संस्त्यानविवक्षायां स्त्री । प्रसवविवक्षायां पुमान् । उभयोरविवक्षायां नपुंसकम् ।

महाभाष्य 4/1/3

आचार्य भर्तृहरि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है । व्याकरण एवं अन्य शास्त्रों के बीच इन्होंने सेतु का कार्य किया । व्याकरणशास्त्र के अप्रतिम ग्रन्थ "वाक्यपदीयम्" की कारिकाओं का वैयाकरणों एवं अन्य साहित्यशास्त्र आदि के आचार्यों द्वारा बहुशः प्रसङ्गानुरूप उपादान तथा विवेचन इसके गौरव को द्योतित करते हैं । भर्तृहरि का यह ग्रन्थ अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का अक्षय भण्डार है । इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों से साहित्यशास्त्री कितना प्रभावित हुए इसका स्पष्टीकरण आगे किया जाएगा। इन्होंने किसी भी विषय के विवेचन में व्यापक दृष्टि अपनायी है । प्रभावोत्पादक शैलीमें नवीनता के साथ विषयों का सर्वाङ्गीण विवरण प्रस्तुत करने के कारण इनकी लोकप्रियता और बढ़ गई । स्थूल रूप से सूक्ष्म रूप की ओर बढ़ते हुए इन्होंने विषयों के पारमार्थिक स्वरूप को स्पष्ट करने में अधिक जोर दिया है । यही कारण है कि व्याकरण को दर्शन का स्वरूप देने का श्रेय भर्तृहरि को है । आचार्य ने पतञ्जलि आदि आचार्यों द्वारा व्याख्यात सिद्धांतों को आधार बनाकर व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप को पल्लवित एवं विकसित करते हुए उसे अन्तिम स्वरूप प्रदान किया है । जिस प्रकार अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार वेदान्त आदि दर्शनों का प्रतिपाद्य परमार्थ है उसी प्रकार भर्तृहरि नेभी व्याकरण को चरम-लक्ष्य मोक्षप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन स्वीकार किया है ।

व्याकरण के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है कि वैदिक तथा लौकिक शब्दों का स्वरूपसंस्कार व्याकरण के द्वारा ही होता है, अतः यह शब्दस्वरूप वेदब्रह्म का साक्षात् उपकारक है । ब्रह्मचर्य, अधःशयन, चान्द्रायण आदि तपों से यह उत्तम तप है, क्योंकि पदपदार्थ विवेचन आदि दृष्ट तथा परमार्थ आदि अदृष्ट का प्रतिपादक है । इसको वेद का प्रधान अङ्ग माना गया है।[1] लक्षण एवं प्रपञ्च के द्वारा व्याकरण वर्णपदवाक्यरूप

1- आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ।। वा० 1/11

सूक्ष्मवाणी के परमसारभूत तथा पवित्रतम प्रकाशस्वरूप शब्दब्रह्म के तात्त्विक ज्ञान का सरलतम साधन है। महर्षि पतञ्जलि के कहे हुए व्याकरण के प्रयोजक उद्देश्य "लघु" शब्द की व्याख्या भर्तृहरि ने "आञ्जस: मार्ग:" के द्वारा प्रस्तुत की है । पतञ्जलि व्याकरण को शब्दज्ञान के लिए जहाँ लघु अर्थात् सबसे छोटा उपाय कहते हैं वहीं भर्तृहरि इसको सरल उपाय कह देते हैं। कुछ विद्वानों ने इस प्रसङ्ग में आए हुए "आञ्जस" शब्द का अर्थ "अन्धकारमय" कर दिया है इसका आधार उन्होंने भर्तृहरि की ही उक्ति -

"प्रत्यस्तमितभेदाया : यद्वाचो रूपमुत्तमम् ।
यदस्मिन्नेव तमसिज्योति: शुद्धं विवर्तते।।" वा0 1/18

में खोजा है । इसी मत का समर्थन "व्याकरण की दार्शनिक भूमिका" के लेखक डॉ0 सत्यकाम वर्मा ने भी किया है ।[2] किन्तु यहां भर्तृहरि ने यह प्रतिपादित किया है कि सर्वधर्म विवर्जित शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का प्रप च रूप में विवर्त अज्ञान रूप निमित्त के रहने पर ही होता है अन्यथा नहीं । इतना ही नहीं भर्तृहरि व्याकरण को सभी विद्याओं में प्रकाशित मानकर उसके व्यापकस्वरूप को स्पष्ट करते हैं । अत: मेरे विचार से "आञ्जस: मार्ग:" का अर्थ अन्धकारमय उपाय न कर सरल उपाय मानना ही उचित है।

भर्तृहरि शब्द के तात्त्विक अवबोध को व्याकरण से ही सम्भव मानते हैं । अन्वाख्यात तथा पृषोदर आदि अनन्वाख्यात शब्दों के स्वरूप-ज्ञान का व्याकरण के अतिरिक्त कोई साधन नहीं है, व्याकरण से इनके स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है । जिनके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है वे शब्द

1- प्राप्तरूपविभागाया: यो वाच: परमो रस: ।
यत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जस: ।। वही 1/12

2- व्याकरण की दार्शनिक भूमिका, पृष्ठ 45-46

ही अर्थप्रवृत्ति की विवक्षा के कारण हैं । जैसे इन्द्रिय से किसी अर्थ को प्राप्त करने के लिए विषयविशेष में इन्द्रिय विशेष का ही प्रयोग होता है उसी प्रकार अर्थविशेष के प्रतिपत्तियोग्य शब्द से उस अर्थ की विवक्षा होती है । इस प्रकार शब्दों के स्वरूपावबोध के द्वारा व्याकरण उनकी अर्थबोध की योग्यता को स्पष्ट करता है ।[1] भर्तृहरि ने शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा शब्दप्रवृत्तिनिमित्त के वास्तविक स्वरूप को पहचानना व्याकरणसाध्य मानकर कहा है कि जिसने शब्द,अर्थ, सम्बन्ध तथा निमित्त के अविपरीत स्वरूप को नहीं समझा, वाच्य के विशेषाभाव में भी शब्द के साधु एवं असाधु स्वरूप को नहीं जाना तथा साधु प्रयोग से अनुमित शिष्टों को नहीं जाना उसने व्याकरण नहीं जाना इनका सीधा अभिप्राय तो यह है कि उपर्युक्त का ज्ञान तभी सम्भव है जब व्याकरण का ज्ञान हो जाय[2], जैसा कि "अर्थप्रवृत्तितत्त्वानाम्" आदि श्लोक से स्पष्ट है ।

व्याकरण को मोक्ष का साधक मानते हुए आचार्य भर्तृहरि ने महत्त्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है । इनकी मान्यता है कि वर्णानुपूर्वीरूप क्रम आदि के परिहार हो जाने पर वैयाकरण को ।- शब्दस्वरूप ज्ञात होने के कारण ज्ञान-रूप शब्दब्रह्म का अपनी आत्मा के साथ अभेदत्वेन ज्ञान होता है यह स्थिति निर्विकल्प अनुभूति की है, 2- स्वरूपज्ञानपूर्वक शब्द प्रयोग से प्राप्त धर्म के प्रभाव से सबके अन्त: स्थित महान् शब्दात्मा का आत्मरूप में साक्षात्कार होता है जिससे तादात्म्य प्रतीति होती है,तथा 3- जो समस्त शब्दार्थ का कारण है एवं जिससे समस्त शब्दजीवन्तता या व्यवहारयोग्यता प्राप्त करते हैं उस पश्यन्तीनामक प्रतिभा की प्राप्ति होती है,जिससे परा प्रकृति का ज्ञान होता है।

1- अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम् ।
तत्त्वावबोध: शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ।। वा0 1/13

2- शब्दार्थसम्बन्धनिमित्ततत्त्वे वाच्याविशेषेऽपि च साध्वसाधून् ।
साधुप्रयोगानुमितांश्च शिष्टान्नवेद यो व्याकरणं न वेद ।।
वही 1/12

इस परा प्रकृति में समस्त विकारों की प्रतीति समाप्त हो जाती है केवल परा प्रकृति की ही सत्ता रहती है । अतः इन तीन रूपों में व्याकरण के ज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है । इसी प्रसङ्ग में जैसे आयुर्वेद को शारीरिक दोषों का निवर्तक स्वीकार किया गया है उसी प्रकार इन्होंने व्याकरण को वाणी के दोषों को दूर करने वाला प्रतिपादित किया है तथा इसको साधुत्वज्ञानरूप शब्दसंस्कार का प्रयोजक होने के कारण सभी विद्याओं से अधिक पवित्र स्वीकार किया है ।[1] व्याकरण सभी विद्याओं से पवित्र है इस धारणा के परिपोष हेतु भर्तृहरि ने अप्रमत्तच्यवित द्वारा कथित श्लोक को उद्धृत किया है -

> "आपः पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमं च मन्त्राः
> तेषाञ्च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः ।।"[2]

इसका अभिप्राय यह है कि जल पृथ्वी से अधिक पवित्र है, मन्त्र जल से अधिक पवित्र हैं। किन्तु व्याकरण को महर्षियों ने सामवेद, ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के मन्त्रों से भी अधिक पवित्र माना है । इसका कारण यही हो सकता है कि व्याकरण शब्द के स्वरूप को स्पष्ट कर वेदार्थ के अवबोध में साक्षात् उपकार करता है।

व्याकरण के प्रतिपाद्य नियमों तथा सिद्धान्तों का अन्य विद्याओं में भी अनुसरण कर यावच्छक्य अपभ्रंशादि के प्रयोग का परिहार किया जाता है। इस दृष्टि से व्याकरण सभी विद्याओं में प्रकाशित रहता है । भर्तृहरि ने यह भी स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार घटपदत्वादिरूप शब्दगत जातियां अर्थगत

1- तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ।। वही 1/14

2- वाक्यपदीय प्रथम काण्ड पृष्ठ-38 में उद्धृत ।

जातियों के ज्ञापक निमित्त हैं उसी प्रकार ज्ञान का साधन होने से यह व्याकरण विद्या समस्त विद्याओं में प्रवेश का परम उपाय है अर्थात् अन्य शास्त्रों के ज्ञान का साधन है ।[1] मोक्ष की प्राप्ति में मोक्ष के साधक योगशास्त्र में प्रसिद्ध भूमिका सप्तक आदि सोपानविभागों के मध्य यह व्याकरण प्रथम पदस्थान है अर्थात् मोक्षसाधक सभी हेतुओं में प्रथम है तथा मोक्ष को चाहने वाले पुरुषों के मोक्ष प्राप्ति के लिए सीधा राजमार्ग है।[2] वैयाकरण भ्रम के निवृत्त हो जाने के कारण परम वेदब्रह्म का दर्शन करता है, यही दर्शन मोक्ष है ।[3] अन्यत्र भी भर्तृहरि शब्दसंस्कार को परमात्मा की सिद्धि मानते हैं ।[3]

व्याकरण से ब्रह्मसाक्षात्कार को प्रतिपादित करते हुए भर्तृहरि ने कहा है - अभिव्य जकध्वनिकृत भेद जिसमें समाप्त हो गये हैं ऐसी परा-वाणी के उत्तमरूप, प्रकाशस्वरूप प्रणवरूप, जगत् के व्यापार एवं क्रिया के अनुभवरूपवैकृत अवस्था से अतिक्रान्त योगिजन विद्या एवं अविद्या से परे जिस प्रकाशरूप का निर्विकल्पक समाधि से साक्षात्कार करते हैं ऐसे, तथा एक होने पर भी जो प्रक्रियाभेद के कारण भेदोपभेदों से उपवर्णित होता है

1- यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः ।
तथैवलोके विद्यानामेषा विद्या परायणम् ।।
वा0प0 1/15

2- इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ।। वा0 1/16

3- अत्रातीत विपर्यासः केवलामनुपश्यति । वा0 1/17

4- तस्मादयः शब्द संस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः ।
वही 1/13।

उस परब्रह्म का साक्षात्कार व्याकरणज्ञान के द्वारा किया जाता है ।[1] यहां पर व्याकरण के महत्त्व को निरूपित करते हुए भर्तृहरि परब्रह्म के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन करते हैं । इसका निरूपण आगे किया जाएगा।

शास्त्रकारों ने मोक्षप्राप्ति के अन्य अनेक उपायों का निर्देश किया है, इनके विधान में जटिलता का अनुभव कर महर्षि भर्तृहरि ने व्याकरण को ही मोक्ष का सरल मार्ग माना । साधुप्रयोगकृत विशिष्ट धर्म महान् देव से सायुज्य कराता है ऐसी धारणा पत जलि की भी है । महान् देव से सायुज्य हो इसके लिए व्याकरण के अध्ययन को आवश्यक स्वीकार किया है ।[2]

भर्तृहरि वाणी के पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी ये तीन भेद स्वीकार करते हैं इन्होंने पश्यन्ती से लेकर वैखरी तक प्रकृति प्रत्यय आदि की कल्पना को स्वीकार किया है । सामान्य व्यक्तियों को केवल मध्यमा एवं वैखरी में ही प्रकृति प्रत्यय का ज्ञान होता है किन्तु योगियों को पश्यन्ती में भी इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है । ये तीन वाणियां ही व्याकरण के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं । तीनों के अतिरिक्त अत्यन्त सूक्ष्म परा वाणी में प्रकृति प्रत्ययादि की कल्पना ही नहीं हो सकती । अतः पश्यन्ती मध्यमा एवं वैखरी रूप तीन अवयवों से युक्त तथा स्थानकृत अनेक भेदों से युक्त वाणी के ज्ञान का व्याकरण अत्युत्तम साधन है ।[3]

1- प्रत्यस्तमितभेदाया यद्वाचो रूपमुत्तमम् ।
लदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्तते ।। वही 1/18
वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम् ।
व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते ।। वही 1/19
तदेकं प्रक्रिया भेदैर्बहुधा प्रविभज्यते ।
तद् व्याकरणमागम्य परंब्रह्माधिगम्यते ।। वही 1/22

2- महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् । महाभाष्य । आ० पृ० 24

3- वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ।। वा०प० 1/142

भर्तृहरि के इस समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि वे व्याकरण के महत्त्व को प्रतिपादित करते समय उसके स्वरूप को प्राधान्येन विवेचित करते हैं । इनके द्वारा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त की व्याख्या को तथा शब्दस्वरूप निर्धारण को व्याकरण का कार्य माना गया है । शब्द के मूल स्वरूप के ज्ञात हो जाने पर सब कुछ जान लिया जाता है । संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द-मूलक न हो, उपदेष्टा अथवा प्रतिपत्ता का समस्त ज्ञान शब्द से तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है ।[1] इसका अभिप्राय यह है कि शब्द की व्यापकसत्ता है तथा उसमें ऐसा सामर्थ्य है कि वह समस्त ज्ञान का वाचक हो सकता है । भर्तृहरि के इस सिद्धान्त को अनेक दार्शनिकों ने प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है ।

दण्डी :

उर्वरकल्पना के धनी वाग्विदग्ध आचार्य दण्डी ने अपने लक्षणग्रन्थ "काव्यादर्श" में वाणी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए माना है कि शिष्ट पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा अनुशासित अथवा अननुशासित वाणी की सहायता से ही लोकव्यवहार प्रवृत्त होता है ।[2] यद्यपि इन्होंने वैयाकरणों के समान अपभ्रंशों से भी अर्थबोध स्वीकार किया है तथा उन्हें भी लोकव्यवहार का प्रवर्तक माना है तथापि दोषरहित सप्रयुक्त वाणी ही इष्ट फल को प्रदान करने वाली कामधेनु है । तथा दुष्प्रयुक्त वाणी प्रयोक्ता की मूर्खता को अभिव्यक्त करती है ।[3] इस धारणा को निष्कर्षत: आचार्य ने

1- न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दनुगमादृते ।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।। वा०प० 1/123

2- इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा ।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।। काव्यादर्श० 1/3

3- गौर्गौ: कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधै: ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तु: सैव शंसति ।। काव्यादर्श 1/6

स्वीकार किया है । भाष्यकार पतञ्जलि ने भी एक श्रुति[1] को उद्धृत कर यही प्रतिपादित किया है । पतञ्जलि ने कहा है - एक शब्द का भी सम्यक् जानकर समुचित प्रयोग किया जाय तो वह स्वर्ग में तथा यहाँ समस्त अभीष्ट को प्रदान करता है । वाणी की निर्दुष्टता का ज्ञान तथा शब्दों के स्वरूप का ज्ञान व्याकरण से ही सम्भव है, यह भर्तृहरि आदि के शब्दों में बहुश: कहा जा चुका है । इस प्रकार वाणी के शोभन प्रयोग के लिए व्याकरण के ज्ञान को दण्डी भी आवश्यक मानते हैं।

भामह :

भामह काव्यशास्त्रियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । इन्होंने अपने ग्रन्थ "काव्यालङ्कार" में व्याकरण के प्राणभूत स्फोट सिद्धान्त का खण्डन करते हुए भी व्याकरण के महत्त्व को स्वीकार किया है । व्याकरण की तुलना अगाध समुद्र से करते हुए कहा है कि सूत्र, पद, पारायण, धातु, उणादि तथा गण आदि के विस्तार से युक्त व्याकरणशास्त्र का आलोडन कर धीर मनीषियों ने उसका विवेचन किया है, किन्तु प्रज्ञारहित व्यक्तियों को इससे असूया होती है । सभी अन्य विद्याओं ने व्याकरण विद्या का सर्वदा उपभोग किया है । इस प्रकार के दुर्गाध इस व्याकरणरूपी समुद्र में पारङ्गत हुए बिना शब्दरूपी रत्नों को नहीं प्राप्त किया जा सकता । व्याकरण के द्वारा ही शब्द के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है । अत: जो व्यक्ति काव्य निर्माण करना चाहता

1- एक: शब्द: सम्यग्ज्ञात: सुष्ठु प्रयुक्त: स्वर्गेलोके च कामधुग् भवति ।
- महाभाष्य प्र०आ०।

इसी रूप मे प्रतिपादन किया है ।[1] वैयाकरणों को प्रमाण मानकर अपने सिद्धान्त को प्रवर्तित करने में आनन्दवर्धन जैसे गौरव का अनुभव कर रहे हों वैयाकरणों का नाम ले लेने से मानो समस्त विरोध अपने आप शान्त हो जायेगा । इससे व्याकरण के प्रति समस्त आचार्यों का आदर भाव ध्वनित होता है । व्याकरणशास्त्र से प्रभावित होकर आनन्दवर्धन वैयाकरणों के प्रति आदर प्रकट करते हुए तृतीय उद्योत में पुन: लिखते हैं कि परिनिश्चित, अपभ्रंशरहित शब्दों का स्वरूपज्ञानपूर्वक प्रयोग करने वाले वैयाकरण विद्वानों के सिद्धान्त को आधार मानकर मेरा ध्वनिसिद्धान्त पल्लवित हुआ है, अत: उनके साथ विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है ।[2] मम्मट ने भी आनन्दवर्धन का अनुकरण करते ध्वनिव्यवहार को व्याकरणमूलक बताया है ।[3]

इसी प्रकार अन्य अनेक साहित्यशास्त्रियों ने व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्तों की व्याख्या कर उन्हें अपनाया है । इन्होंने व्याकरण के महत्त्व को समझा तथा अपने सिद्धान्तों के पल्लवन में इसकी पर्याप्त सहायता ली इसका विवेचन आगे किया जाएगा ।

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र माने जाने वाले कवि भी सुव्यवस्थित व्याकरण के नियमों तथा सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सके । इतना ही नहीं व्याकरण के प्रभाव से कवियों में पाण्डित्यप्रदर्शन की भावना का विकास हुआ और वे शाब्दी क्रीड़ा में रम रहे कालिदास की सरल मनोहारिणी स्वाभाविक कविताओं की शैली से विमुख होकर उन्होंने अपने काव्यों को दुरूह बोझिल

1- सूरिभि: कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्ति: न तु यथा कथञ्चित्
प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते ।
वही, पृ0 138

2- परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति कि तै: सह विरोधाविरोधौ चिन्त्येते ।
वही, पृ0 481

3- इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै: कथित: ।
काव्यप्रकाश 1/4

हो उसको व्याकरण के ज्ञान के लिए अत्यधिक प्रयास करना चाहिए।[1] षष्ठ परिच्छेद की समाप्ति में शब्दों के विवेचन के अनन्तर भामह ने पाणिनीय व्याकरण की विशालता की ओर सङ्केत किया है तथा कहा है कि यदि कोई व्यक्ति शब्दसागर का तथा भयङ्कर समुद्र का पार पा जाय तो महान् आश्चर्य होगा।[2]

आनन्दवर्धन :

ध्वनिप्रतिष्ठापनाचार्य आनन्दवर्धन वैयाकरणों को प्रथम अर्थात् प्रमुख विद्वान् मानते हैं। इसका कारण है समस्त विद्याओं का व्याकरणमूलक होना[3]। सबका मूल होने के कारण व्याकरणशास्त्र भी प्रधान है। काव्यात्मस्थानीय ध्वनितत्त्व को पल्लवित करते समय अपने आपको वैयाकरणों का ऋणी स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं - मैं इस ध्वनितत्त्व को यथाकथञ्चित् स्वेच्छा से ही नहीं प्रतिपादित कर रहा हूँ अपितु सूरियों अर्थात् वैयाकरणों ने इसका

1- सुत्राम्भसं पदावर्तं पारायणरसातलम् ।
धातूणादिगणग्राहं ध्यानग्रहबृहत्प्लवम् ॥
धीरैरालोकितप्रान्तममेधोभिरसूयितम् ।
सदोपभुक्तं सर्वाभिरन्यविद्याकरेणुभिः ॥
नापारयित्वा दुर्गाधमनुं व्याकरणार्णवम् ।
शब्दरत्नं स्वयङ्गम्यमलङ्कर्तुमयं जनः ॥
तस्य चाधिगमे यत्नः कार्यः काव्यं विधित्सता ।
परप्रत्ययतो यत्तु क्रियते तेन का रतिः ॥

भामह काव्यालङ्कार 7/1 से 4 तक

2- सुलातुरीयमेतदनुक्रमेण ।
को वक्ष्यतीति विरतोऽस्मतो विचारात् ।
शब्दार्णवस्य यदि कश्चिदुपैति पारम् ।
भीमाम्भसश्च जलधेरिति विस्मयोऽसौ ।

वही 7/72

3- प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् ।
ध्वन्या० पृ० 138

इसी रूप मे प्रतिपादन किया है ।[1] वैयाकरणों को प्रमाण मानकर अपने सिद्धान्त को प्रवर्तित करने में आनन्दवर्धन जैसे गौरव का अनुभव कर रहे हों वैयाकरणों का नाम ले लेने से मानो समस्त विरोध अपने आप शान्त हो जायेगा । इससे व्याकरण के प्रति समस्त आचार्यों का आदर भाव ध्वनित होता है । व्याकरणशास्त्र से प्रभावित होकर आनन्दवर्धन वैयाकरणों के प्रति आदर प्रकट करते हुए तृतीय उद्योत में पुन: लिखते हैं कि परिनिश्चित, अपभ्रंशरहित शब्दों का स्वरूपज्ञानपूर्वक प्रयोग करने वाले वैयाकरण विद्वानों के सिद्धान्त को आधार मानकर मेरा ध्वनिसिद्धान्त पल्लवित हुआ है, अत: उनके साथ विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है ।[2] मम्मट ने भी आनन्दवर्धन का अनुकरण करते ध्वनिव्यवहार को व्याकरणमूलक बताया है ।[3]

इसी प्रकार अन्य अनेक साहित्यशास्त्रियों ने व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्तों की व्याख्या कर उन्हें अपनाया है । इन्होने व्याकरण के महत्त्व को समझा तथा अपने सिद्धान्तों के पल्लवन में इसकी पर्याप्त सहायता ली इसका विवेचन आगे किया जाएगा ।

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र माने जाने वाले कवि भी सुव्यवस्थित व्याकरण के नियमों तथा सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सके । इतना ही नहीं व्याकरण के प्रभाव से कवियों में पाण्डित्यप्रदर्शन की भावना का विकास हुआ और वे शाब्दी क्रीड़ा में रम रहे कालिदास की सरल मनोहारिणी स्वाभाविक कविताओं की शैली से विमुख होकर उन्होने अपने काव्यों को दुरूह बोझिल

1- सूरिभि: कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्ति: न तु यथा कथञ्चित्
प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते ।
वही, पृ0 138

2- परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति कि तै: सह विरोधाविरोधौ चिन्त्येते ।
वही, पृ0 481

3- इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्‌ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै: कथित: ।
काव्यप्रकाश 1/4

तथा सूक्ष्म बना डाला । किन्तु काव्यनिर्माण के उद्देश्य की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज के अनुरञ्जन के लिए उसकी मन: प्रवृत्ति के अनुकूल ही काव्यों का निर्माण किया जाता है । उस समय विद्वत् समाज में इस तरह के काव्यों का आदर हुआ होगा तभी इनका निर्माण सम्भव हो सका । काव्यों का व्याकरणपरिनिष्ठित होना यह घोतित करता है कि कवियों तथा पाठकों में व्याकरण के नियमों तथा सिद्धान्तों के प्रति आदर था । कवियों ने स्वत: स्वीकार किया है कि हमारे काव्य दुरूह हैं, इन्हें व्याख्या द्वारा ही समझा जा सकता है तथा प्रखरमति विद्वान् ही इनका रसास्वाद कर सकते हैं । अल्पमति वाले व्यक्तियों की तो बुद्धि ही वहाँ तक नहीं पहुँच सकती ।[1] व्याकरण के अध्ययन से पदपदार्थ के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर कितने ही दुरूह काव्यादि का अवबोध सम्भव हो जाता है, जबकि व्याकरण के ज्ञान न होने पर पदपदार्थ के अज्ञान की स्थिति में काव्यादि का अवबोध अशक्य ही रहता है । आचार्य वेङ्कटाध्वर ने व्याकरण के अध्ययन को आवश्यक स्वीकार करते हुए इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया है । इन्होंने लिखा है कि जिन्होंने व्याकरण का अध्ययन नहीं किया है उनकी वाणी में सामर्थ्य या पटुता नहीं रहती । यदि कोई व्यक्ति किसी पद के विषय में प्रश्न कर दे तो ज्ञानाभाव में शरीर काँपता है तथा पसीने से तर हो जाता है, अर्थात् उत्तर न दे सकने की स्थिति में कष्ट होता है ।[2]

1- व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सव: सुधियामलम् ।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया ।।

भट्टिकाव्य का श्लोक
"संस्कृत साहित्यविमर्श:" में
उद्धृत, पृ० 450 ।

2- "अस्वीकृतव्याकरणो बुधानामपाटवं वाचि सुगाढमास्ते ।
कस्मिंश्चिदुक्ते तु पदं कथञ्चित् । स्वैरं वपु: स्विद्यति वेपते च ।।"
"संस्कृत साहित्य विमर्श:" में
उद्धृत, पृ० 98 ।

इस प्रकार वैयाकरणों ने प्रकृतित: तथा साहित्यशास्त्रियों ने शब्दत: एवं अपने अपने शास्त्रों में आधार एवं प्रमाण के रूप में व्याकरण के सिद्धान्तों का अनुसारण कर व्याकरण के महत्त्व को प्रतिपादित किया है ।

वे पदार्थज्ञान में उपयोगी होने के कारण, शब्दस्वरूप का निर्धारक होने के कारण तथा अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादक होने के कारण व्याकरण यद्यपि विद्वत् समाज में अत्यधिक समादृत हुआ, इसमें सन्देह का अवसर नहीं है तथापि इसका विरोध भी अत्यधिक हुआ है । न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट पूर्वपक्ष के रूप में व्याकरण विरोधियों के तर्कों का विवेचन विस्तार के साथ प्रस्तुत कर खण्डन करते हैं । अत: इन्हीं के शब्दों में विरोधियों के तर्कों की व्याख्या की जायेगी ।

जयन्त भट्ट का विवेचन -

जयन्त भट्ट ने भाष्यकार पतञ्जलि आदि द्वारा निर्दिष्ट व्याकरण के प्रयोजनों के प्रति की गयी विप्रतिपत्तियों का प्रथमत: इस प्रकार निरूपण करते हैं -

व्याकरण के विरुद्ध आक्षेप -

1- व्याकरण वेद के अर्थ का निर्णायक नहीं हो सकता । इसका कारण यह है कि विवरणकार के समान व्याकरण के मूर्धन्य आचार्य पाणिनि ने वेद का व्याख्यान तो किया नहीं, यदि किया भी है तो द्वेषादिदोष से संयुक्त मनवालेअस्मद् सदृश परिमित द्रष्टा पाणिनि में वेदार्थ के ज्ञानेच्छुकों का विश्वास कैसे होगा ।[1]

2- साधु असाधु का विवेक कर देने के कारण भी व्याकरण वेदार्थव्युत्पादन में सहायक नहीं माना जा सकता, क्योंकि साधु तथा असाधु दोनों प्रकार के शब्दों में अविशेषेण वाचकता रहती है । तथा व्याकरणार्णवपारङ्गत विद्वान्

1- नहि विवरणकार इव पाणिनिरिदं व्याचष्टे । व्याचक्षाणेऽपि वा परिमितदर्शिन्यस्मादृशे द्वेषादिदोषकलुषितमनसि तस्मिन्नस्मदादीनां वेदार्थं बुभुत्समानानां कीदृशी विस्रम्भः । न्यायमञ्जरी, पृ० 164 ।

भी भावी आदि का व्यवहार कर उनसे अर्थ का ज्ञान करते हैं । अत: वाचकत्व ही साधुत्व है ।[1]

3- व्याकरण को वेद का अङ्ग नहीं माना जा सकता, अङ्ग वही हो सकता है जो अवयवी का उपकारक है । शिक्षा आदि उपकारकत्वेन वेदाङ्ग है । व्याकरण भी स्थितिविशेष में साधु शब्द के स्वरूप निर्णय नियम के द्वारा वेदों का उपकारक होकर वेदाङ्ग बन सकता था किन्तु इस नियम के दुरुपपाद होने के कारण व्याकरण का वेदाङ्गत्व अनुपपन्न है । अत: अन्य अङ्गों की यह तुलना भी नहीं कर सकता, सब अङ्गों में इसके प्राधान्य की कल्पना तो और अशक्य है ।[2]

4- इस स्थिति में व्याकरण की निष्प्रयोजनता स्वत: सिद्ध हो जाती है । व्याकरण के निष्प्रयोजन होने के कारण ही जिस प्रकार अन्य शास्त्रकार "अथातो धर्मजिज्ञासा" आदि प्रयोजक प्रयोजनों का उपपादन करते हैं उस प्रकार सूत्रकार पाणिनि ने स्वयं अपने शास्त्र में प्रयोजन का प्रतिपादन नहीं किया । यह नहीं कहा जा सकता कि प्रयोजन अच्छी तरह से ज्ञात था । अतएव आचार्य ने इसका उपपादन नहीं किया । आज तक अच्छी तरह अन्वेषण करने पर भी प्रयोजन का स्वरूप स्पष्ट नहीं प्रतीत होता, आचार्य इसके विषय में प्राय: विवाद करते हुए देखे जाते हैं ।[3]

1- न्यायमञ्जरी, पृ० 164-165 ।

2- शिक्षादीनामनितरेतरसाध्यासङ्कीर्णविविधविषयपेक्षितवेदोपकारनिवर्तकत्वेन तदङ्गता सुसङ्गता व्याकरणस्य तु सुदूरमपि धावनप्लवने विदधत: साधुशब्द प्रयोग द्वारकमेव तदङ्गत्वं सम्भाव्यते न मार्गान्तरेण, सच नियमो दुरुपपाद इति । अतोनाङ्गान्तराणि स्पर्धितुमर्हतिव्याकरणम् । वही पृ० 169

3- अतश्च निष्प्रयोजनं व्याकरणम्, तत्सूत्रकृता स्वयं प्रयोजनस्यानुक्तत्वात् । न ह्यथातो धर्म जिज्ञासा, ---इतिवत् तत्र सूत्रकार: प्रयोजनं प्रत्यपीपदत् । सुज्ञानत्वान्न प्रत्यपादयदितिचेत्, किमुच्यते सुज्ञानत्वं यदद्यापि निपुणमन्वेषमाणा अपि न विद्म:, यत्र चाद्यापि सर्वे विवदन्ते ।

न्यायमञ्जरी, पृ० 170 ।

भी भावी आदि का व्यवहार कर उनसे अर्थ का ज्ञान करते हैं । अत: वाचकत्व ही साधुत्व है ।[1]

3- व्याकरण को वेद का अङ्ग नहीं माना जा सकता, अङ्ग वही हो सकता है जो अवयवी का उपकारक है । शिक्षा आदि उपकारकत्वेन वेदाङ्ग है । व्याकरण भी स्थितिविशेष में साधु शब्द के स्वरूप निर्णय नियम के द्वारा वेदों का उपकारक होकर वेदाङ्ग बन सकता था किन्तु इस नियम के दुरुपपाद होने के कारण व्याकरण का वेदाङ्गत्व अनुपपन्न है । अत: अन्य अङ्गों की यह तुलना भी नहीं कर सकता, सब अङ्गों में इसके प्राधान्य की कल्पना तो और अशक्य है ।[2]

4- इस स्थिति में व्याकरण की निष्प्रयोजनता स्वत: सिद्ध हो जाती है । व्याकरण के निष्प्रयोजन होने के कारण ही जिस प्रकार अन्य शास्त्रकार "अथातो धर्मजिज्ञासा" आदि प्रयोजक प्रयोजनों का उपपादन करते हैं उस प्रकार सूत्रकार पाणिनि ने स्वयं अपने शास्त्र में प्रयोजन का प्रतिपादन नहीं किया । यह नहीं कहा जा सकता कि प्रयोजन अच्छी तरह से ज्ञात था । अतएव आचार्य ने इसका उपपादन नहीं किया । आज तक अच्छी तरह अन्वेषण करने पर भी प्रयोजन का स्वरूप स्पष्ट नहीं प्रतीत होता, आचार्य इसके विषय में प्राय: विवाद करते हुए देखे जाते हैं ।[3]

1- न्यायमञ्जरी, पृ0 164-165 ।

2- शिक्षादीनामनितरेतरसाध्यासङ्कीर्णविविधविषयपेक्षितवेदोपकारनिवर्तकत्वेन तदङ्गता सुसङ्गता व्याकरणस्य तु सुदूरमपि धावन्पल्वने विदधत: साधुशब्द प्रयोग द्वारकमेव तदङ्गत्वं संभाव्यते न मार्गान्तरेण, सच नियमो दुरुपपाद इति । अतोनाङ्गान्तराणि स्पर्धितुमर्हतिव्याकरणम् ।वही पृ0 169

3- अतश्च निष्प्रयोजनं व्याकरणम, तत्सूत्रकृता स्वयं प्रयोजनस्यानुक्तत्वात् । न ह्यथातो धर्म जिज्ञासा, ---इतिवत् तत्र सूत्रकार: प्रयोजनं प्रत्यपीपदत् । सुज्ञानत्वान्न प्रत्यपादयदितिचेत्, किमुच्यते सुज्ञानत्वं यदद्यापि निपुणमन्वेषमाणा अपि न विद्म:, यत्र चाद्यापि सर्वे विवदन्ते ।

न्यायमञ्जरी, पृ0 170 ।

5- धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चार प्रकार के पुरुषार्थ भारतीय मनीषियों द्वारा माने गये हैं । इन पुरुषार्थों की सिद्धि शास्त्रों के ज्ञान से होती है । किन्तु व्याकरण से किसी भी पुरुषार्थ का प्रतिपादन नहीं हो सकता । याग, दान, होम आदि स्वरूप है जिसका ऐसे अथवा यागादिजन्य अपूर्वरूप धर्म पुरुषार्थ का ज्ञान वेद से होता है । वार्ता एवं दण्डनीति अर्थ के साधक हैं व्याकरण नहीं, क्योंकि व्याकरण का अध्ययन किए हुए भी भी व्यक्ति प्राय: दरिद्र रूप में देखे जाते हैं । काम, पुरुषार्थ का ज्ञापक वात्स्यायन द्वारा लिखा गया "कामशास्त्र" है, व्याकरण से किसी रूप में काम का प्रतिपादन नहीं हो सकता । इसी प्रकार अध्यात्मवेत्ताजन आत्मादि सूक्ष्म तत्वों के परिज्ञान को तथा क्लेशनाश को मोक्षसाधक मानते हैं, व्याकरण से होने वाले षत्व णत्व के परिज्ञान को भी मोक्ष का प्रतिपादक मानना अनुचित है । इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थों में से एक भी व्याकरण साध्य नहीं हैं ।

6- महाभाष्य में व्याख्यात व्याकरण के रक्षा, ऊह, आगम, लघु एवं असन्देह प्रयोजनों की सिद्धि शिक्षा आदि से हो सकती है। बाल्यकाल से लेकर अनेक वर्षों में भी व्याकरण का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। इस स्थिति में यदि यह शब्दज्ञान का लघु उपाय है तो इससे गुरु अर्थात् अधिक श्रमसाध्य अन्य कौन उपाय हो सकता है । वेदार्थ में संदेह होने पर मीमांसा से उसका निराकरण होता है व्याकरण से नहीं अत: व्याकरण निष्प्रयोजन है । इन प्रयोजनों के अतिरिक्त "तेऽसुरा:" इत्यादि व्याकरणाध्ययन के उक्त अन्य आनुषङ्गिक प्रयोजन प्रतिपादित किये गये हैं वे तुच्छ होने के कारण उपेक्षणीय हैं । किसी

1- किञ्च धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वार: पुरुषार्थास्तेषामन्यतम: किल व्याकरणस्य प्रयोजनमाशङ्क्येत । तत्र न तावद्धर्मस्तस्य प्रयोजनम् । स हि यागदानहोमादिस्वभावस्तज्जनितसंस्कारापूर्वरूपो वा वेदादेवावगम्यते । अर्थप्रयोजनता वार्तादण्डनीत्यो: प्रसिद्धा, न व्याकरणस्य । अधीतव्याकरण अपि दरिद्रा: प्रायशो दृश्यन्ते । न तस्यार्थ: प्रयोजनम् । कामस्तु वात्स्यायनप्रणीतकामशास्त्रप्रयोजनतामुपगतो न व्याकरणसाध्यतां स्पृशति । मोक्षे तु द्वारमात्मादि परिज्ञानमाचक्षते क्लेशप्रहाण ताध्यात्मविद:, षत्वणत्वपरिज्ञानं पुरुषवर्गसाधनमिति न साधीयान् वाद: । तदेवं धर्मादिचतुर्वर्गादिकोऽपि न व्याकरणसाध्य इति स्थितम् । वही पृ० 170-171

ने कहा भी है कि यदि रक्षा आदि मुख्य प्रयोजनों से व्याकरण की सार्थकता नहीं सिद्ध हो पाती तो आनुषङ्गिक प्रयोजनों से इसके अर्थवत्त्व की आशा कुशकाशावलम्बिनी अर्थात् निरर्थक ही है ।[1]

शब्दादि का संस्कार भी व्याकरण का प्रयोजन नहीं माना जा सकता नैयायिकों के अनुसार क्षणिक होने के कारण उच्चारण होते ही वर्ण नष्ट हो जाते हैं, अत: नष्ट हुए वर्णों का संस्कार कैसा ? वर्णों के नित्यत्व पक्ष में भी इनकी क्षणिक अभिव्यक्ति अपरिहार्य है अत: इनका संस्कार असम्भव ही है, तथा च वैयाकरण निरवय वाक्य मानते हैं अत: पद एवं वर्ण के असत्त्व में उनका संस्कार भी सुतराम् असिद्ध है । कहा भी गया है – वाक्यों से कल्पना के द्वारा पदों का विभाग कर जो व्यक्ति उनका संस्कार करना चाहता है वह सौरभपरिपूर्ण दिशाओं में आकाशकुसुम एकत्र कर उनका संस्कार क्यों नहीं करता ।[2]

3– कथञ्चित् व्याकरण से शब्द संस्कार को स्वीकार कर लेने पर भी शिष्ट पुरुष पाणिनि का त्यायज आदि ने व्याकरणनिर्दिष्ट नियमों के विरुद्ध शब्दों का प्रयोग किया है । यदि लक्षणों के निर्माता पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि आदि आचार्यों के प्रयोग निर्दोष नहीं है तो अन्य सामान्य लोगों की क्या गणना की जाय । इस प्रकार शब्दानुशासन निर्मल नहीं है., अत: व्याकरण का अध्ययनरूप महाव्रत कष्ट के लिए ही सिद्ध होता

1– यान्यपि रक्षादीनि प्रयोजनानि व्याकरणस्य व्याख्यातृभिरभिहितानि तेषामन्यतोऽपि सिद्धेर्नव्याकरणशरणता युक्ता । यान्यपि प्रयोजनान्तराणि भूयांसि "तेसुरा हेलयो हेलय:" इत्युदाहरणदिशादर्शितानि तान्यपि तुच्छत्वादानुषङ्गिकत्वाच्चोपेक्षणीयानि । तदुक्तम् –

अर्थवत्त्वं न चेज्जातं मुख्यैरपि प्रयोजनै: ।
तस्यानुषङ्गिकेष्वाशा कुशकाशावलम्बिनी । इति

वही, पृ० 17।

2– वाक्येभ्य एवं परिकल्पनया विभज्य संस्कर्तुमिच्छति पदानि महामतिर्य: । उच्चित्य सौरभविभूषितदिक्षु कस्मादाकाशकुसुमानि न संस्करोति ।

वही, पृ० 172

है । इसीलिए औशनसों ने व्याकरण को मरणान्त व्याधि कहा है ।[1] इस प्रसङ्ग में कहा भी गया है कि किसी दुष्ट ग्रह से गृहीत, राजाज्ञा से डरा हुआ अथवा माता पिता के द्वारा अभिशप्त व्यक्ति ही व्याकरण के ज्ञान के लिए परिश्रम करेगा ।[2] अन्यों के द्वारा भी कहा गया है -

वृत्ति सूत्र तिल उड़द, वैभाषिक भाष्य कटन्दी तथा कोदो का भात जो व्यक्ति जड़ नहीं है उसको भी जड़ बनाने के उत्तम साधन हैं । इसका अभिप्राय यह है कि सूत्रवृत्ति से युक्त व्याकरण के अध्ययन से मानव की बुद्धि में जड़ता आ जाती है ।

9- जिस प्रकार वैयाकरण शोभा इत्यादि शब्दों के व्याकरण निष्पाद्य न होने के कारण लौकिक भाषा के विवेचन में असमर्थ होता है उसी प्रकार व्याकरण का मन्थन कर लेने पर भी वह वैदिक वचनों का व्युत्पादन नहीं कर सकता । अत: निष्प्रयोजन होने से व्याकरण अनुपादेय तथा अनावश्यक भार सिद्ध होता है ।

जयन्त भट्ट ने व्याकरण के प्रति अरुचि का निर्देश करने के अनन्तर व्याकरण के विरोध में उत्थापित समस्त विप्रतिपत्तियों का विधिवत् निराकरण कर व्याकरण की उपादेयता का उपपादन किया है ।

जयन्त भट्ट द्वारा विप्रतिपत्तियों का निराकरण -

जयन्त भट्ट के अनुसार साधु गो आदि शब्द ही वाचक होते हैं, गावी आदि असाधु शब्द उनकी तुलना नहीं कर सकते । यदि इन्हें साधु शब्दों के समान माना जाय तो जो आज भी स्त्रियों तथा बालकों के वचनों में प्रमाद के कारण अपभ्रंष्ट शब्द हैं वे भी उन गो आदि साधु शब्दों के समान माधुर्येण

1- ननु यदि लक्षणस्य प्रणेता न सम्यग् दर्शयत्यत्र विवरणकाराश्च नाति निपुणदृश: काममन्य: सचीकृत बुद्धिर्भविष्यति ।-------मरणान्तो व्याधिर्व्याकरणमित्यौशनसा: । वही, पृ0 184

2- दुष्टग्रहगृहीतो वा भीतो वा राजदण्डत: ।
पितृभ्यामभिशप्तो वा कुर्याद् व्याकरणे श्रमम् ।
वही, पृ0 184 ।

अर्थबोधक हों । जबकि उनकी अश्यता का प्रत्यक्ष इस समय भी होता है । इसलिए जिस प्रकार बालाबलादि प्रयुक्त शब्द गो आदि शब्दों की समता नहीं कर सकते उसी प्रकार गावी आदि अपभ्रंश शब्द गो आदि साधु शब्दों के समान अर्थ के वाचक नहीं हो सकते ।

इन्होंने यह भी कहा है कि असाधुशब्द साधुशब्दों के तुल्य योगक्षेम वाले नहीं हैं । आज भी व्याकरणज्ञानवान विद्वानों की वाणी से अन्य कृषीवल आदि की वाणी में महान् अन्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है । प्रमादादि के कारण गावी आदि अपशब्दों के प्रयोग करने में अनेक शब्दगत वाचकशक्ति की कल्पना में गौरवाधिक्य के कारण तथा व्याकरण के द्वारा साधु एवं असाधु शब्दों के स्वरूप के सरलता से स्पष्ट हो जाने के कारण गो आदि साधु शब्दों में ही वाचकता स्वीकार करनी चाहिए गावी आदि असाधु शब्दों में नहीं ।

शब्दों के साधुत्व का प्रतिपादन शास्त्रों द्वारा होता है मुख्यत: शब्द साधुत्व व्याकरणशास्त्र का ही विषय है यह बात स्वत: सिद्ध है । अत: साधुत्व एवं असाधुत्व के विवेक द्वारा व्याकरण वेदार्थ का बोधक सिद्ध होता है । वेदार्थबोध में उपकारक होने के कारण व्याकरण की वेदाङ्गता भी उपपन्न हो जाती है ।

व्याकरण का प्रयोजन सूत्रकार द्वारा नहीं बताया गया अत: वह निष्प्रयोजन है इस विप्रतिपत्ति के खण्डन में कहा है कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक यह प्रसिद्ध है कि व्याकरण वेद का अङ्ग है । यदि वेद सप्रयोजन है तो उसकी सार्थकता अङ्गों के साथ ही है अत: वेद का ही प्रयोजन व्याकरण का भी प्रयोजन होगा, अन्य प्रयोजन का अन्वेषण अप्रासङ्गिक ही होगा । पाणिनि के व्याख्याताओं ने जो मुख्य एवं आनुषङ्गिक विशेष प्रयोजनों का उपपादन किया है वह श्रोतृजनों के उत्साहवृद्धि के लिए ही है ।

शिष्टों के प्रमाद को देखकर व्याकरण के प्रति अश्रद्धा को निर्हेतु मानते हुए न्यायमञ्जरीकार ने कहा है कि प्राचीन महर्षियों ने भी अपशब्दों

का प्रयोग किया था किन्तु अभियुक्त अर्थात् प्रामाणिक आचार्य उनमें साधुत्व का अन्वेषण कर अपशब्दत्व का निवारण कर देते हैं । इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण में भी जो धातु, प्रातिपादिक, कारक आदि अनुशासनों का अंश दिखायी पड़ता है उनका भी समाधान निपुण बुद्धिवाले आचार्यों ने कर दिया है ।[1]

इस प्रकार विप्रतिपत्तियों के निराकृत हो जाने पर यह सिद्ध होता है कि शब्दों का साधुत्व व्याकरण से ही सम्भव है । व्याकरण वेद के समान ही अनादि है, इसका शिष्टप्रयोगमूलत्व तो अन्धपरम्पराप्रसक्त दोष के निवारण के लिए माना गया है । जो शब्द व्याकरणस्मृति में साधुरूप में अनुशासित हैं शिष्टजन उनका उसी रूप में प्रयोग करते हैं ।[2] इस प्रसङ्ग में जयन्तभट्ट ने व्याकरण के महत्त्व के व्यापक दो तथ्यों को स्पष्ट किया है । एक तो यह कि व्याकरण एक स्मृति है दूसरा – वेद के सदृश ही व्याकरण भी अनादि है । अतः स्मृतिरूप, अनादि, प्रकृत्या निर्मल तथा अत्यन्त उदार व्याकरण निरर्थक आक्षेपों से व्यर्थ नहीं सिद्ध किया जा सकता है ।[3]

समस्त आक्षेपों का उत्तर देने के अनन्तर जयन्तभट्ट ने व्याकरण के अध्ययन की आवश्यकता पर जोर देते हुए इसके महत्त्व को अभिव्यक्त किया है । इनके अनुसार व्याकरण समस्त पवित्र विद्याओं से भी पवित्र है तथा विद्वानों के द्वारा समादृत है । चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए तथा अपने आपको अग्राम्य बनाने के लिए व्याकरण का अध्ययन

1- स्वमते साधुशब्दानामेव वाचकत्वसाधनम् । न्यायम०पृ०। 85 से । 94

2- वही पृष्ठ । 93

3- सर्वथा प्रकृतिनिर्मलमत्युदारं व्याकरणाडम्बरमेवं प्रायैः परिवादपांसुपातैर्न मनागपि दूरीकर्तुं पार्यते । वही पृ० । 96·

आवश्यक है ।[1] इन्होंने अपनी धारणा की पुष्टि में - "आप: पवित्रं परमम्" आदि उक्ति को उद्धृत किया है, इस उक्ति का स्पष्टीकरण पीछे किया जा चुका है ।
यहां भी कहा गया है -

जिन मनुष्यों के मुख व्याकरण के संस्कार से पवित्र हो गये हैं वे मानो देवता रूप बदलकर पृथ्वी में विहार कर रहे हों ।[2] इससे व्याकरणज्ञानवान् मनुष्य का देवों से साम्य सिद्ध किया गया है । तथा च व्याकरणसंस्कार से रहित जिनकी वाणी है वे मनुष्य अवर कोटि के हैं ।[3]

मनु ने भी व्याकरण तथा मीमांसक को पुण्यकर्म करने वाला पङ्क्तिपावन माना है ।[4]

पुष्पदन्त ने व्याकरण के महत्त्व को स्वीकार करते हुए यहां तक कह डाला है कि - देवी के शाप से शिवपुरी के निवास से वञ्चित मुझ अभागे का यदि मल से परिपूर्ण मर्त्यलोक में जन्म हो तो स्निग्ध, दूध की धारा के समान स्वच्छ, मधुर तथा अमृतबिन्दुओं की वर्षा करने वाली वैयाकरणों की उक्तियाँ

1- तस्मात् पवित्रात् सर्वस्मात् पवित्रं जनबहुमतमधिगतचतुर्वर्गमग्राम्यमास्मानं कर्तुमध्येयं व्याकरणम् । वही पृ० 196

2- रूपान्तरेण देवास्ते विचरन्ति महीतले ।
ये व्याकरणसंस्कारपवित्रितमुखा नरा: ।। वही पृष्ठ 196

3- न मानवा व्याकरणप्रयोगप्रबुद्धसंस्कारविहीनवाच: ।।
वही पृष्ठ 196

4- यश्च व्याकुरुते वाचं यश्च मीमांसते गिरम् ।
तावुभौ पुण्यकर्माणौ पङ्क्तिपावनपावनौ ।।
न्यायमञ्जरी में उद्धृत, पृ० 196

से मेरे कान भरे रहें ।[1] सम्भवतः व्याकरण के ज्ञान से समस्त दोषों के निवारण में ही इनका अभिप्राय है ।

इसके अनन्तर व्याकरणादि के द्वारा वैदिक पदों की व्युत्पत्ति के सम्भव होने के कारण वेद के प्रामाण्यभङ्‌ग की असङ्‌गत कल्पना का जयन्तभट्ट ने निवारण किया है तथा तदर्थ व्याकरण के ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट माना है । व्याकरण के अध्ययन से प्रौढ़पाण्डित्यपूर्ण विद्वान् बिना क्लेश के विचित्र वैदिक पदों की व्युत्पत्ति कर लेते हैं । इन्होंने निरुक्तादि को भी वेदार्थ का अवबोधक स्वीकार किया है ।[2]

इस प्रकार व्याकरण विद्या बिना वेदाङ्‌गत्व की अपेक्षा के ही वेद के अर्थ की व्याख्या प्रस्तुत करता है, अतः व्याकरण के द्वारा अर्थनिर्णय हो जाने पर वेद के प्रामाण्य का निर्णय होता है तथा वेदाङ्ग होने से व्याकरण का प्रामाण्य सिद्ध होता है ऐसा जो इतरेतराश्रय दोष था वह भी निवर्तित हो जाता है ।[3]

व्याकरण को पुनः अनादि मानते हुए निष्कर्ष रूप में जयन्तभट्ट ने लिखा है कि जिनका व्यवहार स्खलित नहीं हुआ है ऐसे, पातञ्जलमहाभाष्य के सिद्धान्तों से समन्वय रखने वाले भर्तृहरि प्रभृति आर्य आचार्यों द्वारा समाहत अनादि इस व्याकरण की तुलना भला प्राकृत-भाषाओं से कैसे की जाय? अर्थात्

1- भ्रष्टः शापेन देव्याः शिवपुरवसतेर्वन्द्यहं मन्दभाग्यो, भाव्यं वा जन्मना मे यदि मलकलिले मर्त्यलोके सशोके । स्निग्धाभिर्दुग्धधारामलमधुरसुधाबिन्दुनिष्यन्दिनीभिः, कामं जायेय वैयाकरणभणितिभिस्तूर्णमापूर्णकर्णः ।। वही उद्धृत पृ० 97.

2- एवं व्याकरणाभियोगसुलभप्रौढोक्तिभिः पण्डितैरक्लेशेन विचित्रवैदिकपदव्युत्पत्तिरासाद्यते। वही पृ० 197.

3- अङ्‌गभावनिरपेक्षयैव नः प्रत्ययो यदिह शब्दविद्यया ।
वैदिकार्थविषयो विधीयते तत् परास्तमितरेतराश्रयम् ।।
वही पृ० 197.

व्याकरणशास्त्र बहुत ही उत्कृष्ट है । इसकी समानता अन्य शास्त्र नहीं कर सकते ।[1]

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि व्याकरण का पर्याप्त विरोध हुआ, किन्तु विरोधियों के तर्क परीक्षण करने पर असङ्गत सिद्ध होते हैं तथा महत्त्वहीन हैं । व्याकरण के महत्त्व को स्वीकार कर आचार्यों ने इसके ज्ञान के प्रति आदर प्रकट किया है तथा इसके सिद्धान्तों का यथावसर अपने अपने शास्त्रों में पल्लवन कर इसके उपकार को स्वीकार किया है ।

1- आदृतमस्खलितव्यवहारैर्भोगिमतश्रुतसङ्गभिरार्यैः ।
व्याकरणं कथमेतदनादि प्राकृतलक्षणतोऽल्यमुपेयात् ।।
वही पृ० 197.

द्वितीय अध्याय

शब्दार्थ-विवेचन

शब्द एवं अर्थ के स्वरूप का निर्धारण व्याकरणशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य है। इनके सूक्ष्मतत्त्वों का दार्शनिक स्वरूप वेद, ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। इन ग्रन्थों के व्याख्याकार ऋषियों एवं आचार्यों की मान्यता है कि शब्द ब्रह्म है तथा समस्त संसार प्रपंच की इस शब्द ब्रह्म से उत्पत्ति होती है। ऋग्वेद के वाक्सूक्त में प्रतिपादित है मैं इस सृष्टि के मूर्धा में इसके पिता शब्दतत्त्व को प्रेरित करता हूँ, मैं समुद्र के अन्तस्तल ज्ञानगुहा में वास करता हूँ, मुझसे ही सम्पूर्ण विश्व उद्भूत हुआ है मैं अपने शरीर से द्युलोक का स्पर्श करता हूँ[1]। मैं ही वायु के समान गतिशील, समस्त संसार का उत्पादक, द्युलोक तथा पृथ्वीलोक से पर, अतीव महिमा से युक्त तथा सर्वत्र व्याप्त रहता हूँ[2]। ऋग्वेद के इस विवेचन से स्पष्ट है कि शब्दतत्त्व व्यापक है, समस्त विश्व की उत्पत्ति इसी से हुई है। यह गतिशील, प्रशस्य तथा सर्वातीत है।

वैयाकरणों द्वारा शब्द के पारमार्थिक स्वरूप का विवेचन :

वेद के समान ही उपनिषदों में भी शब्दतत्त्व के व्यापक स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है। कैवल्य उपनिषद् में कहा गया है - सब कुछ मुझसे ही उत्पन्न होता है। सबकुछ अर्थात् समस्त संसारप्रपञ्च मुझमें ही प्रतिष्ठित है मुझमें ही सबकुछ लीन होता है वह अद्वितीय अक्षर ब्रह्म मैं हूँ।[3]

1- अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
तती वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ।।

2- अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा। ऋ0 10/125.7
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सम्बभूव ।।
ऋ010/125.8

3- मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ।।
कै0उ0 1/19

वैयाकरणों ने वेदों एवं उपनिषदों में प्रतिपादित शब्दब्रह्म विषयक इस धारणा को और अधिक स्पष्ट किया है । इन्होंने समस्त दार्शनिकवादों को विवेचित करते हुए उस परमतत्त्व को शब्दब्रह्म अक्षरतत्त्व, शब्दतत्त्व आदि नामों से अभिहित किया है, इसी परम तत्त्व को जगद् का मूलकारण तथा नित्य, सर्वव्यापक एवं सर्वातीत माना है । मोक्ष की प्राप्ति के लिए शब्दस्वरूपावबोधक व्याकरण को परम उपाय मानने वाले भर्तृहरि शब्दतत्त्व को अनादि, अनन्त तथा अक्षर मानते हैं । इन्होंने इसी शब्दतत्त्व से अर्थरूप में समस्त जगद् का विवर्त स्वीकार किया है ।[1]

भर्तृहरि द्वारा शब्दतत्त्व के इस स्वरूप के व्याख्यान का आधार विवरणकार कात्यायन का "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" वार्तिक, वाजप्यायन का "जातिशक्तिवाद", व्याडि का "द्रव्यशक्तिवाद" तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि का एतद्विषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवेचन है ।

शब्द को नित्य मान लेने पर भी व्याकरण की आवश्यकता को प्रतिपादित करते समय पतञ्जलि ने व्याडि का नाम लिया है । इन्होंने लिखा है व्याडि ने अपने संग्रह ग्रन्थ में शब्द की नित्यता या अनित्यता के विषय में विस्तार के साथ विचार किया है । दोनों पक्षों में उन्होंने दोषों का तथा प्रयोजनों का उपपादन कर निष्कर्ष रूप में शब्द को नित्य तथा अनित्य माना है[2]। संग्रहग्रन्थ अनुपलब्ध है, अतः अन्य आचार्यों ने व्याडि का जो मत माना है उसी को प्रमाण मानना पड़ता है । भाष्यकार के अनुसार उन्हें शब्द का नित्यत्व एवं अनित्यत्व दोनों अभिप्रेत था । सम्भव है पारमार्थिक दृष्टि से उन्होंने शब्द को नित्य माना हो तथा व्यावहारिक

1- अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
 विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।

वा० १/१

2- संग्रहे एतद् प्राधान्येन परीक्षितम्-नित्यो वा स्याद् कार्यो वा । तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि । तत्र त्वेष निर्णयः - यद्येव नित्यः अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति । महाभाष्य प०आ० पृ०37.

दृष्टि से अनित्य । व्याडि का व्यक्तिशक्तिवाद या द्रव्याभिधानवाद प्रसिद्ध है । व्यक्तिशक्तिवाद का विवेचन आगे किया जायेगा । आचार्य भर्तृहरि ने इनको प्रमाण मानकर द्रव्य के पारमार्थिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे नित्य माना है । दार्शनिकों द्वारा व्याख्यात आत्मा, वस्तु, स्वभाव तथा शरीर तत्त्व द्रव्य के पर्याय हैं तथा यह द्रव्य नित्य है[1]। भाष्यकार पतञ्जलि ने विचार करते हुए "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" वार्तिक की व्याख्या में द्रव्य को नित्य तथा आकृति में परिवर्तन स्वीकार करते हैं ।[2] द्रव्य का व्यावहारिक रूप भी आचार्यों को मान्य है । अतः व्याडिदर्शन के अनुसार समस्त शब्द द्रव्य के अभिधायक हैं । इसी प्रकार आचार्यवाजप्यायन के "जातिशक्तिवाद" की समालोचना में भर्तृहरि ने प्रतिपादित किया है कि परमार्थतः जाति एक है, सत् है तथा महासत्तारूप यह जाति परब्रह्मस्वरूप है । इस नित्य जाति में भेद का आरोप किया जाता है वस्तुतः वह एक ही है । गोत्वादि जातियाँ महासत्ता से भिन्न नहीं है, तद्रूप ही हैं उसी महासत्ता में डित्थादि शब्द वाचकत्वेन व्यवस्थित हैं ।[3] समस्त प्रातिपदिक तथा धातुएँ इसी महासत्ता का अभिधान करते हैं । यह महासत्ता नित्य तथा महात्स्वरूपा है "त्व" "तल्" आदि प्रत्यय इसी का अभिधान करते हैं ।[4] इस प्रकार इन आचार्यों की दृष्टि केन्द्राभिमुखी थी विवेच्य सबका एक ही परमतत्त्व है केवल दृष्टि का भेद है । इन दोनों दर्शनों का समन्वय पतञ्जलि ने महाभाष्य में प्रतिपादित किया है इसका यथावसर विवेचन किया जायेगा ।

महर्षि पतञ्जलि परमतत्त्व शब्दब्रह्म की गम्भीर व्याख्या कर यह प्रतिपादित करते हैं कि वह परमतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है जो कुछ दिखायी पड़ रहा है वह सब उसी के कारण है ।

1- आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि ।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम् ।। वा०द्र०स०पृ०-106

2- द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या । महाभाष्य पस्पशाह्निक पृ०-43

3- सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ।। वा०जा०स० पृ०=4।

4- तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ।। वा०जा०स०,पृ०-4।

चत्वारि श्रृङ्गा त्र्यो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश ।। ऋ04/58,3

ऋग्वेद के इस मन्त्र की व्याख्या दार्शनिक आचार्यों ने अपने अपने दर्शन एवं शाखाओं के आधार पर प्रस्तुत की है । निरुक्तकार यास्कने मन्त्र में आए हुए "महादेव" को यज्ञपुरुष कहकर उसकी वैदिक व्याख्या प्रस्तुत की है[1]। वैयाकरण आचार्य इसी मन्त्र की शाब्दिक व्याख्या कर अपने सिद्धान्त को दृढता प्रदान करते हैं । व्याख्येय सबका वही एक परमतत्त्व है । महर्षि पतञ्जलि इस मन्त्र की व्याख्या में मानते हैं कि उस महान् देव शब्दब्रह्म के नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात रूप चार सींगें हैं, भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल रूप तीन पैर हैं, दो शिर हैं, अर्थ शब्दब्रह्म के नित्य तथा अनित्य दो स्वरूप हैं, प्रथमा, द्वितीया आदि सात विभाक्तियाँ सात हाथ हैं । वह शब्दब्रह्म हृदय, कण्ठ तथा सिर तीन स्थानों से बँधा हुआ है अर्थतत्त्व का वर्षण करने के कारण इसे वृषभ कहा जाता है । इससे ही ध्वनि की सत्ता है, यह महादेव शब्दतत्त्व ही है तथा सभी मनुष्यों में समाविष्ट है ।[2] भर्तृहरि ने भी इस महादेव की शब्दरूपता का स्पष्ट प्रतिपादन किया है । इनकीमान्यता है कि प्रयोक्ता के शरीर में अन्त: अवस्थित आत्मस्थानीय शब्दतत्त्व को कामों की वृष्टि करने के कारण परब्रह्मस्वरूप कहा गया है । मुमुक्षु लोग इस परब्रह्मरूप शब्दतत्त्व से तादात्म्य की इच्छा करते हैं, क्योंकि परब्रह्म से तादात्म्य स्थापित होना ही परम पुरुषार्थ है ।

1- चत्वारि श्रृङ्गेतिवेदा वा एत उक्ता: ।0---- महो देव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्यां आविवेशेत्येष हि मनुष्यानाविशति यजनाय । निरुक्त पृ0 873-874

2- चत्वारि श्रृङ्गाणि । चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्र्यो अस्य पादा: । त्रय: काला भूतभविष्यद्वर्तमाना: । द्वे शीर्षे । द्वौ शब्दात्मानौ नित्य: कार्यश्च सप्त हस्तासो अस्य । सप्त विभक्तय: । त्रिधा बद्ध: । त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति । वृषभो वर्षणात् । रोरवीति शब्दं करोति महो देवो मर्त्यां आविवेशेति । महान् देव: शब्द: मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्या-स्तानाविवेश । महाभाष्य पस्प0, पृ0-24

पतञ्जलि द्वारा की गयी शब्दब्रह्म की व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस व्याख्या में इन्होंने शब्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके नित्य तथा अनित्य दोनों रूपों की कल्पना की है । महर्षि पतञ्जलि के अभिप्राय को वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ वृत्ति में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है । शब्दतत्त्व के दो स्वरूप हैं नित्य तथा अनित्य । स्थान , करण आदि के द्वारा अविवृत्त नित्य है तथा स्थान करण आदि के द्वारा विवृत्त शब्द अनित्य है । अनित्य शब्द वैखरीरूप है, व्यावहारिक है, इससे सम्पूर्ण लोकव्यवहार प्रवृत्त होता है । यह परावाणीरूप पुरुष के प्रतिबिम्ब अर्थात् सादृश्य को गृहीत करता है तथा समस्त व्यवहार का निमित्त कारण है । नित्य शब्द तो समस्त साध्यसाधनव्यवहार तथा पदपदार्थभेदव्यवहार का उपादान कारण है । यह क्रमरहित, सभी प्राणियों के अन्त:करण में आत्मरूप से सन्निविष्ट विकृतियों का प्रभवस्थान, कर्मजन्य पुण्यपापरूपी वासनाओं का आश्रय तथा सुखदु:ख का अधिष्ठान है । यद्यपि यह सर्वेश्वर होने के कारण अबाधितशक्तिवाला है तथापि घटादिनिरुद्ध प्रदीपप्रकाश की तरह भोग के लिए शरीरधारण कर सुख दु:ख आदि का अनुभव करता है । यह समस्त विकारों की उपादान रूप प्रकृति है । जिस प्रकार स्वप्नावस्था में समस्त भावों का विलय तथा जाग्रदवस्था में उदय हो जाता है उसी प्रकार प्रलय में उसी परावाग्रूप पुरुष में सभी भावों का विलय हो जाता है तथा सृष्टि के आदि में उसी से समस्त भावों का जन्म होता है, अत: यह शब्दतत्त्व सर्वप्रबोध रूप से तथा गो गवय आदि सर्वप्रभेद रूप से स्वप्नप्रबोधानुकारी है । सृष्टि के आदि में इसी शब्दतत्त्व से जगत् की प्रवृत्ति होती है तथा प्रलय में इसी में जगत् की निवृत्ति होती है, अत: प्रवृत्ति एवं निवृत्ति से यह मेघ के समान प्रसवशक्तियुक्त एवं दावाग्नि के समान उच्छेदशक्तियुक्त है । इस प्रकार यह महान् शब्दवृषभ सर्वेश्वर तथा सर्वशक्तिसम्पन्न है । वाक्तत्त्व के ज्ञान से युक्त वैयाकरण अहङ्काराश्रित सम्पूर्ण संशयरूप तथा वासनारूप ग्रन्थियों को तोड़कर भेद का नितान्त परित्याग कर इस शब्दब्रह्म में संसृष्ट हो जाता है

अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करता है ।[1]

भर्तृहरि समस्त अर्थतत्त्व को शब्दतत्त्व का विवर्त मानते हैं । सम्पूर्ण विकारों की प्रलयावस्था में वर्ण, मात्रा, पद आदि आनुपूर्वीरहित अतएव संवर्तरूप तथा पदार्थों में परस्पर भेदावधारण न होने से अव्याकृत शब्दाख्य ब्रह्म से जगदादि सभी विकार उद्भूत होते हैं ।[2] भर्तृहरि की मान्यता को स्पष्ट करते हुए स्वोपज्ञवृत्ति में हरिवृषभ ने -

"ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम् ।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ।।"[3]

किसी अभियुक्त की इस युक्ति को उद्धृत किया है । इसका अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शब्दतत्त्व का ही परिणाम है, शब्दतत्त्व ही शब्द-शक्ति के रूप में सृष्टि को निबद्ध तथा सम्बद्ध किए हुए है । यह जगत् शब्दतत्त्व के तत्तदर्थानुकूल शक्ति से परिच्छिन्न अंशों से विवर्तरूप में उत्पन्न हुआ है तथा प्रलयावस्था में यह जगत् अपने उपादान कारण रूप शब्दमात्राओं में ही लीन हो जाता है । इसी अभिप्राय के प्रतिपादक एक दूसरे निम्नलिखित वचन को भी

1- इह द्वौ शब्दात्मानौ-नित्यः कार्यश्च । तत्र कार्यो व्यवहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही । नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः संहृतक्रमः सर्वेषामन्तःसन्निवेशी प्रभवो विकाराणामाश्रयः कर्मणामधिष्ठानं सुखदुखयोः, सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिर्घटादिनिरुद्ध इव प्रकाशः परिगृहीतभोगक्षेत्रावधिः, सर्वमूर्तीनामपरिणामा प्रकृतिः, सर्वप्रबोधरूपतया सर्वप्रभेदरूपतया च नित्यप्रवृत्तप्रत्यवभासस्वप्नप्रबोधानुकारी प्रवृत्तिनिवृत्तिपदाभ्यां । पर्जन्यवद् दवाग्निवच्च प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः सर्वेश्वरः सर्वशक्तिर्महान् शब्दवृषभः, तस्मिन् खलु वाग्योगविदो विच्छद्याहङ्कारग्रन्थीनत्यन्त-विनिभागेण संसृज्यन्ते । वा0 स्वोपज्ञवृत्ति 1/130

2- तत एव हि शब्दाख्यादुपसंहृतक्रमाद ब्रह्मणः सर्वविकारप्रत्यस्तमये संवर्तादनाकृतात् जगदाख्या विकाराः प्रक्रियन्ते । वा0 स्वोपज्ञवृत्ति 1/1

3- वही पृ0-10 में उद्धृत

प्रमाण के रूप में स्वोपज्ञवृत्ति में उद्धृत किया गया है -"नित्याश्चानित्याश्च मात्रायोनय:, यासु रूपि चारूपि च सूक्ष्मं च स्थूल चेदं भुवनं विषक्तम् ।"[1] इसका अर्थ है - नित्य और अनित्य समस्त अर्थतत्त्व शब्द की मात्राओं अर्थात् सूक्ष्मशक्तियों से उत्पन्न हुआ है । इनमें पृथ्वीजलतेजोरूप साकार, वाय्वाकाशरूप निराकार तथा सूक्ष्म स्थूल समस्त विश्व अभिन्नरूप से सम्बद्ध है ।

भर्तृहरि शब्दकी सर्वशक्तिमत्ता को स्वीकार करते हुए मानते हैं कि शब्दों में संसार को एक सूत्र में बाँधने की शक्ति विद्यमान है सभी वस्तुओं का ज्ञापक होने से शब्दतत्त्व नेत्रस्वरूप है, बुद्धि का विषय होता हुआ शब्द ही वाच्यवाचक रूप से भिन्न प्रतीत होता है ।[2] इन्होंने समस्त लोकव्यवहार को शब्द के ही आधीन माना है ।[3] संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्दानुगम के बिना भी सम्भव हो । सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से नित्य संसृष्ट रूप में प्रतीत होता है ।[4]भर्तृहरि ने यह भी माना है कि शब्दतत्त्व से ही सम्पूर्ण आन्वीक्षकी: त्रयी, वार्ता आदि विद्याएँ, सभी शिल्पशास्त्र तथा गीत, वाद्य, नृत्य आदि सभी कलाएँ सम्बद्ध हैं । ज्ञान की वाक्रूपता के कारण ही शब्दशक्ति द्वारा अभिव्यक्त समस्त वस्तुओं का विवेचन और विभाजन किया जाता है ।[5]

1- वही पृष्ठ 27 में उद्धृत

2- शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी यन्नेत्र: प्रतिभात्मायं भेदरूप: प्रतीयते । वा० 1/118

3- इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया । वा० 1/120

4- न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।। 1/123

5- सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपनिबन्धनी ।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ।। वा० 1/125

साहित्यशास्त्रियों को अभिमत शब्द का व्यापक स्वरूप :

वैयाकरणों की ही तरह साहित्यशास्त्रियों ने भी शब्दतत्त्व के इस पारमार्थिक स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत की है । नाट्यतत्त्व के मर्मज्ञ आचार्य भरत शब्दतत्त्व के इस स्वरूप से पूर्णत: परिचित थे । उनकी धारणा है कि वाणी ही सबका कारण है वाणी से परे कुछ भी नहीं है । वाचिक अभिनय की व्याख्या में नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं - यहाँ विद्यमान सभी शास्त्र वाणी से ओतप्रोत है, वाङ्मय है तथा वाणी पर ही आश्रित हैं । इसलिए वाणी से परे कुछ भी नहीं है वाक्तत्त्व ही सबका कारण है ।[1] आचार्य भरत का शब्द की व्यापकता का प्रतिपादक यह विचार वैयाकरणों की शब्दविषयक व्याख्या से पूर्णत: सङ्गत है । अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र के इस अंश के अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हुए प्रतिपादित किया है कि भरत की मान्यता का आधार "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे" यह श्रुति है, इसका अर्थ है - वाक्तत्त्व से ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है तथा च भर्तृहरि आदि वैयाकरण आचार्यों ने प्रमाणोपन्यासपुर:सर जगत् के शब्द-विवर्तादिरूपत्व का जो व्याख्यान किया है उसका यहाँ भी अनुसरण कर लेना चाहिए ।[2]

भर्तृहरि से प्राचीन वैयाकरण आचार्यों ने भी शब्दतत्त्व की व्यापकता विश्वरूपता आदि का जो बहुश: विवेचन किया है वही विवेचन यद्यपि भर्तृहरि के लिए आधार तथा प्रमाण है किन्तु अधिकांशत: भर्तृहरि का ही साहित्य-शास्त्रियों ने प्रमाण के रूप में तथा उद्धरणादि प्रस्तुत कर उल्लेख किया है । इसका

1- वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च ।
तस्माद्वाच: परं नास्ति वाग्घि सर्वस्य कारणम् ।। ना०शा० 14,3

2- वागेव विश्वा भुवनानीति श्रुते शब्दविवर्तादिरूपत्वं च प्रसाधितं तत्र भवद्भिर्भर्तृहरिप्रभृतिभिरिति तदिहानुसरणीयम् ।। ना०शा० 14,3 की अभि०भा०

कारण सम्भवतः भर्तृहरि का व्यवस्थित तथा स्पष्ट विवेचन है । भर्तृहरि के विचारों से प्रभावित अभिनव गुप्त ने भरत द्वारा प्रतिपादित वाक्तत्त्व की व्यापकता को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि भगवती भारती चतुर्वर्ग अर्थात् चारों पुरुषार्थों में चतुर्थ मोक्षरूप पुरुषार्थ के लिए उपाय है । यह परमपुरुषार्थ मोक्षस्वरूप है तथा विश्व का कारण है वाणी ही सम्पूर्ण तत्त्वों की अवभासिका तथा समस्त व्यवहार की निर्वाहिका है । अवभासना अर्थात् तत्त्वों का प्रत्यायन ही परमार्थतः निर्वाण है ।[1] अभिनव गुप्त के इस विवेचन में भर्तृहरि का स्पष्ट प्रभाव है । भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व की विश्वकारणता सर्वव्यवहारनिर्वाहकता आदि का जो विस्तृत व्याख्यान किया है उसी को अभिनव गुप्त ने आधार बनाया है ।

भर्तृहरि शब्दतत्त्व को प्रकाशों का भी प्रकाशक मानते हैं तथा प्रतिपादित करते हैं कि यदि ज्ञान में नित्यसन्निहित शब्दशक्ति न रहे तो किसी भी वस्तु का बोध सम्भव नहीं है, उस अवस्था में ज्ञान की स्थिति चैतन्यरहित आत्मा या, निस्तेज अग्नि के समान होगी ।[2] शब्द की प्रकाशस्वरूपता से सम्बद्ध भर्तृहरि के इन विचारों का स्पष्ट प्रभाव दण्डी पर परिलक्षित होता है । काव्यादर्श में शब्द से ही लोकव्यवहार की सिद्धि को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि यदि शब्दस्वरूप ज्योति सारे संसार में प्रदीप्त न हो तो

1- चतुर्वर्गोपायभूता परमपुरुषार्थस्वभावा विश्वकारणभूता भगवती भारतीत्याह- वाङ्मयानीति ।-------- एवं वागेवावभासिका सैव निर्वाहिकी, अवभासनैव हि परमार्थतो निर्वाणम् । वही ।4.3 की अभिनव भारती

2- वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।। वा0 1/124

यह त्रिभुवन अन्धकारमय हो जाय, शब्द के प्रकाश से ही सम्पूर्ण लोक आलोकित होता है ।[1] भर्तृहरि के सदृश ही दण्डी भी समस्त लोकव्यवहार को शब्द के ही आधीन मानते हैं । शिष्टों द्वारा अनुशासित अथवा अननुशासित वाणी की सहायता से ही लोकव्यवहार प्रवृत्त होता है । इन्होंने साधु तथा असाधु समस्त शब्दों को वाचक माना है ।[2]

वैयाकरणों तथा साहित्यशास्त्रियों द्वारा शब्द के व्यावहारिक स्वरूप का प्रतिपादन :

वैयाकरण तथा साहित्यशास्त्री शब्दतत्त्व के परब्रह्मात्मक सूक्ष्म स्वरूप की व्याख्या के साथ-साथ शब्द के व्यावहारिक स्वरूप का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण करते हैं । लोक व्यवहार में शब्दों का प्रयोग अर्थावबोध के लिए किया जाता है । महर्षि पतञ्जलि ने इसका स्पष्ट विश्लेषण किया है । शब्द को अर्थ का निमित्त माना जाय, या अर्थ को शब्द निमित्त माना जाय? इस प्रश्न को उपस्थापित कर इन्होंने अर्थ को ही शब्द का निमित्त माना है, क्योंकि अर्थ के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है ।[3] इसी अभिप्राय को आख्यातोपयोगे (पा०सू०1.4.29) में भी पतञ्जलि अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं कि ज्ञान ही शब्दरूपता को प्राप्त होता है ।[4] भर्तृहरि इस बात को दूसरे रूप में प्रस्तुत करते हैं । इनके अनुसार सूक्ष्मवाणी के रूप में स्थित आन्तर ज्ञाता अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए शब्दरूप में परिणत होता है ।[5] यहाँ पर इन्होंने ज्ञान की शब्दरूपापत्ति को स्पष्ट

1- इदमन्धन्तमः जायेत कृत्स्नं भुवनत्रयम् ।
   यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।। काव्यादर्श 1/4
2- इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा ।
   वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।। काव्यादर्श 1/3
3- युक्तं पुनर्यच्छब्दनिमित्तको नामार्थः स्यात्, नार्थनिमित्तकेन नाम शब्देन भवितव्यम्, अर्थनिमित्तक एव शब्दः । म०भा०पस्पशा०
4- ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति । म०भा० 1/4/29
5- अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थितः ।
   व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ।। वा० 1/112

किया है ।

संसार में "यह गाय है" "यह शुक्ल है" इस रूप में शब्द तथा अर्थ का अभेदेन व्यवहार होता है । समस्या यह है कि गाय इस विज्ञान में प्रतिभासमान वस्तुओं में "शब्द" शब्द का अभिधेय किसको माना जाय ? शब्दानुशासन की व्याख्या में महर्षि पतञ्जलि ने इस समस्या का उद्घाटन कर एक एक का निराकरण करते हुए समाधान प्रस्तुत किया है । इन्होंने माना है कि शब्द द्रव्य, गुण, क्रिया एवं जाति से भिन्न एक पृथक् सत्ता है । शब्द वह है जिसके उच्चारित अर्थात् प्रकाशित होने से सास्नालाङ्गूलादि से युक्त वस्तुओं का सम्प्रत्यय हो जाय ।[1] शब्द की इस परिभाषा के समनन्तर ही पतञ्जलि ने शब्दस्वरूप का प्रतिपादक एक दूसरा वक्तव्य भी प्रस्तुत किया है कि लोक में प्रचलित अर्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि को भी शब्द कहते हैं । शब्द करो, शब्द मत करो, यह बालक शब्द करने वाला है इत्यादि व्यवहार ध्वनि करने वाले व्यक्ति के लिए किया जाता है अतः ध्वनि शब्द है ।[2] भाष्यकार के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए नागेश ने भी लिखा है कि लोक व्यवहार करने वालों के बीच में पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्ध, श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होने से वर्णरूप ध्वनि समूह ही शब्द है ।[3]

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रस्तुत शब्द की द्वितीय परिभाषा में आया हुआ "प्रतीतपदार्थक" शब्द महत्त्वपूर्ण है । इसके द्वारा इन्होंने अपना यह

1- येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति सशब्दः । म0भा0 प0आ0 पृष्ठ ।।

2- अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते । तद्यथाशब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः शब्दकार्ययं माणवकः इतिध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते तस्माद् ध्वनिः शब्दः । म0भा0प0आ0पृ0 ।2

3- लोकेव्यवहर्तृषु पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्धः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वाद् वर्णरूपध्वनिसमूह एव शब्दः । म0भा0प0आ0पृ0 ।2 पर उद्योत टीका ।

अभिप्राय व्यक्त किया है कि आत्, ऐच्, टि, घु, भ आदि प्रतीतपदार्थक नहीं है जबकि पशु अपत्य देवता आदि प्रतीतपदार्थक शब्द हैं, अत: "प्रतीत-पदार्थक" शब्द का अभिप्राय ऐसे शब्दों से है जो स्पष्ट अर्थ वाले हैं। भर्तृहरि ने इस संदर्भ में महाभाष्य की त्रिपादी टीका में तीन दर्शनों का उल्लेख किया है -

1- कुछ लोगों की मान्यता है कि ध्वनिसमूह के पीछे छिपी हुई बुद्धि में विद्यमान विशिष्ट शक्ति ही शब्द है जिससे अर्थ की प्रतीति होती है ।

2- अन्य मानते हैं कि शब्द जाति है, शब्द जाति ही स्फोट है । वृक्ष शब्द से वृक्षत्व जाति की प्रतिपत्ति होती है ।

3- तृतीय मत है कि शब्द में दो प्रकार की शक्तियां है, आत्मप्रकाशन की तथा अर्थप्रकाशन की । शब्द आत्मप्रकाशन तथा अर्थप्रकाशन में उसी तरह समर्थ है जैसे प्रदीप अपने आपको प्रकाशित करता है तथा बाह्यवस्तु को भी ।[1]

इन तीनों रूपों में शब्द उसी को माना गया है जिससे अर्थ की पतिपत्ति हो जाय । भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में स्वतन्त्र रूप से इसी बात का समर्थन किया है कि शब्द बुद्धिस्थ भाव का अभिव्यञ्जक है । इन्होंने शब्द को प्राण में अधिष्ठित तथा बुद्धि में अधिष्ठित माना है । प्राण तथा बुद्धि दोनों से अभिव्यक्त शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है । शब्दबुद्धि में स्थित भाव को अभिव्यक्त करता है यह भाव ही अर्थ है ।[2] इस प्रकार वैयाकरण स्थान करणादि से अभिव्यक्त अर्थप्रत्यायक ध्वनियों को शब्द की संज्ञा देते हैं।

1- महाभाष्य त्रिपादी टीका पृष्ठ 4

2- तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता ।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते ।। पृ0 ।।7

साहित्यशास्त्रियों का प्रमुख प्रतिपाद्य काव्य के स्वरूप का विवेचन है। काव्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इन्होंने शब्द एवं अर्थ का भी पर्याप्त विश्लेषण किया है, क्योंकि शब्द एवं अर्थ का साहित्य ही तो काव्य है। यह दूसरी बात है कि इन्हें काव्य के प्रसङ्ग में उत्कृष्ट शब्द एवं अर्थ की आवश्यकता पड़ती है।

काव्यशास्त्रियों के शब्दस्वरूप कल्पना में यह अवश्य स्पष्ट है कि शब्द को काव्य का आत्मस्थानीय न मानकर शरीरस्थानीय ही माना गया है। इनकी दृष्टि में काव्य का आत्मतत्त्व तो रसादिरूप अर्थ ही है। रसादिरूप अर्थ के काव्यात्मत्व के विषय में किसी को कोई आपत्ति नहीं है।

शब्दार्थसम्बन्ध की अवधारणा :

आचार्यभरत ने शब्द को स्पष्ट शब्दों में नाट्य का शरीर कहा है। वाणी के महत्त्व को अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि वाणी के ज्ञान में प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि यह नाट्य का शरीर है। वाणी के रहने पर ही अङ्ग, नेपथ्य, सत्त्व अपने अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। यह वाणी ही व्यवहारोपयोगिनी है।[1] इसी परम्परा में दण्डी ने स्पष्ट किया है कि प्राचीन आचार्यों के द्वारा काव्यों के शरीरभूत शब्दतत्त्व तथा उनके अलङ्कारक गुणालङ्कार आदि का निरूपण किया गया है। इस रूप में अभिलषित अर्थ से समन्वित पदावली अर्थात् सार्थक पदों का समूह काव्य का

1- वाचि यत्नस्तु कर्तव्यः नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता ।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ।।

ना०शा० 14/3

शरीर है ।[1] अग्निपुराण[2] में दण्डी द्वारा प्रस्तुत काव्य की परिभाषा उसी रूप में उद्धृत कर दी गयी है अतः पुनः उसका विश्लेषण अनुपयुक्त है । अर्वाचीन काव्यशास्त्री आचार्य जगन्नाथ ने भी रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को ही काव्य माना है ।[3] यद्यपि दण्डी के विवक्षित अर्थ की अपेक्षा जगन्नाथ का रमणीय अर्थ अलौकिक आनन्द का कारण तथा रससापेक्ष है । फिर भी शब्द काव्य का शरीरस्थानीय ही है । अन्य भामह[4], रुद्रट[5], मम्मट[6] आदि आचार्य शब्दार्थयुगल को काव्य कहकर दोनों का समप्राधान्य स्वीकार करते हैं ।

आचार्य आनन्दवर्धन के एतद्विषयक विचार कुछ भिन्न हैं । इन्होंने प्रथमतः शब्दार्थ दोनों को काव्य का शरीर कहा है[7] तथा लोचनकार अभिनवगुप्त ने इसमें सबकी सहमति दिखायी तथा कहा है कि इस सम्बन्ध में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं है । किन्तु शब्द एवं अर्थ दोनों काव्य के शरीरस्थानीय है यह मत इनका अपना नहीं है । इन्होंने इससे पूर्वाचार्यों की ओर सङ्केत किया है जिन्होंने केवल स्थूलशरीर का ही विवेचन प्रस्तुत किया काव्य के आत्मतत्त्व

1- तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः ।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।। 1/10

2- संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली {काव्यम्} । अग्निपुराण 337/6

3- रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । रसगङ्गाधर पृ0 10

4- शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् । भामह, काव्यालङ्कार पृ0 2

5- ननु शब्दार्थौ काव्यम् । रुद्रट, काव्यालङ्कार पृ0 17

6- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि । काव्यप्रकाश पृ0 13

7- शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम् ।
ध्व0लो0 पृ0 17

के विषय में या तो सोचा ही नहीं सोचा भी होगा तो उसकी व्याख्या नहीं कर सके । इनका अपना विचार तो यह है कि जिस तरह आत्मा शरीर में साररूप में विद्यमान रहता है उसी तरह ललितोचित सन्निवेश से सुन्दर काव्य में साररूप में सहृदयों द्वारा प्रशंसनीय अर्थ विद्यमान रहता है ।[1] यहां आनन्दवर्धन के इस विवेचन से स्पष्ट है कि इन्होंने अर्थ को आत्मस्थानीय स्वीकार किया है तथा शब्द को शरीरस्थानीय । आत्मस्थानीय इस अर्थ के वाच्य एवं प्रतीयमानरूप जो भेद इन्होंने माना है उसका आगे विवेचन किया जायेगा । इसी प्रकार वक्रोक्तिसिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य कुन्तक काव्य के लक्षण में मानते हैं कि काव्य के तत्त्वज्ञों को आनन्द प्रदान करने वाली कवि व्यापारयुक्त रचना में व्यवस्थित शब्द एवं अर्थ सहित रूप में अर्थात् मिलकर ही काव्य कहलाते हैं ।[2] इस लक्षण में इन्होंने भी शब्द एवं अर्थ के समप्राधान्य को स्वीकार किया है किन्तु इस लक्षण में वक्रव्यापार शब्द का उपादान कर अर्थ को ही अधिक महत्त्व दिया है । क्योंकि वक्रव्यापार अर्थात् कवि की सुन्दर उक्ति अर्थाश्रित ही है । साहित्यशास्त्रियों के इस विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द एवं अर्थ हमेशा एक साथ रहते हैं शब्द के उच्चारण करने पर अर्थ की प्रतीति अवश्य होती है। महाराज भोज ने श्रृङ्गार प्रकाश में शब्द का स्वरूप स्पष्ट करने में भाष्यकार पतञ्जलि का अनुसरण करते हुए लिखा है कि जिसके उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है वह शब्द है ।[3] रुद्रट ने भी शब्द को अर्थवान् माना है ।[4]

1- योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।। ध्वन्यालोक 1/2

2- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि । व0जी0 1/7

3- येनोच्चारितेनार्थः प्रतीयते । श्रृ0 प्र0 प्रथमभाग पृ0 2

4- शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः । रुद्रट, काव्यालङ्कार पृ0 17·

इससे स्पष्ट है कि वैयाकरणों के समान इन्होंने भी जिसके उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है वह शब्द है । इसी विवेचन से एक तथ्य और स्पष्ट हो जाता है वह है शब्द एवं अर्थ का नित्य सम्बन्ध । वैयाकरणों का परिनिष्ठित मत है कि शब्द, अर्थ एवं इनका परस्पर सम्बन्ध नित्य है । "सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे" वार्तिक की व्याख्या में भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य है ।[1] भर्तृहरि ने भी इनके सम्बन्ध को स्वभावसिद्ध तथा अनादि माना है ।[2] शब्द से अर्थ की जो व्यवस्थित प्रतीति होती है उसका कारण सम्बन्ध ही है । यदि शब्द एवं अर्थ में सम्बन्ध न हो तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ की प्रतीति होने लगेगी ।[3]

आचार्य भरत वाणी को समस्त वस्तुतत्त्व का कारण मानते हैं । जिससे सिद्ध होता है कि शब्द से अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध इन्हें भी अभिप्रेत है । इन्होंने स्पष्ट रूप में स्वीकार भी किया है कि समस्त शब्द विधान विस्तारव्यञ्जनार्थ से संयुक्त है ।[4] इस रूप में इन्होंने संक्षेप में सम्बन्धविषयक वैयाकरणों की धारणा का समर्थन किया है ।

आचार्य भरत के अनन्तर शब्दार्थ सम्बन्धविषयक साहित्यशास्त्रियों के विचार मुखरित हो उठे हैं । यद्यपि भामह ने शब्दस्वरूपनिर्णय के प्रसङ्ग में "स्फोट का निराकरण" करते हुए "शब्द का सत् अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य

1- नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः । म०भा०प०आ० पृ० 42

2- अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा । वा०प० 3, स०स० 29

3- शब्देनार्थस्याभिधाने सम्बन्धो हेतुः । अन्यथा सर्वं सर्वेण प्रत्याय्येत ।
हेलाराज, वा०प० 3 सं०स० पृ० 122

4- एभिः शब्दविधानैर्विस्तारव्यञ्जनार्थसंयुक्तैः । ना०शा० 14/38

हो या अनित्य मुझे कोई आपत्ति नहीं है"[1] कहकर अपनी तटस्थता जाहिर की है तथापि काव्यलक्षण में सहितौ विशेषण का उपादान कर देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दार्थ का नित्य सम्मिलित रूप इन्हें भी अभिप्रेत है। वक्रोक्तिजीवित में कुन्तक ने तो स्पष्ट विवेचन किया है कि शब्द एवं अर्थ दोनों में काव्यता है। दोनों एक हैं यह विचित्र उक्ति है, अत: जो मानते हैं कि केवल शब्द काव्य है या केवल अर्थ वह उचित नहीं है। शब्द एवं अर्थ दोनों में उसी प्रकार से तद्वेत्ता लोगों के लिए आह्लादकारित्व विद्यमान है जैसे प्रत्येक तिल में तैल विद्यमान रहता है।[2] भोज भी शब्दार्थ के सम्बन्ध को साहित्य कहकर शब्द एवं अर्थ के साहित्य को काव्य मानते हैं। इनके अनुसार अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग, व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थीभाव, दोषाहान, गुणोपादान, अलङ्कारयोग तथा रसावियोग ये बारह प्रकार के सम्बन्ध होते हैं।[3] वैयाकरणों के समान भोज को भी शब्दार्थ सम्बन्ध का अनादित्व स्वीकृत था। सरस्वतीकण्ठाभरण में इनके अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है कि सम्बन्ध अनादि है तथा इसका बहुश: अन्यत्र विवेचन किया गया है अत: यहाँ विस्तार से वर्णन नहीं किया गया।[4] काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति में वामन के मन्तव्य की व्याख्या में गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपाल ने लिखा है कि शब्द एवं अर्थ दोनों मिले हुए ही काव्य हैं यह कहकर आचार्य ने उन

1- विनश्वरोऽस्तु नित्यो वा सम्बन्धोऽर्थेन वा सता।
नमोऽस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्य: प्रमाणं येऽस्य निश्चितौ ।। भामह०काव्यालङ्कार 6/15

2- वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्। द्वावेकमिति विचित्रैवोक्ति:। तेन यत्केषाञ्चिन्मतं -- शब्द एव केवलं काव्यं केषाञ्चिद् वाच्यमेव --- काव्यमिति पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्। व०जी०पृ० 18

3- शृङ्गारप्रकाश, पृ० 2-3

4- सम्बन्धश्च कश्चितदनादि:। सर्वस्वायमानस्तु सम्बन्धो नान्यत्रेत्यस्मिन्नायतते। सरस्वती०रत्नदर्पण टीका पृ० 3.

दोनों पक्षों का खण्डन किया है जिनके अनुसार केवल शब्द या केवल अर्थ काव्य माना गया है ।[1] आचार्य मम्मट शब्दार्थयुगल को तो काव्य मानते ही हैं साथ ही यह भी प्रतिपादित करते हैं कि जहाँ शब्द होगा वहाँ अर्थ अवश्य होगा तथा जहाँ अर्थ रहेगा वहाँ शब्द की सत्ता अवश्य रहेगी । जब अर्थ प्रधानरूप से व्यञ्जक होता है तो शब्द भी सहकारी रूप से व्यञ्जक माना गया है तथा जब शब्द प्रधान्येन व्यञ्जक होता है तो अर्थ सहकारी रूप से व्यञ्जक होता है ।[2] इस प्रकार इन्हें भी शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध अभिप्रेत है । यह धारणा इनके द्वारा प्रतिपादित वाचक शब्द के लक्षण से भी परिपुष्ट हो जाती है । इनके अनुसार सङ्केत की सहायता से ही शब्द विशिष्ट अर्थ का बोध कराता है अतः जिस शब्द में सङ्केतग्रह नहीं भी हुआ है वह शब्द सामान्य अर्थ का नित्य रूप से प्रतिपादक तो है ही ।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि शब्द एवं अर्थ का नित्य सम्बन्ध इन्हें मान्य है। इस प्रकार साहित्यशास्त्रियों की शब्दार्थसम्बन्ध विषयक धारणा वैयाकरणों के एतद्विषयक विचार से साम्य तो रखती ही है साथ ही प्रभावित भी है । वैयाकरणों के ही प्रभाव से भोज आदि ने सम्बन्ध को नित्य माना तथा जिसके उच्चारण से अर्थ का बोध हो जाय उसे शब्द कहा ।

1- अत्र शब्दार्थौ द्वौ सहितावेव काव्यमिति काव्यपदार्थकथनात् कमनीयताशालिशब्द एव काव्यमथवा अर्थ एवेति पृथक् पक्षद्वयं प्रत्यक्षेपि ।
काव्यालङ्कारसूत्र कामo टीका पृo 6

2- अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता । काव्यप्रकाश पृo 8।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः । वही पृo 70

3- अगृहीतसङ्केतस्यापि अर्थसामान्यप्रतिपादकत्वमस्तीति तन्निवृत्तये विशेषग्रहणम् ।
काoप्रoबाoटीo पृo 3।

विभाग की दृष्टि से शब्द के स्वरूप का विवेचन -

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण: ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति । ऋ० 1/164/10

इस वैदिक मन्त्र के आधार पर वैयाकरणों ने नाम, आख्यात उपसर्ग एवं निपात इन चार भागों में शब्दों को विभाजित किया है । इस मन्त्र की व्याख्या में आचार्य यास्क ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उपर्युक्त चार शब्दभेद वैयाकरणों द्वारा माने गये हैं ।[1] महर्षि पतञ्जलि शब्द के चार रूप स्वीकार कर उनको मनीषी ब्राह्मणों द्वारा ही ज्ञेय मानते हैं । कैयट तथा नागेश ने नामाख्यातादि के परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी रूप में विभाग की कल्पना कर साधारण मनुष्य को नामादि के केवल वैखरी रूप चतुर्थांश का ही व्यवहार करने वाला माना है ।[3]

कुछ आचार्यों को केवल नाम तथा आख्यात दो ही रूप स्वीकृत थे भर्तृहरि ने लिखा है कि वार्ताक्ष तथा औदुम्बरायण आचार्यों का मन्तव्य था कि बुद्धि में नित्यस्थित अखण्ड वाक्य का प्रतिभारूपी अर्थ से संयोग होता है, अत: नाम अर्थात् अखण्डवाक्यरूपी अर्थ मात्र दो पद के विभाग है ।[4] पाणिनि

1- नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणा: । निरुक्त 13/9

2- चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण: । महाभाष्य प०आ० पृ० 26

3- महाभाष्य, प्र०, उ० पृ० 26

4- वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च लौकिकम् ।
दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ ।।

वा०प० 2/243

यद्यपि "सुप्तिङ्न्तं पदम्" §पा0सू0 1/4/14§ लिखकर नाम एवं आख्यात को ही पद मानते हुए प्रतीत होते हैं किन्तु इन्होंने उपसर्ग[1] एवं निपात[2] का भी स्पष्ट विवेचन किया है, जिससे सिद्ध होता है कि समस्त उपर्युक्त पदभेदों को इन्होंने स्वीकृति प्रदान की है । नाम एवं आख्यात से उपसर्ग एवं निपात को पृथक मानने का मुख्य कारण है इनकी मात्र विशेषार्थद्योतकता। अर्थात् ये विशेष अर्थ के द्योतक होते हैं इसका विवेचन आगे किया जायेगा ।

नाम :

साहित्यशास्त्रियों ने भी शब्द के नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात तथा कर्मप्रवचनीय भेदों की विस्तृत व्याख्या की है । नाट्याचार्य भरत की व्याख्या इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । भरत नाम को अर्थप्रधान तथा आख्यात को क्रिया से निष्पन्न मानते हैं ।[3] नाम को अर्थप्रधान कहने में पाणिनि का प्रभाव परिलक्षित होता है । पाणिनि अर्थवान् शब्दसमूह की प्रातिपदिक संज्ञा करते हैं, जिनसे सुबादि प्रत्यय लगकर नामशब्द बनते हैं। इन्होंनेअव्युत्पन्न शब्दों को भी मान्यता देकर अर्थवत्ता की स्थिति में प्रातिपदिक संज्ञा का विधान किया है । भोज भी नाम को अर्थप्रधान मानते हैं । इनके अनुसार नाम वे हैं जिनमें शब्द व्युत्पत्ति की कोई अपेक्षा नहीं होती तथा जो सत्त्वभूत अर्थ के अभिधायक हैं ।[4]

1- उपसर्गाः क्रियायोगे §पा0सू0 1/4/59§

2- चादयोऽसत्त्वे §पा0सू0 1/4/57§

3- अर्थप्रधानं नाम स्यादाख्यातं तु क्रियाकृतम् । ना0शा0 14/13
टिप्पणी में उद्धृतपाठभेद ।

4- तत्रानपेक्षितव्युत्पत्तीनि सत्त्वभूतार्थाभिधायीनि च नामानि ।
शृ0प्र0 पृ0 6

आख्यात :

यास्क की मान्यता है कि क्रिया का जब प्राधान्य होता है तब उस पद को आख्यात तथा जब द्रव्य अंश प्रधान होता है तब नाम कहते हैं। दोनों की दोनों में स्थिति रहती है अर्थात् क्रिया में द्रव्य रहता है तथा द्रव्य में क्रिया ।[1] पतञ्जलि ने भी लिखा है कि भाववाचक शब्द द्रव्याभिधायी इसलिए हो जाते हैं कि उनके भाव अंश का बोध कृत् प्रत्यय करा देते हैं ।[2] भर्तृहरि की मान्यता भी इनसे भिन्न नहीं है इनके अनुसार आख्यात में क्रिया की प्रधानता रहती है तथा नाम में सत्त्व की ।[3]

आख्यात को क्रियानिष्पन्न मानकर भरत ने जो इसका लक्षण प्रस्तुत किया है वह भी वैयाकरणों से प्रभावित प्रतीत होता है । भरत ने करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण आदि संज्ञाओं वाले कारकों एवं भूतकाल आदि वृत्ति धातुओं के संयोग में वाच्यत्वेन जिसकी साध्यक्रिया प्रसिद्ध होती है उसको आख्यात कहा है । अनेक प्रकार के अर्थविशेष के आश्रयभूत इस आख्यात को पाठ्य समझना चाहिए । यह वचन एवं कारकों से युक्त है तथा प्रथम मध्यम एवं उत्तमपुरुषों से विभक्त है ।[4]

पाणिनि तिङन्त को आख्यात मानते हैं तथा धातु से विहित तिङ्प्रत्ययों को वचनों एवं पुरुषों में विभाजित करते हैं, काल की भी दृष्टि से इनके स्वरूप में पर्याप्त भेद हो जाता है । इन्होंने यद्यपि आख्यात को शब्दत: परिभाषित नहीं किया है तथापि तिङन्त मानकर आख्यात की क्रियानिष्पन्नता स्वीकार की है । पतञ्जलि भी आख्यात की क्रियाप्रधानता

1- निरुक्त 1/1/

2- कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते । महाभा० 2/2/19

3- क्रियाप्रधानमाख्यातं नाम्नां सत्त्वप्रधानता । वा० 2/34।

4- तत्राहु: सप्तविधं षट्कारकसंयुतं प्रथितसाध्यम् ।
वचनं नामसमेतं पुरुषविभक्तं तदाख्यातम् ।। ना०शा० पृ० 231-232

स्वीकार करते हैं ।[1] तिङर्थ क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में इन्होंने क्रिया कहा है ।[2] क्रिया कहने से इनका अभिप्राय क्रिया की प्रधानता में ही है । कालादि की आख्यातार्थता में इन्हें कोई आपत्ति नहीं है । अतः आख्यात का क्रियावाचकत्व तथा क्रिया, काल, पुरुष, उपग्रह, साधन एवं संख्या का आख्यातार्थत्व निर्विवाद है । पचति आदि आख्यात से पाकादि क्रिया, वर्तमानादिकाल, प्रथमादि पुरुष, कर्तृगामित्वादिलक्षण से उपग्रह, कर्ता आदि साधन तथा एकत्वादि संख्या अर्थों की प्रतीति अवश्य होती है ।[3] इस प्रकार आचार्य भरत की आख्यातविषयक धारणा का आधार पाणिनि आदि वैयाकरणों का विवेचन ही है । इतना ही नहीं भोज ने शृङ्गार प्रकाश में पतञ्जलि का अनुसरण करते हुए लिखा है कि तिङन्त अर्थात् आख्यात से क्रिया, काल, उपग्रह, कारक, पुरुष तथा संख्या इन छह अर्थों का बोध होता है ।[4] अभिनवगुप्त भी अलक्ष्यक्रमध्वनि की कालव्यञ्जकता निरूपित करते समय तिङन्त पद का अर्थ कारक, काल, संख्या उपग्रह एवं पुरुष मानकर वैयाकरणों का समर्थन करते हैं कालादिकृत भागव्यञ्जकता का आगे विवेचन किया जायेगा ।[5]

उपसर्ग :

प्र, परा, अप, आदि क्रिया के योग में "उपसर्गः क्रियायोगे" (पा०सू० 1/4/59) सूत्र के द्वारा उपसर्ग संज्ञक होते हैं । ये उपसर्ग साक्षात्

1- क्रियाप्रधानमाख्यातं भवति । महाभाष्य 5/3/66

2- कः पुनस्तिङर्थः ? क्रिया । महाभा० 2/2/18

3- कालसाधनसंख्यापुरुषक्रियोपग्रहरूपस्तिङर्थः । महा०प्र० 2/2/18

4- शृङ्गारप्रकाश पृ० 90-91

5- तिङन्तपदानुप्रविष्टस्यापि अर्थकलापस्य कारककालसंख्योपग्रहरूपस्य --- । मध्येऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सूक्ष्मदृशा भागगतमपि व्यञ्जकत्वं विचार्यमिति । ध्वन्यालोचन 3/16

वाचक नहीं होते, मात्र क्रियागत विशेषता को प्रकट करते हैं । इनका जो अर्थ समझा जाता है वह धातु में ही अन्तर्निहित रहता है, उपसर्ग से वह अर्थ मात्र अभिव्यक्त हो जाता है । इस अभिप्राय को महर्षि पतञ्जलि ने "गतिर्गतौ" §पा0सू0 8/1/70§ में स्पष्ट किया है । भर्तृहरि ने भी स्वीकार किया है कि पचति में प्रपचति का अर्थ विद्यमान है, धातु में विद्यमान अनभिव्यक्त अर्थ प्र, परा आदि से अभिव्यक्त हो जाता है ।[1] अत: उपसर्ग द्योतक है वाचक नहीं । उपसर्गों की वाचकता का निराकरण करते हुए इन्होंने माना है कि यद्यपि प्रसिद्धि के कारण स्था धातु गतिनिवृत्तिबोधक है, तिष्ठति का अर्थ गतिनिवृत्ति है, गति नहीं, जबकि प्र उपसर्ग लग जाने पर प्रतिष्ठते का गति अर्थ हो जाता है अत: प्र उपसर्गगति अर्थ का वाचक हुआ ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं । धातुओं की अनेकार्थता अनुमान-सिद्ध है, इस स्थिति में प्रतिष्ठते में गति अर्थ धातुलभ्य है प्र उपसर्गउसका द्योतक मात्र है वाचक नहीं ।[2] "अधिपरी अनर्थकौ" §पा0सू0 1/4/93§ सूत्र में पाणिनि द्वारा अधि एवं परि को अनर्थक कहने का महाभाष्यकार ने यही अभिप्राय समझाया है कि धातुवाच्य अर्थ को इनसे स्पष्ट मात्र किया जाता है इनके प्रयोग से अर्थ में कोई विशेषता नहीं आती । "उक्तार्थानामप्रयोग:" इस न्याय से इनके प्रयोगाभाव की आशङ्का नहीं करनी चाहिए । इनका प्रयोग उसी प्रकार

1- क्वचित् सम्भविनो भेदा: केवलैरनिदर्शिता: ।
उपसर्गेण सम्बन्धे व्यज्यन्ते प्रपरादिना ।।

वा0प0 2/187

2- स्थादिभि: केवलैर्यत्र गमनादि तु गम्यते ।
तत्रानुमानाद् द्विविधात्तद्धर्मा प्रादिरुच्यते ।।

वा0प0 2/189

स्पष्टीकरण के लिए है जैसे द्वौ ब्राह्मणौ आनय में द्वौ का ।[1]

आचार्य भरत ने उपसर्ग का लक्षण प्रस्तुत किया है कि उपसर्ग क्रियागत विशेषता को द्योतित करते हैं।[2] महिमभट्ट भी उपसर्गों को क्रिया के स्वरूप में विशेषता उत्पन्न करने वाला मानते हैं ।[3] इनका यह लक्षण पतञ्जलि आदि वैयाकरणों के विचार से साम्य रखता है । निष्कर्षत: वैयाकरणों तथा साहित्यशास्त्रियों का यही मत है कि उपसर्ग मात्र क्रियागत वैशिष्ट्य के द्योतक हैं ।

कर्मप्रवचनीय :

कर्मप्रवचनीय शब्दों के विषय में दो विचारधाराएँ हैं । कुछ लोग इन्हें उपसर्गों में ही अन्तर्भूत मानते हैं । इनका तर्क है कि कर्मप्रवचनीय न तो क्रिया के द्योतक हैं न ही क्रियापद के आक्षेपक हैं, क्रियाजनितसम्बन्ध के ये वाचक भी नहीं हैं, ये क्रियाजनितसम्बन्धविशेष के द्योतक मात्र है।[4] अत: इनका उपसर्गों में अन्तर्भाव सम्भव है । हेलाराज ने इस मत को स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया है कि क्रियाजनितसम्बन्धविशेष के द्योतक होने के कारण कर्मप्रवचनीय क्रियाविशेष के प्रकाशक होते हैं, जिससे उपसर्गों में इनका अन्तर्भाव सम्भव है ।[5] सम्भवत: इसीलिए भरत ने भी कर्मप्रवचनीयों का अलग से निरूपण नहीं किया । कर्मप्रवचनीय के व्याख्यान में भोज ने कहा है कि "प्र" इत्यादि ही

1- अनर्थान्तरवाचिनावनर्थकौ । धातुनोक्तां क्रियामाहतु: । तदविशिष्टं भवति । यद्येवं धातुनोक्तत्वात् तस्यार्थस्योपसर्गप्रयोगो न प्राप्नोति "उक्तार्थानामप्रयोग:" इति । उक्तार्थानामपि प्रयोगो दृष्यते । तद्यथाअपूपौ द्वावानय ब्राह्मणौ द्वावानयेति । महाभाष्य 1/4/93

2- द्योतयन्त्युपसर्गास्तु विशेषं भावसंश्रयम् । ना०शा० 14/13

3- तथाहि-क्रियारूपातिशयप्रतिपत्तिनिबन्धनमुपसर्गा: । व्य०वि०पृ० 45

4- क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचक: । नापि क्रियापदापेक्षी सम्बन्धस्य तु भेदक: । वा०प० 2/204

5- कर्मप्रवचनीयास्तु क्रियाविशेषोपजनितसम्बन्धावच्छेदहेतव इति सम्बन्धविशेषद्योतनद्वारेण क्रियाविशेषप्रकाशनादुपसर्गेष्वेवान्तर्भवन्तीति चतुर्धा एव कैश्चित् पदं भिन्नम् । हेलाराज, वा०जा०स० पृ० 3.

क्रियागत विशेष सम्बन्ध के द्योतक होने के कारण कर्मप्रवचनीय कहे जाते हैं ।[1] महिमभट्ट ने भी कर्मप्रवचनीयों को क्रिया से प्रतीत होने वाले सम्बन्धविशेष का अवच्छेदक माना है ।[2] इनकी कर्मप्रवचनीय विषयक यह मान्यता भर्तृहरि से प्रभावित है ।

कर्मप्रवचनीयों को उपसर्ग से पृथक् मानने वालों का यह विचार है कि कर्मप्रवचनीय साक्षात् क्रियागत सम्बन्धविशेष के प्रकाशक नहीं है । जब क्रियापद सम्बन्ध को उत्पन्न कर निवृत्त हो जाता है तब कर्मप्रवचनीय उस अश्रूयमाण क्रिया के विशेष सम्बन्ध को द्योतित करता है । अत: उपसर्गों से पृथक् है । हेलाराज ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उपसर्ग वर्तमान क्रिया की विशेषता को द्योतित करते हैं जबकि कर्मप्रवचनीय अतीतक्रियागत सम्बन्ध विशेष को द्योतित करते हैं अत: उपसर्गों से पृथक् हैं ।[3]

निपात :

आचार्य पाणिनि ने "चादयोऽसत्त्वे" (पा०सू० 1/4/57) नियम के द्वारा असत्त्व अर्थ वाले च आदि की निपात संज्ञा का विधान किया है। निरुक्तकार यास्क ने निपात की व्याख्या "उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति"[4] कहकर किया है। अभिप्राय यह है कि अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण इन्हें निपात कहा जाता है । निपात नाम एवं आख्यात दोनों की विशेषता को द्योतित करते हैं जबकि उपसर्ग केवल क्रियागत विशेषता के द्योतक हैं ।

1- प्रादय एव क्रियाविशेषोपजनितसम्बन्धावच्छेदहेतव: कर्मप्रवचनीया: । शृ०प्र०पृ० 16

2- क्रियाविशेषोपजनितसम्बन्धावच्छेदहेतव: कर्मप्रवचनीया: । व्य०वि०पृ० 46

3- साक्षात् क्रियाविशेषप्रकाशनाभावात्तदपि पञ्चमं पदमिति कैश्चित् । वही पृ० 4

4- निरुक्त, पृ० 29.

इनमें परस्पर पार्थक्य का यही आधार है ।[1] उपसर्गों की ही तरह निपात भी साक्षात् अर्थयुक्त नहीं हैं ।

यद्यपि पतञ्जलि ने "अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु (पा०सू० 2/1/6) की व्याख्या में निपातों को वाचक एवं द्योतक दोनों रूपों में स्वीकार किया है तथा भाष्यकार के अभिमत का उदाहरणादि प्रस्तुत कर कैयट तथा नागेश ने भी समर्थन किया है[2] किन्तु भर्तृहरि ने निष्कर्षतः निपातों की द्योतकता को ही मान्यता प्रदान की है । निपातों को वाचक न मानने का कारण है च आदि निपातों का स्वतन्त्र प्रयोग न होना । च आदि निपातों में अनेकार्थवाचकता के होने पर भी परतन्त्र होने के कारण इन्हें द्योतक ही मानना चाहिए ।[3] वैयाकरणभूषणसार में कौण्डभट्ट ने भी नैयायिकों के निपातों की वाचकता विषयक मतों का खण्डन कर इनकी द्योतकता को ही स्वीकार किया है ।[4]

निपातों को उपसर्गों से पृथक् मानते हुए आचार्य भरत भी निपातों का लक्षण लिखते हैं कि नाम एवं आख्यात के अर्थों के विषय में जो विशेष का

1- सिद्धसाध्यार्थविषयविशेषद्योतकत्वान्निपातानां साध्यैकनियतत्वाच्चोपसर्गाणां परस्परतो भेदः । हेलाराज, वा०जा०स०पृ० 3·

2- महाभाष्य, प्रदीप, उद्योत 2/1।6

3- चादयो न प्रयुज्यन्ते पदत्वे सति केवलाः ।
प्रत्ययो वाचकत्वेऽपि केवलो न प्रयुज्यते ।।
वा० 2/194

4- द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा ।
वै०भू०सा०का० 42

द्योतन करें वे निपात हैं, ये उपसर्गों से भिन्न हैं । यह नियम कभी खण्डित नहीं होता ।[1] भरत ने निपातों के इस लक्षण में उपसर्गों की तरह इनकी द्योतकता पर भी जोर दिया है तथा नाम एवं आख्यात दोनों की विशेषता का द्योतक माना है ।

इसी आशय को और स्पष्ट करते हुए इन्होंने कहा है कि प्रातिपदिकार्थ के योग से एवं धातु के आशय के अनुसार की गयी निर्वचन की युक्ति से पद में जो निपतन करते हैं अतएव निपात कहे जाते हैं ।[2] इस प्रकार नाट्यशास्त्र में विद्यमान निपातों का यह विवेचन वैयाकरणों एवं यास्क के निपातविषयक मान्यता से पूर्णतः प्रभावित है ।

भोज भी श्रृङ्गार प्रकाश में "निपात शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त जात्यादि के उपग्राहक न होने के कारण असत्त्वभूत अर्थ के अभिधायक हैं, लिङ्ग, संख्या एवं शक्ति से रहित हैं तथा विभिन्न उच्चावच अर्थों में इनका निपतन होता है । ये अव्ययविशेष ही हैं ।"[3] निपात के विषय में यह मान्यता प्रस्तुत करवैयाकरणों का ही समर्थन करते हैं । प्रमाणरूपमें "चादयोऽसत्त्वे" (पा०सू० 1/4/57/)को इन्होंने उद्धृत भी किया है । महिमभट्ट का विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है । इन्होंने निपात उन्हें माना है जिनके स्वरूप और अर्थ दोनों नियत हैं, वे भाव और सत्त्व के स्वगत भेद

1- नामाख्यातार्थविषयं विशेषं द्योतयन्ति ते ।
पृथक् तत्रोपसर्गेभ्यो निपाता नियमेऽच्युते ।। ना०शा० 14/14

2- प्रातिपदिकार्थयोगाद् धातुच्छन्दोनिरुक्तयुक्त्या च ।
यस्मान्निपतन्ति पदे तस्मात् प्रोक्ता निपातास्तु ।। ना०शा० 14/31

3- जात्यादिप्रवृत्तिनिमित्तानुपग्राहित्वेनासत्त्वभूतार्थाभिधायिनो लिङ्गसंख्या-
शक्तय उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्तीत्यव्ययविशेषा एव चादयः ।
श्रृ० प्र० पृ० 8

की प्रतीति के निमित्त माने गये हैं ।[1] इनके निपातलक्षण में भर्तृहरि का स्पष्ट प्रभाव है ।

इस प्रकार साहित्यशास्त्रियों द्वारा शब्द के स्वरूप, विभाग आदि की दृष्टि से शब्द का जितना भी विश्लेषण किया गया है वह वैयाकरणों की शब्दविषयक अवधारणा से पूर्णत: साम्य रखता है । वैयाकरणों ने व्यावहारिक दृष्टि से विश्लेषण करने के साथ साथ पारमार्थिक दृष्टि को अधिक महत्त्व दिया है । किन्तु काव्यशास्त्रियों ने शब्द के व्यावहारिक रूप को ही अपना विवेच्य माना है । शब्द का वैयाकरणों को जो पारमार्थिक स्वरूप अभिप्रेत है उसके निरूपण में इन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त की है । जहाँ तक नाम आख्यातादि के स्वरूप निर्धारण का प्रश्न है वहाँ इन्हें वैयाकरणों पर ही आश्रित रहना पड़ता है । वैयाकरणों की दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी उन्होंने सम्भावित समस्त स्वरूपों का विवेचन कर इनके लिए व्यापक आधार प्रस्तुत किया है । इसीलिए काव्यशास्त्रियों ने अपने अभिप्रायों के विश्लेषण में इनके सिद्धान्तों को स्वीकार कर इनके प्रति श्रद्धा व्यक्त की है ।

वैयाकरणों तथा साहित्यशास्त्रियों में अर्थ की अवधारणा -

अर्थ का नित्यत्व :

वैयाकरण शब्द के समान अर्थ को भी नित्य मानते हैं । वार्तिककार कात्यायन, भाष्यकार पतञ्जलि, भर्तृहरि तथा कैयट आदि आचार्यों ने अर्थ की

1- भावसत्त्वयोरात्मभेदप्रत्यायननिमित्तमवधृतरूपार्थविशेषा: स्वरादयो निपाता: ।

व्य०वि० पृ० 45।

नित्यता का सविस्तार वर्णन किया है । "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे[1]" इस वार्तिक का "सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च" यह विग्रह कर तथा "सिद्ध" शब्द की नित्यपर्यायवाचिता का प्रतिपादन कर पतञ्जलि ने अर्थ की नित्यता का व्याख्यान किया है । आचार्य के अभिप्राय को स्पष्ट करने में कैयट ने माना है कि जाति लक्षण अर्थ तो नित्य है ही व्यक्तिरूप अर्थ भी नित्य है, क्योंकि असत्योपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व ही समस्त शब्दों का वाच्य है । अर्थ की नित्यता का दूसरा कारण भी है वह है प्रवाहनित्यता, अर्थात् प्रवाह की नित्यता के कारण भी अर्थ को नित्य माना गया है ।[2] अनादिकाल से प्रवर्तमान अर्थ में यद्यपि प्रवाह के कारण परिवर्तन होता रहता है तथापि वह अपने मूलतत्त्व का परित्याग नहीं करता । यही अर्थ की नित्यता का रहस्य है । पतञ्जलि नित्य उसको भी मानते हैं जिसमें मूलतत्त्व का नाश न हुआ हो ।[3] नागेश ने भी प्रवाहनित्यता की व्याख्या की है - जिसके नष्ट हो जाने पर भी उसमें रहने वाले मूलभूत धर्म का विघात नहीं होता । आश्रयस्वरूप प्रवाह के अविच्छिन्न रहने के कारण उसके नष्ट हो जाने पर तद्गत भी धर्म का नाश नहीं होता ।[4]

महाभाष्यकार ने द्रव्य को पदार्थ मानकर उसकी नित्यता का उदाहरण प्रस्तुत कर प्रतिपादन किया है । लोक में मिट्टी द्रव्य को एक विशेष आकृति देकर घट इत्यादि का रूप दे दिया जाता है इस रूप में आकृति बदलती रहती है किन्तु द्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं होता वह वही रहता है ।

1- म०भा० पस्पशा० पृ०-38

2- अर्थस्यापि जातिलक्षणस्य नित्यत्वम् । द्रव्यपक्षेऽपि सर्वशब्दानामसत्योपाध्य-वच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं वाच्यमिति नित्यता प्रवाहनित्यतया वा ।
वही प्रदीप पृ०-38

3- तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते । म०भा० पस्पशा० पृ०-44

4- यस्मिन् विहतेऽपि तद्वृत्ति धर्मो न विहन्यते । प्रवाहनित्यता चानेनोक्ता तन्नाशेऽपि तद् धर्मो न नश्यति । आश्रयप्रवाहाविच्छेदादिति ।
वही उद्योत पृ०-44

आकृति के उपमर्द अर्थात् विनष्ट होने पर द्रव्य ही शेष रह जाता है । अतः द्रव्य नित्य है ।[1] इस प्रसङ्ग में कैयट ने स्पष्ट किया है कि द्रव्य शब्द का वाच्य असत्योपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व है ।[2] यह ब्रह्मतत्त्व तो नित्य है ही । इसी प्रकार भाष्यकार आकृति अर्थात् जाति को भी नित्य मानते हैं । जाति कहीं कहीं अनभिव्यक्त है अतः सर्वत्र इसका अभाव ही होगा ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह अन्य द्रव्य में तो विद्यमान ही रहती है ।[3] पतञ्जलि के अभिप्राय को और स्पष्ट करते हुए कैयट ने लिखा है कि अद्वैत अर्थात् परमार्थ की दृष्टि से यह लोकव्यवहारातीत है अतः नित्य है, व्यवहार की दृष्टि से भी सदा जाति का एकाकार परामर्श होने के कारण ध्रुवत्व आदि के रूप में नित्यत्व है ।[4] इस प्रकार जाति एवं द्रव्य रूप अर्थ का नित्यत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है ।

भर्तृहरि भी अर्थ को नित्य मानते हैं इनके अनुसार शब्द से अर्थविशेष की प्रतीति अवश्य होती है अनित्य होने पर भी अर्थ को नित्य कहा जाता है । क्योंकि यहाँ प्रवाहनित्यता विद्यमान रहती है ।[5]

इस रूप में अर्थ को नित्य मान लेने पर यह प्रश्न भी समाहित हो जाता है कि अर्थ की अनित्यता में शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है ।

1- द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या । एवं हि दृश्यते लोके मृत्कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते । -----आकृतिरन्या चान्या च भवति द्रव्यं पुनस्तदेव । आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ।
म०भा० पस्पशा० पृ०-43

2- असत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्यशब्दवाच्यमिति । वही प्रदीप पृ०-43

3- नैतदस्ति नित्याकृतिः । न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते । म०भा० पस्पशा० पृ०-43

4- अद्वैतेन लोके व्यवहाराभावात् व्यवहारे चाकृतेरेकाकारपरामर्शहेतुत्वान्नित्यत्वम् ।
वही प्रदीप पृ०-43

5- अनित्येष्वपि नित्यत्वमाभिधेयात्मना स्थितम् । वा०सं०स० 34

वैसे तो नागेश ने अर्थ की अनित्यता की स्थिति में भी इनके सम्बन्ध के नित्यत्व का उपपादन सम्बन्ध को बोधजनकत्व योग्यतालक्षण मानकर किया है । इसका अभिप्राय यह है कि शब्द में यह अनादि और नित्य योग्यता है कि वह अर्थ का बोध कराये । आचार्यों ने शब्द एवं अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध माना है अर्थात् जहाँ शब्द का उच्चारण होगा वहाँ अर्थ अवश्य होगा तथा जहाँ अर्थ होगा वहाँ शब्द अवश्य होगा । किन्तु भर्तृहरि आदि आचार्यों द्वारा अर्थ को नित्य मानने का आधार ब्रह्मतत्त्व का वाच्य होना है । ब्रह्मतत्त्व का ही अर्थ रूप में विवर्त होता है । कूटस्थनित्यता के आश्रय से जातिरूप तथा द्रव्य रूप अर्थ को नित्य मानने की पतञ्जलि की धारणा का भर्तृहरि ने भी समर्थन किया है ।[1]

अर्थ का स्वरूप :

व्यवहार में समस्त शब्दों का प्रयोग अर्थावबोध के लिए ही होता है । पतञ्जलि ने महाभाष्य में स्पष्ट किया है कि शब्द का प्रयोग अर्थावगति के लिए किया जाता है । शब्द का प्रयोजन ही अर्थज्ञान है । अर्थ का सम्प्रत्यय करूँगा इस प्रतिज्ञा में शब्द का प्रयोग होता है।[2] जिस अर्थ के ज्ञान के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है वही उस शब्द का अर्थ है ।[3] महाभाष्यकार के अर्थ के इस लक्षण को भर्तृहरि भी उसी रूप में स्वीकार कर लिखते हैं कि जिस शब्द के उच्चारण करने पर जब जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उस शब्द का अर्थ होता है । इससे भिन्न अर्थ का कोई लक्षण नहीं है ।[4] शृङ्गारप्रकाश में भोज ने पतञ्जलि एवं भर्तृहरि का ही अर्थ का स्वरूप निर्धारित करने में अनुकरण किया है ।

1- पदार्थानामपोद्धारे जातिर्वा द्रव्यमेव वा ।
पदार्थौ सर्वशब्दानां नित्यावेवोपवर्णितौ ।। वा0जा0-2

2- अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः अर्थं सम्प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते ।
म0भा0 1/1/43

3- सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थः । वही 5/1/119

4- यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ।। वा0 2/328

इनके अनुसार शब्द से जिसका प्रत्यायन होता है वह अर्थ है । इस अर्थ को इन्होंने बारह प्रकार का माना है - क्रिया, कारक, काल, पुरुष, उपाधि, प्रधान, उपस्कारार्थ, प्रातिपदिकार्थ, विभक्त्यर्थ, वृत्त्यर्थ पदार्थ तथा वाक्यार्थ ।[1] आचार्य मम्मट ने भी शब्दों का स्वरूप स्पष्ट करने के अनन्तर वाच्यादि को वाचकादि का अर्थ मानकर अर्थ का स्वरूप स्पष्ट किया है ।[2] इनका यह विचार वैयाकरणों के अर्थलक्षण से भिन्न नहीं है ।

शब्दप्रवृत्तिनिमित्तों का स्पष्टीकरण :

प्रतिबन्धक कारणों के न रहने पर शब्द से अर्थ का बोध निश्चित रूप से होता है । अर्थबोधविघातक कारणों का विवेचन आगे किया जायेगा । इस स्थिति में एक ज्वलन्त समस्या यह उपस्थित होती है कि शब्द से प्रतीत होने वाला यह अर्थ किस रूप का होता है ? इस समस्या से सभी शब्दार्थविवेचन से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रकार परिचित थे। उन्होंने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार अपने सिद्धान्त स्थापित किए हैं । वैयाकरणों का परिनिष्ठित सिद्धान्त है कि शब्द से जो अर्थबोध होता है वह प्रवृत्ति-निमित्तों के भेद से चार रूपों में होता है - §1§ जाति, §2§ गुण, §3§ क्रिया एवं §4§ यदृच्छा रूप में । अतः शब्द एवं अर्थ जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा इन चार रूपों में विभक्त होते हैं । आलङ्कारिक आचार्य इस विवेचन में वैयाकरणों का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं । निरुक्तकार यास्क एवं शाकटायन की मान्यता भिन्न है । ये आचार्य जाति, गुण एवं क्रिया इन तीन रूपों में ही शब्द की अर्थ में प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं । इनके मत में यदृच्छा शब्दों को पृथक मान्यता नहीं दी गयी । कुछ आचार्य जाति एवं गुण शब्दों के भी धातुज होने के कारण क्रिया रूप एक ही

1- यः शब्देन प्रत्याय्यते । स च द्वादशधा----- । श्0प्0 पृ0-2-3
2- वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः । का0प्0 पृ0-25

शब्दप्रवृत्ति-निमित्त को स्वीकार करते हैं । मीमांसा सम्प्रदाय के आचार्य केवल जाति को शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं । इनका तर्क है कि यद्यपि व्यवहारप्रक्रिया का निर्वाह व्यक्तिरूप अर्थ के द्वारा होता है तथापि आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों के कारण जातिरूप अर्थ में ही संकेत स्वीकार करना चाहिए व्यक्ति में नहीं । इस प्रसङ्ग में नैयायिक समन्वयवादी हैं । इन्होंने जाति को पदार्थ मानने में व्यक्ति की अप्रतीतिरूप दोष तथा व्यक्ति को पदार्थ मानने में आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों की उद्‌भावना कर बीच का मार्ग अपनाया है । इनके अनुसार जाति से विशिष्ट व्यक्ति रूप अर्थ का शब्द से बोध होता है । बौद्धों का विचार सबसे भिन्न है । ये अतद्व्यावृत्ति रूप अपोह को शब्दार्थ मानते हैं । अपने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में समस्त आचार्यों ने विस्तार पूर्वक तर्कों को उपस्थित किया है तथा स्वेतर सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्यों के तर्कों का खण्डन कर अपने विचार को मनवाने का प्रयास किया है । इस प्रबन्ध में केवल वैयाकरणों तथा साहित्यशास्त्रियों के एतद्विषयक विचारों का विश्लेषण किया जायेगा ।

वैयाकरणों को अभिमत शब्दप्रवृत्तिनिमित्त :

पाणिनि -

यद्यपि आचार्य पाणिनि ने शब्दतः कहीं भी शब्द के प्रवृत्तिनिमित्तों का विवेचन नहीं किया है तथापि महाभाष्यकार पतञ्जलि आदि इनके सूत्रों के आधार पर इनके अभिमत को स्पष्ट करते हैं ।[1] पाणिनि ने जाति को पदार्थ मानकर "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" {पा०सू० 1/2/58} सूत्र का निर्माण किया है तथा व्यक्ति को पदार्थ मानकर "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" {पा०सू० 1/2/58} का । यदि सर्वत्र व्यक्तिको ही पदार्थ माना जाय तो

1- किं पुनराकृतिः पदार्थः आहोस्विद् द्रव्यम् ? उभयमित्याह । उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि । म०भा० पस्पशा०

"गाव: पूज्या:" आदि प्रयोगों में व्यक्तियों का बहुत्व के कारण ही बहुवचन सम्भव है, इस स्थिति में पाणिनि द्वारा "जात्याख्या0" सूत्र का विधान व्यर्थ सिद्ध होता है, जबकि उनके विषय में पतञ्जलि आदि की स्पष्ट धारणा है कि उनके द्वारा लिखा गया एक वर्ण भी अनर्थक नहीं है । अतः आचार्य के इस सूत्र-विधान से स्पष्ट है कि इन्हें जातिरूप पदार्थ मान्य था । तथा च यदि सर्वत्र जाति को ही पदार्थ मान लिया जाय तो सर्वत्र जाति के एक होने से एक शब्द से ही प्रयोगनिर्वाह हो जायेगा, समान रूपवाले अनेक शब्दों का प्रसङ्ग न होने के कारण एकविभक्ति में समान आकृतिवाले शब्दों के एकशेष का विधायक "सरूपा0" सूत्र अनर्थक सिद्ध होता है । अतः पाणिनि द्वारा इस सूत्र का विधान यह इङ्गित करता है कि आचार्य को व्यक्तिरूप पदार्थ भी मान्य था । क्रियारूप अर्थ को इन्होंने "उपसर्गाः क्रियायोगे" (पा0सू0 1/4/59) सूत्र के द्वारा क्रिया के योग में उपसर्ग संज्ञा का विधान कर मान्यता दी है । इसी प्रकार "पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन" (पा0सू0 2/2/11) इस सूत्र से आचार्य ने पूरणगुणार्थक तथा सत् आदि शब्दों के साथ प्राप्त षष्ठीसमास के निषेध का विधान किया है । इससे सिद्ध होता है कि इन्हें गुणरूप पदार्थ भी अभिप्रेत था । यह निदर्शनमात्र है इसी तरह के अन्य नियम भी क्रिया तथा गुण को पदार्थ मानकर आचार्य द्वारा बनाए गये हैं । पाणिनि के अनन्तर वैयाकरणों में जातिवादी वाजप्यायन तथा व्यक्तिवादी व्याडि का विवेचन महत्त्वपूर्ण है ।

वाजप्यायन :

इनकी मान्यता है कि गौः यह उच्चारण करने पर गोत्व सामान्य का ज्ञान होता है शुक्ल, नील आदि गुणों का नहीं । एक गाय के ज्ञात हो जाने पर रूप, अवस्था, आकार आदि के भिन्न भिन्न होने पर भी गौः गौः इस एकाकार प्रतीति के कारण सम्पूर्ण गाय व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है ।

एकाकार प्रतीति के कारण ही सम्पूर्ण व्यक्तियों में सामान्य का सद्भाव तथा एकत्व माना जाता है । धर्मशास्त्रादि में प्रतिपादित विधियों से भी जातिरूप पदार्थ की सिद्धि होती है । "ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिए" इस विधिवाक्य का अभिप्राय ब्राह्मणमात्र अर्थात् जितने भी ब्राह्मण हैं सभी की हत्या का प्रतिषेध करना है । अन्यथा एक ब्राह्मण को न मारने से एक के अतिरिक्त समस्त ब्राह्मणों को मार देने पर भी धर्मशास्त्र की विधि पूरी हो सकती है । अतः विधिवाक्यों की उपपत्ति के लिए जातिरूप पदार्थ को अवश्य मानना पड़ता है । जाति को पदार्थ मान लेने से ब्राह्मणत्वावच्छिन्न सम्पूर्ण ब्राह्मणों के वध का प्रतिषेध उपपन्न हो जाता है । जाति का इन्हें व्यापक स्वरूप अभिप्रेत था । जैसे एक समय में अनेकत्र आहूत इन्द्र तत्तत् स्थानों में पहुँचा रहता है उसी प्रकार जाति भी सर्वत्र व्याप्त रहती है । शब्द यदि केवल द्रव्याभिधायक होते तो जाति के बोध न होने से शब्द से समस्त द्रव्यों का ज्ञान नहीं हो सकता था । आदेशों में एक शब्द की अनेक उपाधियों में प्रवृत्ति होती है जिससे सिद्ध होता है कि शब्द का अर्थ जाति रूप ही होता है ।[1]

1- आकृत्यभिधानाद्वैकं शब्दं विभक्तौ वाजप्यायन आचार्यो न्याय्यं मन्यते । एका-आकृतिः सा चाभिधीयते । नहि गौरित्युक्ते विशेषः प्रख्यायते - शुक्ला, नीला, कपिला कपोतेति । अव्यपवर्गगतेश्च मन्यामहे "आकृतिरभिधीयते" इति । "धर्मशास्त्रं च तथा" (वा०) एवं च कृत्वा धर्मशास्त्रं प्रवृत्तं "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" "सुरा न पेयेति" ब्राह्मणमात्रं न हन्यते सुरामात्रं च न पीयते । यदि द्रव्यं पदार्थः स्यादेकं ब्राह्मणमहत्वैकां सुरामपीत्वान्यत्र कामचारः स्यात् । अस्ति खल्वप्येकमनेकाधिकरणस्थं युगपदुपलभ्यते ? अस्तीत्याह । --- तद्यथा एक इन्द्रो नैकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति । एवमाकृतिरपि युगपत् सर्वत्र भविष्यति । --- द्रव्याभिधाने सत्याकृतेरसंप्रत्ययः स्यात्।तत्रासर्वद्रव्यगतिः प्राप्नोति ।

म० भा० 1/2/64

व्याडि :

आचार्य व्याडि शब्द का अभिधेय द्रव्य अर्थात् व्यक्ति को मानते हैं । इन्होंने जाति को अर्थ मानने में दोष दिखाकर जातिवाद का खण्डन किया है । वार्तिककार कात्यायन तथा भाष्यकार पतञ्जलि ने व्याडि को अभिमत द्रव्यवाद या व्यक्तिवाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आचार्य व्याडि द्रव्य का ही शब्द से अभिधान उचित मानते हैं । शब्द का अभिधेय द्रव्य को मान लेने से व्यक्ति के अनुरूप लिङ्गों एवं वचनों की सिद्धि हो जाती है । पुल्लिङ्ग में 'ब्राह्मणः', स्त्रीलिङ्ग में 'ब्राह्मणी', द्विवचन में ब्राह्मणौ, बहुवचन में 'ब्राह्मणाः' आदि प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं । धर्मशास्त्र के आदेशों से भी - "द्रव्य ही अभिधेय है" इसकी सिद्धि हो जाती है । जाति को अभिधेय मानने पर "गौरनुबन्ध्यः" आदि शास्त्रविधियों में व्यवस्था नहीं बनेगी । इस वाक्य का एक व्यक्ति के आलम्भन में तात्पर्य है, समस्त गाय जाति के आलम्भन में नहीं है । यह व्यवस्था तभी सम्भव है जब व्यक्तिरूप अर्थ माना जाय । यह अनुचित भी है कि शब्द से जाति का अभिधान हो तथा आलम्भन आदि कार्य द्रव्य में हों जैसा कि जातिवादियों को मानना पड़ता है । जातिवादियों को अभिमत एक ही वस्तु की अनेकाधिकरणता भी अनुपपन्न है । एक ही देवदत्त स्रुघ्न देश में तथा मथुरा में एकसाथ नहीं रह सकता । जाति को पदार्थ मान लेने पर एक के विनाश होने पर सम्पूर्ण जाति का विनाश तथा एक के उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण जाति का प्रादुर्भाव होने लगेगा । एक कुत्ते के मर जाने पर लोक से कुत्ता नाम ही समाप्त हो जाना चाहिए तथा एक गाय के उत्पन्न होने पर समस्त गोभूत को अनवकाश हो जाना चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति के स्वरूप में भिन्नता स्पष्ट है, जाति को पदार्थ मानने पर यह अनुपपन्न होगी क्योंकि भिन्नता एवं अभिन्नता दो विरुद्ध धर्म एक साथ नहीं रह सकते । "गौश्च" गौश्च जैसे विग्रहों का एक अर्थ की "वाचकता में पर्यायों की तरह एक साथ प्रयोग भी अनुपपन्न होगा । अतः जाति को पदार्थ न मानकर व्यक्ति को ही पदार्थ

मानना चाहिए ।[1]

जातिवादी वाजाप्यायन एवं व्यक्तिवादी व्याडि के मतों में समन्वय :

इन दोनों आचार्यों के मतों की समीक्षा कर कात्यायन एवं पतञ्जलि ने मध्यममार्ग अपनाया है । इन्होंने शब्दों की जाति तथा व्यक्ति दोनों में प्रवृत्ति होने पर ही व्यवस्था को सम्भव माना है । जातिशब्दों से भी जाति एवं द्रव्य दोनों अर्थ विवक्षित रहते हैं इसी प्रकार द्रव्यशब्दों से द्रव्य एवं जाति दोनों अर्थ । जाति एवं व्यक्ति पृथक् नहीं है । जब जाति की प्रधानता होती है तो जाति को शब्द का पदार्थ मानते हैं, व्यक्ति भी वहाँ गौण उपस्थिति रहती है तथा जब व्यक्ति की प्रधानता होती है तो शब्द का व्यक्ति को पदार्थ मानते हैं, जाति भी वहाँ अप्रधानतया उपस्थित रहती है ।[2] जातिवादी एवं व्यक्तिवादी आचार्यों द्वारा अपने सिद्धान्त के परिपोषण में उपस्थापित तर्कों की कात्यायन एवं पतञ्जलि दोनों ने समालोचना कर जाति एवं व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानने में उपपत्ति

1- "द्रव्याभिधानं व्याडि:" (वा) द्रव्याभिधानं व्याडिराचार्यो न्याय्यं मन्यते - "द्रव्यमभिधीयते" इति । एवं कृत्वा लिङ्गवचनानि सिद्धानि भवन्ति । ब्राह्मणी, ब्राह्मणः, ब्राह्मणौ, ब्राह्मणा इति । चोदनासु च तस्यारम्भान्मन्यामहे - "द्रव्यमभिधीयते" इति । आकृतौ चोदितायां द्रव्ये आरम्भणालम्भनप्रोक्षणविशसनादीनि क्रियन्ते । न खल्वप्येकमनेकाधिकरणस्थं युगपदुपलभ्यते ।नह्येको देवदत्तो युगपत् श्रुघ्ने भवति मथुरायां च। विनाशे प्रादुर्भावे च सर्वं तथा स्यात् । "श्वा मृतः इति श्वा नाम लोके न प्रचरेत् । "गौर्जात" इति सर्वं गोभूतमनवकाशं स्यात् । अस्ति खल्वपि वैरूप्यं - "गौश्च गौश्च" । एवं कृत्वा विग्रह उपपन्नो भवति । म०भा०1/2/64

2- नह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो, द्रव्यपदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः । उभयोरुभयं पदार्थः कस्यचित् किञ्चित् प्रधानभूतं किञ्चित् गुणभूतम् । आकृतिपदार्थिकस्याकृतिः प्रधानभूता द्रव्यं गुणभूतम् । द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता । म०भा० 1/2/64

प्रदर्शित की है । व्यक्तिवादियों का आक्षेप था कि जाति को पदार्थ मानने पर लिङ्ग एवं वचन की व्यवस्था अनुपपन्न हो जायेगी । इसके समाधान में इन्होंने माना है कि गुणवचन शब्दों के समान लिङ्ग एवं वचन की व्यवस्था सम्भव है । जैसे शब्दों के आश्रय से गुणवाचकों के लिङ्ग एवं वचन व्यवस्थित होते हैं गुण जिस द्रव्य के लिए प्रयुक्त होते हैं उसी के अनुरूप उनके लिङ्ग एवं वचन निर्धारित किए जाते हैं – शुक्लं वस्त्रम्, शुक्ला शाटी, शुक्ल: कम्बल:, शुक्लौ कम्बलौ, शुक्ला: कम्बला: आदि । इसी प्रकार आकृति जिस द्रव्य का आश्रय ग्रहण करती है उस द्रव्य के जो लिङ्ग एवं वचन होंगे वही लिङ्ग एवं वचन आकृति के भी होंगे । जाति, व्यक्ति दोनों को पदार्थ मान लेने पर जातिसहचरित अर्थात् जात्याश्रय द्रव्य में आलम्भन आदि भी उपपन्न हो जाते हैं । अनेक अधिकरणों में एक साथ विद्यमानता की आपत्ति भी निराकृत हो जाती है । तथा च द्रव्य के विनष्ट हो जाने पर भी जाति का विनाश नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार द्रव्य के आधीन स्थिति होने के कारण गुणों का द्रव्याश्रितत्व है उस प्रकार जाति का नहीं । यह एक है, नित्य है तथा सर्वत्र व्याप्त है । द्रव्य का स्वरूप इससे भिन्न है इसलिए भी द्रव्य के विनष्ट हो जाने पर भी इसका विनाश नहीं होता । वृक्ष में चढ़ा हुआ वितान वृक्ष के कट जाने पर भी जैसे विनष्ट नहीं होता उसी प्रकार यह भी विनष्ट नहीं होगी । द्रव्य भेद का आश्रय लेकर वैरूप्य एवं विग्रह भी उपपन्न हो जायेंगे । अत: जाति एवं व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानना चाहिए।[1] आचार्य भर्तृहरि ने भी पतञ्जलि का समर्थन किया है।इन्होंने कहा है कि व्यक्तिवादी व्यक्ति में कार्य की सत्ता

1- गुणवचनवद्वा लिङ्गवचनानि भविष्यन्ति । तद्यथा – गुणवचनानां शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति । यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति गुणस्तस्य यल्लिङ्गं वचनं च तद्गुणस्यापि । एवमिहापि यदसौ द्रव्यं श्रिताकृतिस्तस्य यल्लिङ्गं यद्वचनं च तदाकृतेरपि भविष्यति । ---
आकृतिसहचरिते द्रव्ये आरम्भणादीनि भविष्यन्ति । द्रव्यविनाशे आकृतेरविनाश: । कुत: ? अनाश्रितत्वात् अनाश्रिताकृतिर्द्रव्यम् । ---
द्रव्यविनाशे आकृतेरविनाश: । कुत: ? अनेकात्म्यात् । अनेक आत्मा आकृतेर्द्रव्यस्य च । तद्यथा- वृक्षस्थो वितानो वृक्षे छिन्नेऽपि न विनश्यति। वैरूप्यविग्रहावपि द्रव्यभेदाद् भविष्यत: ।

वही 1/2/64

मानकर अग्नि आदि शब्दव्यक्ति को अग्निशब्दत्वादिरूप जाति की संज्ञा अर्थात् जाति का ग्राहक मानते हैं । यह शब्द-व्यक्ति एक ही है अनेक नहीं। इसी प्रकार जाति को पदार्थ मानने वाले आचार्य शब्द के द्वारा जाति का उपादान करते हैं तथा जाति के द्वारा बोधित व्यक्ति से व्यवहार का निर्वाह करते हैं । जाति व्यक्ति का ग्राहक है ।[1] इसी अभिप्राय को भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त किया है कि समस्त शब्द जाति अथवा व्यक्ति का अभिधान करते हैं, शब्दों द्वारा अभिधीयमान जाति एवं व्यक्तिरूप दोनों पदार्थ नित्य ही माने गये हैं ।[2] भर्तृहरि के इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि इन्हें दोनों प्रकार के पदार्थ स्वीकृत थे । इन्होंने समस्त पदार्थों के विवेचन में अपनी केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। ये समस्त पदार्थों के सत्तात्मक स्वरूप में अधिक विश्वास करते हैं । किन्तु व्यवहार प्रक्रिया में इन्हें भी पदार्थों का व्यावहारिक स्वरूप अभिप्रेत है।

शब्दों की पदार्थों में चतुष्टयी प्रवृत्ति का विवेचन :

महर्षि पतञ्जलि पदार्थों में शब्दों की चार प्रकार से प्रवृत्ति मानते हैं । जातिरूप में, गुणरूप में, क्रियारूप में तथा यदृच्छारूप में । इसीलिए चार प्रकार के शब्द होते हैं, तथा पदार्थ भी चार प्रकार के होते हैं । इनके इस सिद्धान्त को साहित्यशास्त्रियों ने स्वीकार किया है तथा इन्हें इस चतुष्टयी-शब्दप्रवृत्ति-निमित्तवाद को मानने वाला कहा है । वैयाकरणों में कुछ आचार्य यदृच्छा शब्दों का गुण क्रियादि की उपपत्ति कर इन्हीं में उनका अन्तर्भाव

1- स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिः संज्ञोपदिश्यते ।
जातेः कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते ।।
संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यामथापरे ।
जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते ।। वा०प० 1/68-69

2- पदार्थानामपोद्धारे जातिर्वा द्रव्यमेव वा ।
पदार्थौ सर्वशब्दानां नित्यावेवोपवर्णितौ ।। वा०जा०स० 2

प्रस्तुत करते हैं । इस तरह यदृच्छा शब्दों के विषय में इनमें मतभेद है ।

यदृच्छा शब्दों के विषय में आचार्यों का मन्तव्य :

पाणिनि के "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" (पा0सू0 1/2/45) सूत्र का प्राचीन आचार्यों ने अर्थवान् अव्युत्पन्न (डित्थादि) शब्दों को उदाहरण माना है । जिन शब्दों में व्युत्पत्ति सम्भव है उनकी "कृत्तद्धितसमासाश्च" (पा0सू0 1/2/46) से ही प्रातिपदिकसंज्ञा की सिद्धि स्वीकार करते हुए पृथक् इस "अर्थवत्" सूत्र के आरम्भ को व्यर्थ मानकर इन्होंने इसे अव्युत्पत्ति पक्ष का ज्ञापक स्वीकार किया है । इससे - "पाणिनि ने इस सूत्र का विधानकर अव्युत्पन्न यदृच्छा शब्दों को मान्यता दी है" यह इनका अभिप्राय प्रतीत होता है ।[1] किन्तु नव्य आचार्य नागेश आदि को इस मान्यता में अरुचि है । उन्होंने "बहुपटवः" को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर उक्त सूत्र की सावकाशता में उसके ज्ञापकत्व का निवारण किया है ।[2]

नागेश आदि की विप्रतिपत्ति केवल कैयट के मन्तव्य - "अर्थवत्" सूत्र के आरम्भसामर्थ्य से यदृच्छा हैं[3] के विषय में ही हैं । वस्तुतः महाभाष्यकार के समान यदृच्छा शब्दों को इन्हें भी मानना पड़ता है । "ऋलृक्" (शिवसूत्र) के व्याख्यान में पतञ्जलि ने प्रतिपादित किया है कि आचार्य पाणिनि द्वारा लृकार का विशेष उपदेश यदृच्छा शब्दों के लिए किया गया है । स्वेच्छा से

1- अत्र च सूत्रे यदव्युत्पन्नमर्थवत् तदुदाहरणम् । व्युत्पत्तौ कृदन्तत्वादेव सिद्ध्यतीति पृथगारम्भोऽस्यानर्थकः स्यात् । अव्युत्पत्तिपक्षस्य चेदमेव सूत्रं ज्ञापकमित्याहुः । म0भा0प्र0 1/2/46

2- वस्तुतस्तुव्युत्पत्तिपक्षे बहुपटव इत्यादौ सूत्रमिति नव्याः ।
सि0कौ0 बालबो0पृ0 47

3- अर्थवत्सूत्रारम्भाच्चाव्युत्पन्ना यदृच्छाशब्दाः सन्तीत्यवगम्यते ।
वही प्रदीप ।

ही किसी का लृतक नाम रख दिया जाय तो यह यदृच्छा शब्द की कोटि में आएगा । इस प्रकार के शब्दों में भी "अच्" प्रत्याहारप्रयुक्त कार्य हों इसके लिए आचार्य का लृकारोपदेश सार्थक है । इसी कारण "दध्युलृतकायदेहि" आदि उदाहरण साधु माने गये हैं । अतः शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति सिद्ध होती है ।[1] कैयट तथा नागेश ने भी पतञ्जलि के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उन्हीं का अनुगमन किया है । कैयट;नागेश ने यदृच्छा शब्द का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि वक्ता द्वारा अर्थगत प्रवृत्तिनिमित्त की अपेक्षा के बिना ही अपनी इच्छा से सन्निवेशित डित्थादि यब्द यदृच्छा शब्द हैं। यह यदृच्छा शब्द अनेक प्रकार का होता है - एक व्यक्ति द्वारा सन्निवेशित अर्थात् प्रयुक्त डित्थादि शब्द एक वस्तु हैं । आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों के न होने के कारण इन व्यक्तिवाचक शब्दों का व्यक्ति ही प्रवृत्तिनिमित्त है इसके अतिरिक्त गुणक्रियादि नहीं । जातिवादी के मत में वह शब्द व्यक्ति के लिए सङ्केत न रहकर व्यक्ति के द्वारा सङ्केतित जाति का बोध कराते हैं । डि, डु, भ, आदि शब्दों के द्वारा बोध्य जातियाँ अनन्त हैं अतः वे जाति में ही तात्पर्य रखते हैं । इस प्रकार वैयाकरणों की चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति की धारणा सुसङ्गत एवं मान्य सिद्ध होती है ।

यद्यपि पतञ्जलि लृकारोपदेश का प्रयोजन दिखाने में यदृच्छा शब्दों को स्वीकार करने के अनन्तर लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान प्रतिपादित करते हुए लृतक, लृफिड लृफिड्ड आदि यदृच्छा शब्दों में प्रकृति प्रत्ययादि की कल्पना करके इन शब्दों को नकार कर शब्दों की केवल जाति, गुण एवं

1- लृकारोपदेशः क्रियते यदृच्छाशब्दार्थो ---- । यदृच्छा शब्दार्थस्तावत् - यदृच्छया कश्चिद्लृतको नाम । तस्मिन्नच्कार्याणि स्युः - दध्युलृतकाय देहि --- । चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः ।

म०भा० "ऋलृक्" (शिवसूत्र)

क्रियारूप में ही प्रवृत्ति स्वीकार की है[1] तथा डित्थादि से "त्व" आदि भाव प्रत्ययों की उपपत्ति प्राथमकल्पिक "डित्थ" आदि के द्वारा किये गये क्रियाओं एवं गुणों का वर्तमानकालिकडित्थादि में आरोप मानकर की है ।[2] यह लक्षणा का मूल है इसका विवेचन आगे किया जायेगा ।

तथापि पतञ्जलि का यह अभिप्राय नहीं है कि यदृच्छा शब्द हैं ही नहीं । भाष्यकार ने लृकारोपदेश के प्रत्याख्यान में शब्दों की अर्थ में तीन ही प्रकार की प्रवृत्ति को मानकर यदृच्छा शब्दों को नकारने पर जिस दोष के परिहार की उद्भावना की है शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति को मानने पर भी उस दोष का परिहार किया जा सकता है । जो यह दोष माना गया था कि ऋतक साधुशब्द लृतक का निवर्तक नहीं हो सकता, ऋतक भले ही लृतक का निवर्तक न हो किन्तु शिष्टप्रयोग के कारण तो लृतक की निवृत्ति हो ही जायेगी । शिष्ट व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त शब्दों में साधुता के कारण अव्युत्पन्नसंज्ञाशब्द पक्ष में भी परम्पराप्राप्त शिष्टों द्वारा प्रयुक्त संज्ञाओं से ही व्यवहार करना चाहिए । इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो यदृच्छा शब्द शिष्टों द्वारा प्रयुक्त नहीं है वे असाधु होने के कारण शास्त्र के विषय नहीं बनते यही पतञ्जलि का अभिप्राय है । उनकी शास्त्रविषयता के लिए इसीलिए प्राथमकल्पिक गुण, क्रिया आदि का आरोप उनमें करना पड़ता है । इनसे भी यदृच्छा रूप अर्थ के बोध में पतञ्जलि को कोई आपत्ति नहीं है । टि, घु, भ आदि पाणिनि आदि शिष्टों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण साधु हैं अतः शास्त्रों के विषय बनते हैं । यदृच्छा रूप अर्थों में दोनों प्रकार के

1- त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः- जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छा शब्दाः । म०भा० "ऋलृक्"

2- "डित्थादिषु प्रकृत्यर्थव्यतिरिक्तप्रत्ययार्थाभावाद् भावप्रत्ययान्तवृत्तिर्न प्राप्नोति डित्थत्वम्" इत्याशङ्क्य "प्राथमकल्पिकडित्थेन कृतां क्रियां गुणान् वा यः कश्चित् करोति स उच्यते"डित्थत्वं त एतदेवं डित्थाः कुर्वन्ति ।
वै०सि०ल०म०पृ० 26 में उद्धृत ।

यदृच्छा शब्दों की प्रवृत्ति होती है ।[1] अत: शब्द प्रवृत्ति-निमित्त को चार ही प्रकार का माना गया है ।

सिद्धान्तत: वैयाकरणों का यही मत है कि शब्द का सङ्केतग्रह शब्द की उपाधि में होता है तथा यह उपाधि जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा रूप है ।

साहित्यशास्त्रियों का मत :

वैयाकरणों के समान साहित्यशास्त्रियों ने शब्द के प्रवृत्तिनिमित्तों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण कर माना है कि शब्द की उपाधि अर्थात् जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा में सङ्केतग्रह होता है । दण्डी ने "स्वभावोक्ति" अलङ्कार के निरूपण में स्पष्ट किया है कि जाति, क्रिया, गुण एवं द्रव्य के स्वभावकथन को स्वभावोक्ति अलङ्कार मानना चाहिए ।[2] इन्होंने चारों पदार्थों का अलग-अलग उदाहरण भी प्रस्तुत किया है । इसका विवेचन आगे किया जायेगा ।

कौन शब्द है तथा शब्द का क्या वाच्य है इसके व्याख्यान को दुर्गम मानने वाले भामह,द्रव्य, जाति, गुण, एवं क्रिया रूप भेद से चार प्रकार के शब्दों को स्वीकार करते हैं । इनके अनुसार अन्य आचार्य डित्थ आदि यदृच्छा शब्दों को भी मानते हैं ।[3] इनका इङ्गित महाभाष्यकार की ओर है । भामह के समान रुद्रट भी मानते हैं कि वाचक शब्द से अभिधा व्यापार के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसके जात्यादि उपर्युक्त चार भेद होते हैं ।[4]

1= म0भा0 उद्योत ऋलृक् (शिवसूत्र)

2- काव्यादर्श 2/13

3- द्रव्यक्रियाजातिगुणभेदात् ते च चतुर्विधा: ।
यदृच्छा शब्दमप्यन्ये डित्थादि प्रतिजानते ।। भामह,का0अ0 6/21

4- रुद्रट, का0अ0 7/1

इनके अनन्तरभावी आचार्य मुकुलभट्ट का विवेचन महत्त्वपूर्ण है । इन्होंने शब्द की उपाधि में सङ्केत स्वीकार कर महाभाष्यकार के अभिमत का समर्थन किया है तथा जातिशक्तिवादियों के मत का खण्डन किया है । इनके अनुसार अपने अपने अर्थों का बोध कराने में प्रवृत्त होते हुए सभी शब्दों की प्रवृत्ति उपाधियों से उपरञ्जित विषय का बोध कराने के कारण उपाधिमूलक हुआ करती है।

गुण, क्रिया, एवं यदृच्छा शब्द जाति शब्द ही हैं अत: चार प्रकार की शब्दप्रवृत्ति के अनुपपन्न होने के कारण जाति को ही पदार्थ मानने वाले मीमांसकों के मत का खण्डन करते हुए इन्होंने कहा है कि गुणशब्द, क्रियाशब्द एवं यदृच्छाशब्दों का ग्रहण जाति शब्द के रूप में नहीं हो सकता। गुणशब्दों एवं क्रियाशब्दों के अभिधेय व्यक्ति में परस्पर भेद होते हुए भी जो एकाकार प्रतीति होती है उसका हेतु गुण एवं क्रियारूप उपाधियों का होना है जाति नहीं । यह भाष्यकार पतञ्जलि का तात्पर्य है । मुकुलभट्ट उदाहरण प्रस्तुत कर पतञ्जलि के अभिमत का समर्थन करते हैं । जैसे एक ही मुख तेल, तलवार, जल और आदर्श आदि उपकरणों के भेद से अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है उसी प्रकार एक ही शुक्ल आदि गुणनिमित्तक भिन्न-भिन्न देश और काल में विविधसामग्रियों से उत्पन्न शङ्ख आदि आश्रयविशेष के कारण विविधरूप में अभिव्यक्त होता हुआ वैचित्र्य को प्राप्त करता है । गुण के समान क्रिया शब्दों के वाच्य पचन आदि अर्थों , डित्थ आदि शब्दों तथा डित्थ आदि अर्थों में भी आश्रयों के भेद के कारण भेद प्रतीत होता है वस्तुत: एकाकार प्रतीति के कारण ये सब एक ही हैं । इस प्रकार गुण क्रिया एवं यदृच्छा शब्दों के एक ही होने के कारण अनेकसमवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का लक्षण नहीं घट सकता । अत: केवल जाति को प्रवृत्तिनिमित्त न मानकर जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा चारों को प्रवृत्तिनिमित्त माना गया है । प्रवृत्तिनिमित्तों के भेद के कारण शब्द तथा अर्थ भी चार प्रकार के सिद्ध होते हैं । महिमभट्ट ने जाति, गुण, क्रिया, एवं यदृच्छा के स्वरूपों का भी विश्लेषण किया है काव्यप्रकाशकार मम्मट के अभिमत के विवेचन में वह स्पष्ट किया जायेगा ।

महिमभट्ट :

नाम शब्दों की सत्त्व प्रधानता का निर्देश करते हुए महिमभट्ट ने प्रतिपादित किया है कि शब्द के प्रवृत्ति निमित्त जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य हैं । इनके आधार पर नाम शब्द अनेक प्रकार के हो जाते हैं । उदाहरण के लिए घट:, पट: आदि जातिवाचक, शुक्ल, नील आदि गुणवाचक, पाचक, पाठक आदि क्रियावाचक तथा दण्डी, विषाणी आदि द्रव्यवाचक शब्द हैं ।[1] इन्होंने यद्यपि साध्यसाधन भाव के भेद बताते हुए पदार्थ को जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य इन चार भेदों में विभक्त माना है[2] तथापि साहित्यिकों की परम्परा से भिन्न केवल क्रिया को ही समस्त जाति, गुण, द्रव्य शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त मानकर महिमभट्ट ने अपनी मौलिक विचारधारा को प्रतिपादित किया है । इनके अनुसार सम्पूर्ण नाम शब्दों की क्रिया ही प्रवृत्ति निमित्त है, अन्य नहीं।अत: ये शब्द जात्यादिवाचक न होकर मात्र क्रिया के वाचक हैं । अपने अपने अर्थों में प्रवृत्त होते हुए घटादि शब्द अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा प्रवृत्तिनिमित्तभाव से घटनादि क्रिया का ही आश्रय लेते हैं घटत्व आदि जाति का नहीं । यह घटनादि क्रिया घटत्व आदि जाति के साथ रहे या स्वतन्त्र, उसके प्रवृत्तिनिमित्तत्त्व में कोई व्याघात नहीं आता।घट शब्द जब तक घटनक्रिया से विरहित रहने के कारण घटस्वरूप को नहीं प्राप्त करता तब तक घटत्व जाति रहने पर भी

1- तत्र सत्त्वप्रधानानि नामानि । तान्यपि बहुप्रकाराणि सम्भवन्ति जाति-गुणक्रियाद्रव्याणां तत्प्रवृत्तिनिमित्तानां बहुत्वात् । तद्यथा घट: पट: जातिशब्द:, शुक्लो नील इति गुणशब्द: पाचक: पाठक इति क्रियाशब्द:, दण्डी विषाणीति द्रव्यशब्द: । व्यक्तिविवेक पृ0 28

2- पदार्थस्य च जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदेन भेदात् ।
व्यक्तिविवेक पृ0 54.

घट शब्द से व्यवहारयोग्य नहीं रहता । यदि बिना घटन क्रिया के ही घट व्यवहार होता तो पट भी घट कहलाने का अधिकारी हो जाता क्योंकि जिस प्रकार घट में घटनक्रिया का अभाव है उसी तरह पट में भी । दोनों में घटकर्तृत्वाभाव होने से घट तथा पट में कोई भेद नहीं होगा । इसी प्रकार शुक्लत्व क्रिया को प्राप्त हुए बिना कोई वस्तु शुक्ल नहीं कही जा सकती, तथा च बिना पचनक्रिया के किसी को पाचक नहीं कहा जा सकता । अत: घटनक्रियाकर्तृत्वरूप घटत्व को घट शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त समझना चाहिए, केवल घटत्व (जाति) को नहीं । उसी घटनक्रियाकर्तृत्व को यहाँ घटनक्रिया कहा गया है । यहाँ पर आचार्य ने एक विशेष बात यह कही है कि जो क्रिया प्रवृत्तिनिमित्त है उसमें घटत्व जाति का भी योग रहता है। क्रिया जाति से युक्त रहती है घटत्व के योग से क्रिया के प्रवृत्तिनिमित्तत्व को कोई व्याघात नहीं होता । अनुद्भूतावस्था में घटत्वयुक्त होने पर भी घटपदार्थ में घटनक्रिया से युक्त हुए बिना घट शब्द का विषय नहीं बनता । जाति को प्रवृत्तिनिमित्त मानने वाले आचार्य जाति को नित्य मानते हैं। जाति प्रलय या ध्वंस की अवस्था में भी रहती है किन्तु उस अवस्था में पदार्थ के लिए घट आदि शब्द का प्रयोग नहीं होता है । जब पदार्थ घटन क्रिया द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तभी व्यवहार्य होता है तथा उसमें घट पट आदि का भेद स्पष्ट हो जाता है । अत: पदार्थों में विद्यमान घटन-क्रिया ही शब्दों के प्रवृत्ति का निमित्त है ।[1]

1- केचित्त पुनरेषां क्रियैवैका प्रवृत्तिनिमित्तमिति क्रियाशब्दत्वमेव सर्वेषां नाम पदानामभ्युपगच्छन्ति । तथा हि घटादि शब्दा: स्वार्थे प्रवर्तमाना: घटनादिक्रियामेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिभावेनावलम्बमाना दृष्यन्ते न घटत्वादि सामान्यम् । सा चैषा घटनक्रिया घटत्वसामान्ययोगादन्यथा वास्तु नैतावतास्या प्रवृत्तिनिमित्तत्वव्याघात: । न च सत्यपि घटत्वसामान्ये स्वयमघटन् घटात्मतामनापद्यमानएवासौ घटव्यपदेशविषयो भवितुमर्हति । एवं हि पटोऽपि घटव्यपदेशविषय: स्यात् घटनक्रियाकर्तृत्वाभावाविशेषात् । नहि शुक्लत्वमनापद्यमान एवार्थ: शुक्ल इतिव्यपदेष्टुं शक्यते अपचन्नेव पाचक इति । तस्माद्घटनक्रियाकर्तृत्वलक्षणमेव घटत्वं घट-शब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तमवसेयम् । न घटत्वमात्रम् । तदेव चेह घटनमित्युक्तम्।
व्य० वि० पृ० 3 ·

शाकटायन आचार्य समस्त शब्दों को धातुज मानते हैं । इनके मत से भी घटन आदि क्रिया घट आदि शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त है । घट आदि शब्द चेष्टार्थक घट् आदि धातु से अजादि प्रत्यय करने पर निष्पन्न होते हैं । किन्तु आचार्य महिमभट्ट इनके मत में विप्रतिपत्ति प्रदर्शित करते हुए मानते हैं कि यह क्रिया का स्वरूप तो शब्द का व्युत्पत्ति-निमित्त है प्रवृत्ति-निमित्त नहीं है । धातुरूप क्रिया में प्रत्यय लगने पर हुई शब्द की निष्पत्ति व्युत्पत्ति है इस व्युत्पत्ति का निमित्त तो क्रिया शब्द ही है । जबकि प्रवृत्तिनिमित्त निष्पन्न शब्द के प्रयोग से सम्बन्धित है । निष्पन्न शब्द का प्रयोग जिस निमित्त पर आश्रित रहता है वह प्रवृत्ति-निमित्त है । इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त तथा व्युत्पत्तिनिमित्त दोनों परस्पर भिन्न हैं । महिमभट्ट व्युत्पत्तिनिमित्तवाद का निराकरण कर क्रिया को शब्द का प्रवृत्ति निमित्त मानते हैं ।[1]

समस्त विवेचन को सार रूप में प्रस्तुत करते हुए इन्होंने पुनः कहा है कि घटनक्रियायुक्त पदार्थ को ही घट समझना चाहिए, घटनक्रियारहित घट रूप नहीं हो सकता । अन्यथा घटत्वाभाव के घटवत् पट में भी रहने के कारण पट भी घट हो सकता है । यह घटन क्रिया तदात्मत्वापत्ति है। विभिन्न रूप में पदार्थों को भासित करने वाला ईश्वर का निर्माण इसका मूल कारण है । शब्दों की व्युत्पत्ति में कोई भी अर्थ कारण हो सकता है, किन्तु शब्दों की प्रवृत्ति में सत्ताप्राप्ति रूप क्रिया ही अकेले कारण बनती है । क्रिया में ही कर्ता अर्थ के लिए क्विबादि प्रत्यय होते हैं ।[2] नाम शब्दों से प्रतीत होने वाला अर्थ सत्ता प्राप्त कर लेने के अनन्तर ही शब्दवाच्य

1- व्यक्तिविवेक पृष्ठ 33

2- व्य०वि० पृ० 38·

होता है इस अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए महिमभट्ट लिखते हैं कि अश्व के असदृश क्रियावाले का अश्वत्वासादक अनुचित है । पदार्थगत वैचित्र्य के कारण सुरता के विषय में यह आसादन रूप व्यापार घट आदि जड़ पदार्थों में भी वटनादि क्रिया के समानसम्भव है । इसीलिए धातुकार आचार्य पाणिनि ने शब्द एवं मुख के एकदेश "गण्ड" सत्त्वप्रधान नाम को धात्वर्थ माना है । इसी प्रकार "विपच्य घटोभवति" में इसकेक्त्वा की पूर्वकालता घटनक्रिया की अपेक्षा समझी जानी चाहिए भवन क्रिया की अपेक्षा नहीं अन्यथा समन्वय नहीं बनता तथा वह बहिरङ्ग भी है । उदाहरण के लिए "अयमधिश्रित्य पाचको भवति इस वाक्य में पाक की अपेक्षा अधिश्रयण में पूर्वकालता प्रतीत होती है अतः नामपदों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह अर्थ सत्ता को बिना प्राप्त किए शब्दवाच्यता के योग्य नहीं होता इस प्रकार अस्ति भवति आदि सामान्य क्रियामात्र हैं । ये अन्तरङ्ग हैं अतः वक्ता इनका अनिवार्य रूप से प्रयोग नहीं करते । पाक आदि विशिष्ट क्रियायें बहिरङ्ग हैं, ये वाक्य में कभी प्रयुक्त होती हैं कभी नहीं अतः इनका प्रयोग आवश्यक होता है ।[1] लोक में घट आदि शब्द अपने अपने अर्थों में अपने प्रवृत्ति के निमित्त विशेष को पा लेने पर ही प्रवृत्त होते हैं । पदार्थ की स्वरूप भूतवस्तु ही उनकी प्रवृत्ति का निमित्त हो सकती है घटत्व आदि घट आदि पदार्थ के स्वरूपभूत नहीं है । उनके आधार पर उनसे भिन्न घटादि वस्तु के लिए शब्द की प्रवृत्ति मानना उचित नहीं है क्योंकि भिन्नत्व तदितर समस्त पदार्थों में रहेगा । अतः घट घटस्वरूप घटत्व के कारण ही घटशब्दवाच्य बनता है । यह स्वरूपभूत घटत्व ही सादृश्य से प्रतीत होता है इसलिए इसी को घटत्वापत्ति रूप क्रिया कह दिया जाता है, यही क्रिया घटना है यह घटात्मता रूपी होती है । महिमभट्ट ने साहित्यशास्त्र में इस नवीन धारणा का प्रतिपादन बहुत सूक्ष्मता से किया है । इनका यह सत्ताक्रियावाद भर्तृहरि के क्रियाविवेचन से पूर्णतः प्रभावित है ।

1- वही पृ० 43.

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने "भूवादयो धातवः" §पा०सू० 1/3/1§ सूत्र में क्रिया का स्वरूप प्रतिपादित किया है । क्रिया अत्यन्त अदृश्य है, इसका गर्भस्थ शिशु की तरह प्रत्यक्ष नहीं होता यह अनुमेय होती है । समस्त साधनों की विद्यमानता में "पचति" का प्रयोग होता है कभी नहीं भी होता । अतः अनुमान होता है कि जिस साधन की उपस्थिति में पचतिव्यवहृत होता है वह अवश्य क्रिया है अथवा देशान्तरप्राप्तिलक्षण कार्य से क्रिया का अनुमान किया जाता है । स्थानान्तरण आदि में जो व्यापार होता है वही क्रिया है । इन्होंने क्रिया को सामान्यभूत माना है ।[1] भाष्यकार पतञ्जलि के इस विवेचन को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने माना है कि जितना भी सिद्ध या असिद्ध साध्यत्वेन वर्णित होता है वह क्रम के प्रतीत होने के कारण क्रिया कहलाता है ।[2] प्रवृत्तिलक्षण प्रयत्नरूप यह क्रिया नित्य है तथा अनपायिनी है क्रिया ही साधन है समस्त साधन क्रियामूलक है । जिस व्यापार के अनन्तर फलनिष्पत्ति होती है वही क्रिया है । पतञ्जलि को अभिप्रेत क्रिया के सामान्यभूतत्व के आधार पर भर्तृहरि ने जाति को क्रिया माना है जैसे जाति एक होने पर भी अनेकत्र समवाय सम्बन्ध से रहती है वैसे ही क्रिया भी । पचति इस एक क्रिया के भीतर अधिश्रयण आदि अनेक क्रियाएँ हैं । प्रत्यर्थनियत अधिश्रयणआदि का भी एक सामान्य स्वरूप है अधिश्रयण आदि के साथ समवाय रूप में जिस सर्वविषय सामान्य की अभिव्यक्ति होती है वह पचति का अर्थ है । क्रिया के अवयव के आधार पर जाति अभिव्यक्त होती है अतः जाति के कारण नित्य होते हुए भी क्रियाजाति में आश्रय के सहारे पौवापर्य के रूप में क्रमिकता और साध्यत्व बने रहते हैं । क्रिया जाति में साधन की आकाङ्क्षा अपने अवयवों

1- म०भा० 1/3/1

2- यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते ।। वा०क्रि० स० ।

के द्वारा होती है । अन्त में भर्तृहरि ने सत्ता क्रियावाद का प्रतिपादन करते हुए माना है कि सत्तारूप जाति ही क्रिया है ।[1] इनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ का एक सत्य स्वरूप है वही जाति है, उसे ही परमसत्ता अपरसामान्य महासत्ता आदि कहा जाता है। सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। विचित्रशक्तियोग के बल से वह सत्ता स्वयं भोक्ता, भोग्य, साधना आदि रूप में व्यवहार का कारण होती है, गोत्वादि जाति इसी महासत्ता के विवर्तरूप हैं यही सम्बन्धिभेद से गोत्व आदि जातिरूप में आभासित होती है । समस्त शब्द सत्ता में व्यवस्थित हैं। इस सत्ता को प्रातिपदिकार्थ तथा इसी को धात्वर्थ कहते हैं।[2] यह नित्य है यही सत्ता भाव के विकारभूत घटादि में जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, नश्यति इन छह अवस्थाओं को प्राप्त होती है । साधन के परिस्पन्द के कारण यही सत्ताक्रमरूप को प्राप्त होकर क्रियारूप में अभिव्यक्त होती है ।

महासामान्यरूप महासत्ता क्रिया है साधनों के व्यापार से कर्ता, कर्म आदि साधनों के क्रियाभेद से सत्ता ही समवायिनी होती है । महासत्ता का क्रियाजातित्व सिद्ध है । व्यापारों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली सत्ता आश्रयों के भेद से भेदयुक्त हुई क्रिया कहलाती है ।[3] भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित इसी सत्ताक्रियावाद के आधार पर महिमभट्ट ने क्रिया को ही शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त माना है तथा भर्तृहरि के समान प्रवृत्तिनिमित्त क्रिया में घटत्व जाति का योग भी स्वीकार किया है ।

1- स्वव्यापारविशिष्टानां सत्ता वा कर्तृकर्मणाम् ।
क्रियाव्यापारभेदेषु सत्ता वा समवायिनी ।। वा0क्रि0स0 22

2- तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते । वा0जा0स0 34

3- वा0क्रियामुद्देश ।

शब्दप्रवृत्ति निमित्त के विषय में वाग्देवतावतार मम्मट का विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है । इन्होंने काव्यप्रकाश में वैयाकरणों, मीमांसकों, नैयायिकों एवं बौद्धों के अभिमत का यथावत् निरूपण किया है ।

साक्षात् सङ्केतित अर्थ का अभिधान करने वाले शब्द वाचक शब्द हैं । यद्यपि व्यवहारनिर्वाह की दृष्टि से व्यक्ति ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के योग्य है तथापि आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष के कारण व्यक्ति में सङ्केतग्रह सम्भव नहीं है अत: उपाधि अर्थात् जाति, गुण, क्रिया एव यदृच्छा रूप अर्थों में सङ्केतग्रह होता है तथा शब्द भी इन्हीं चारों भेदों से चार प्रकार के होते हैं । वैयाकरणों का यह मत साहित्यशास्त्रियों में अधिक अङ्गीकृत था । काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश में इस सिद्धान्त का साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन करते हुए जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा की व्याकरण के आधार पर व्याख्या प्रस्तुत करते हैं ।

शब्दव्यापार विचार में इन्होंने माना है कि जाति, क्रिया, गुण और संज्ञाएं वाच्य अर्थ हैं तथा इनके बोधक सङ्केतयुक्त ध्वनियाँ वाचक शब्द हैं । जिस शब्द में सङ्केतग्रह नहीं हुआ रहता उससे अर्थ की प्रतीति नहीं होती अत: शब्द का जिस अर्थ में सङ्केत है वह उसका अर्थ है । शब्द से सर्वप्रथम प्रतीत होने के कारण प्रसिद्ध अर्थ को मुख्यार्थ कहते हैं इस मुख्यार्थ में शब्द की विश्रान्ति नहीं होती मुख्यार्थ को अभिधेयार्थ तथा वाच्यार्थ भी कहते हैं । अतएव जाति आदि को वाच्यार्थ कहा गया है । लोकव्यवहार में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति ग्रहण एवं त्याग का विषय व्यक्ति होता है तथापि आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों के कारण व्यक्ति में सङ्केतग्रह सम्भव नहीं है तथा गौ: शुक्ल: चल: डित्थ: पदों का एकार्थत्वेन बोध न हो अत: शब्दों की उपाधि में ही सङ्केत मानना चाहिए ।

1- जाति: क्रियागुण: संज्ञा वाच्योऽर्थ: समितध्वनि: । (कारिका) अगृहीत सङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतिपत्तेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति । तेन समित: सङ्केतितो ध्वनि: शब्दो यत्र सोऽर्थ: । पूर्वमुपलभ्यमानत्वान्न तु विश्रान्तिधामत्वान्मुख्य इति प्रसिद्धो वाच्यो भिधेयोऽर्थ: । तथा चाहजातिरित्यादि । इह यद्यपि प्रवृत्तिनिवृत्तिविषया व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद्व्यभिचाराच्च तत्र तत्र सङ्केत: कर्तुं न पार्यत इति गौ: शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनामनेकार्थत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति च शब्दानामुपाधावेव सङ्केत: । शब्दव्यापारविचार पृ0-2

उपाधि का अभिप्राय है जाति, गुण क्रिया एवं यदृच्छा । मम्मट ने जाति को "पदार्थस्य प्राणप्रद:" कहकर स्पष्ट किया है कि पदार्थों में व्यवहार-योग्यता जाति के कारण है, बिना जाति के व्यवहार का निर्वाह सम्भव नहीं है । इनका जाति का यह लक्षण भर्तृहरि द्वारा विवेचित जाति के स्वरूप पर आधारित है । भर्तृहरि की मान्यता है कि वस्तु का व्यवहार जाति के बिना असम्भव है समस्त व्यवहार जाति पर ही आश्रित है । संसार में सम्पूर्णवस्तुओं का भिन्नाभिन्न रूप व्यवहार जाति के संसर्ग होने पर ही होता है ।[1] वस्तुओं का एकत्व, नानात्व, सत्त्व एवं असत्त्व का व्यवहार जाति का वस्तु से सम्बन्ध मानने पर ही सम्भव होता है ।[2] समस्तशब्दों की प्रवृत्ति के हेतुभूत उपचारसत्ता के पारमार्थिक स्वरूप का विवेचन करते हुए भर्तृहरि के अभिमत की व्याख्या में हेलाराज ने प्रतिपादित किया है कि पूर्ण ब्रह्मतत्त्व का शब्दों से अभिधान असम्भव है अत: अविद्यापरिकल्पित घटत्व आदि जाति घटादि शब्द के व्यवहार का विषय बनते हैं । इसी प्रकार रक्त शब्द से गुण का अभिधान होता है । तात्त्विक दृष्टि से समस्त प्रपञ्च ब्रह्म है वह साक्षात् कभी भी शब्द व्यवहार का विषय नहीं हो सकता । वह मूलतत्त्व द्रव्य है जब द्रव्य में जाति का समावेश होता है तो वह व्यवहार के योग्य होता है । गाय को जाति के सम्बन्ध के बिना न गाय कह सकते हैं नही गाय से भिन्न जाति गोत्व का सम्बन्ध होने पर ही उसको गाय कहा जाता है ।[3] मम्मट ने वाक्यपदीय का उद्धरण प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर वाक्यपदीयकार की जाति विषयक धारणा का अनुगमन किया है ।[4]

1- भिन्ना इति परोपाधिरभिन्ना इति वा पुन:
   भावात्मसु प्रपञ्चोऽयं संसृष्टेष्वेव जायते । वा0क्रि0 स0 20
2- नैकत्वं नापि नानात्वं न सत्त्वं न च नास्तिता
   'आत्मतत्त्वेषु भावानामसंसृष्टेषु विद्यते । वा0जा0 स0 21
3- संसर्गदर्शने स्वतो गौर्न गौ: गोत्वाभिसम्बन्धाद् गौरिति ब्रह्मकल्पं साक्षादव्यवहार्यमिव द्रव्यं परोपाधीयमानरूपविशेषमनुपतति । वा0 हेलाराज पृ016।
4- शब्दव्यापारविचार पृष्ठ 3 एवं का0 प्र0 द्वि0उ0

मम्मट ने गुण को विशेषाधान का हेतु कहा है[1]। शुक्ल आदि गुणवाचक शब्द सत्ताप्राप्त वस्तु का सजातीयों से वैशिष्टय बताकर व्यावर्तन करते हैं। जाति का द्रव्य से नित्य सम्बन्ध होता है जबकि गुण का द्रव्य से सम्बन्ध रहता भी है नहीं भी रहता। यही जाति एवं गुण में भेदक तत्त्व है। मम्मट ने गुण के व्याख्यान में पतञ्जलि एवं भर्तृहरि का अनुसरण किया है। पतञ्जलि के अनुसार गुण द्रव्य से सम्बद्ध होता है, नहीं भी होता, अनेक प्रकार के द्रव्यों में दिखायी पड़ता है अतः जाति से भिन्न है। गुण उत्पाद्य तथा अनुत्पाद्य दोनों है अतः क्रिया एवं द्रव्य दोनों से भिन्न है।[2] भर्तृहरि ने गुण को अपने आधार से संसृष्ट अपने आधार द्रव्य का अन्य द्रव्य से व्यवच्छेदक तथा व्यावर्तकत्व रूप व्यापार से युक्त माना है। परतन्त्र होने के कारण इसको गुण कहते हैं।[3] द्रव्य में गुण को विशेषाधायक मानते हुए इनका अभिप्राय है कि द्रव्य स्वतः निरतिशय है तथा जाति भी सजातीयों से द्रव्य का व्यवच्छेदन नहीं कर सकती, जातिकृतप्रकर्ष का द्रव्य में अभाव होता है इस स्थिति में बुद्धिस्थ द्रव्यप्रकर्ष के निमित्तभूत गुणप्रकर्ष का द्रव्य में आधान करने के लिए व्यापारवान् संसर्गिलक्षण गुण अपने वैशिष्ट्य का द्रव्य में आधान करता हुआ द्रव्य प्रकर्षरूप वैशिष्ट्य के द्वारा द्रव्य काअन्य आश्रय से भेद प्रतिपादित करता है।

1- शब्द व्यापार विचार पृष्ठ 3

2- सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते। आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्व-प्रकृतिर्गुणः। महाभा० 4/1/44

3- संसर्गि भेदकं यद् सव्यापारं प्रतीयते।
गुणत्वं परतन्त्रत्वात्तस्यशास्त्र उदाहृतम्। वा०पदीय गुण स० का०।

4- सव्यापारो गुणस्तस्माद् स्वप्रकर्षनिबन्धनः।
द्रव्यात्मानं भिनत्त्येव स्वप्रकर्षं निवेशयन्।। वा०प० गुण का० 8

क्रिया के विषय में भर्तृहरि की मान्यता है कि सिद्ध अथवा असिद्ध समस्त व्यापार साध्यत्वेन अभिहित होता है अधिश्रयण से लेकर अवतारण तक के व्यापार समूह का क्रमरूप से आश्रय लेने के कारण वह व्यापार ही क्रिया है ।[1] मम्मट ने इसी आधार पर क्रिया की व्याख्याप्रस्तुत की है पूर्वापरतया जिसमें व्यापार होता है ऐसा साध्य क्रिया रूप है ।[2]

यदृच्छा उपाधि के विषय में मम्मट कहते हैं कि डित्थ, डवित्थ, चैत्र, देवदत्त यज्ञदत्त आदि संज्ञा शब्दों के पूर्व पूर्व वर्णानुभव से उत्पन्न संस्कार से युक्त अन्त्य वर्णबुद्धि के द्वारा अभिव्यक्त वर्णक्रम से शून्य स्फोटाख्य शब्दस्वरूप को वक्ता अपनी इच्छा से विशेषणतया डित्थादि अर्थों में कल्पित कर लेता है । अतएव संज्ञारूप ये शब्द यदृच्छा शब्द हैं तथा यदृच्छा रूप उपाधि के कारण यदृच्छा रूप अर्थ का प्रतिपादन करते हैं ।[3]यहाँ पर मम्मट ने यदृच्छा शब्दों का वही स्वरूप प्रतिपादित किया है जो महाभाष्कार को स्वीकृत था । इसी प्रकार मुकुलभट्ट ने भी व्याकरणशास्त्रानुमत जात्यादि शब्दों का स्वरूप स्पष्ट किया है, मम्मट एवं इनके जात्यादि स्वरूप विषयक विवेचन में भिन्नता न होने के कारण एक के स्पष्टीकरण से वह भी स्पष्ट हो जाता है अतः उसका पृथक् निरूपण नहीं किया गया ।

1- यावद् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वाद् सा क्रियेत्यभिधीयते ।। वा०क्रि०स० ।

2- साध्य: पूर्वापरीभूतावयव: क्रियारूप: । काव्यप्रकाश पृ.35

3- डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति ।
काव्यप्रकाश वहीं

उपाधि में सङ्केत ग्रह को प्रतिपादित करते हुए आचार्य मम्मट ने भाष्यकार पतञ्जलि के गौ: शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति:" वचन को प्रमाण माना है । इसके आधार पर इनको व्याकरण मत का अनुयायी माना जाता है । मम्मट ने विरोध अलङ्कार के जात्यादि चारों के आधार पर 10 भेद माना है । इसका विवेचन अलङ्कार प्रकरण में किया जायेगा । इससे भी इनको उपाधि में ही सङ्केत ग्रह अभीष्ट था ऐसी धारणा की पुष्टि होती है ।

मम्मट ने "शब्दव्यापार विचार" में जाति को ही प्रवृत्ति निमित्त मानने का खण्डन किया है । जाति को प्रवृत्ति निमित्त मानने वालों का अभिमत है कि दूध तथा शङ्ख आदि हैं आश्रय जिनके ऐसे शुक्ल आदि गुणों में जिस कारण "यह शुक्ल है" "यह शुक्ल है" ऐसा अभिन्न कथन एवं बोध होते हैं वह शुक्लत्व आदि जाति ही है । इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि का पाकादि क्रियाओं में पाकत्व जाति के कारण ही परस्पर भेद होने पर भी अभिन्न अभिधान एवं ज्ञान होते हैं ।

शुक, सारिका, बालक, वृद्ध आदि के द्वारा उच्चारण किए गए डित्थ आदि शब्दों में भेद होते हुए भी यह एक ही डित्थ शब्द है ऐसा अभिधान एवं बोध होता है तथा प्रतिक्षण परिवर्तन के कारण परस्पर भिन्न डित्थ आदि अर्थों में यह डित्थ पदार्थ है ऐसा अभिधान एवं ज्ञान होता है यहाँ भी डित्थत्वादि जाति ही हेतु हैं अत: शब्दों की चतुर्धा प्रवृत्ति अनुपपन्न है । इस शङ्का का निराकरण करते हुए मम्मट कहते हैं कि संस्थान, स्वरूप प्रमाण एवं वर्ण के अनुसार व्यक्तियों में परस्पर भेद होते हुए भी यह गाय चितकबरी है, यह गाय सफेद है इत्यादि प्रकार से परस्पर भिन्न गायों में एकता की प्रतीति का कारण जाति ही है । इसी तरह हंस, हार आदि, घृत, गुड आदि, शुकसारिकादि द्वारा उच्चरित डित्थ आदि शब्द तथा विविध अवस्थाओं में स्थित डित्थादि अर्थों में परस्पर भेद होते हुए भी हंस श्वेत है, हार श्वेत है, घी पक रहा है, गुड़ पक रहा है, यह डित्थ शब्द हैं, यह भी डित्थ शब्द है, यह डित्थ वस्तु है और यह भी डित्थ वस्तु इत्यादि में एकाकार प्रतीति

होने से इन गुण क्रिया यदृच्छा शब्दों एवं यदृच्छा अर्थों में एकरूपता अवश्य है अत: भिन्न पदार्थों में अभिन्नता के अभिन एवं प्रत्यय के हेतु जाति में गुणक्रियादि का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है अत: चारों ही जाति गुण क्रिया एवं यदृच्छा शब्दप्रवृत्तिनिमित्त हैं ।[1]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी अभिधाशक्ति का विवेचन करते हुए माना है कि संङ्केतित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है । यह सर्वप्रथम शक्ति है । सङ्केत ग्रह जाति, गुण, द्रव्य एवं क्रिया में होता है । आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष के कारण व्यक्ति में सङ्केतग्रह न होकर व्यक्ति की उपाधि में ही होता है ।[2] जाति, गुण, द्रव्य एवं क्रिया का स्वरूप इन्होंने भी मम्मट की तरह व्याकरणपरक ही प्रतिपादित किया है ।

पण्डितराज जगन्नाथ भी काव्यशास्त्रियों की परम्परा का अनुसरण करते हुए विस्तारपूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि अभिधाशक्ति के द्वारा शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह अभिधेय अर्थ जाति गुण क्रिया एवं यदृच्छा रूप है ।

इनमें से जाति गोत्वादि रूप है , विशिष्ट अवयव संस्थानों से अभिव्यङ्ग्य है । यह आश्रय गो आदि के प्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्षसिद्ध है । यही जाति गो आदि शब्दों का वाच्य है । जिस प्रकार घ्राण, रसना आदि शब्दों की घ्राणत्व एवं रसनात्व जाति का अनुमान होता है उसी तरह

1- संस्थानावस्थानप्रमाणवर्णै: भेदेऽपि व्यक्तीनां शाबलेयो गो: धावलेयो गोरित्याद्येकप्रत्ययहेतुत्वं जातेरेव । हंसहारादीनां घृतगुडादीनां शुकसारिकादीनां डित्थादिशब्दानां नानावस्थडित्थाद्यर्थानां चभेदेऽपि हंस: शुक्ल: , हार: शुक्ल: , घृतं पच्यते, गुडं पच्यते, डित्थशब्दो डित्थशब्द:, डित्थो डित्थ इत्येकाकाराविगीतनिबन्धनत्वादेकरूपत्वमेव गुणक्रियायदृच्छानामिति नैतासां भिन्नेष्वभिन्नाधान प्रत्ययहेतुर्जातिर्घटते इति चत्वार्येव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि शब्दव्यापार विचार , पृ० 5 ।

2- सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च । सा०द०, पृ० 27

अप्रत्यक्ष आश्रयों में रहने वाली जाति अनुमान सिद्ध भी है । व्यक्ति में सङ्केतग्रह न मानने का कारण इन्होंने भी आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष को माना है । प्रत्यासत्तिलक्षणारूप प्रत्यक्ष के द्वारा परिकल्पित व्यक्तियों में वाचकता नहीं मानी जा सकती । क्योंकि सामान्यप्रत्यासत्ति को नहीं माना गया है । सामान्य प्रत्यासत्ति मान लेने पर भी गौरवदोष तो रहेगा ही । जाति को इन्होंने भी प्राणप्रद कहा है । इसकी व्युत्पत्ति है "प्राणं व्यवहारयोग्यतां प्रददाति" इति । मम्मट द्वारा उद्धृत वाक्यपदीयकार के मन्तव्य को लिखकर इन्होंने व्याख्यात किया है कोई अपूर्व बात नहीं कही, उसका पुन: उपादान पिष्ट-पेषण ही होगा । इसी प्रकार शुक्लादि गुण को शुक्लादि पद का तथा क्रिया को चलनादि शब्दों का अभिधेय माना है । गुण, क्रिया एवं यदृच्छा को अभिधेय मानने में आनन्त्यादि दोषों का निराकरण करते हुए मम्मट के सदृश ही प्रतिपादित किया है कि गुण क्रिया एवं यदृच्छा वस्तुत: एक रूप ही हैं आश्रयों के भेद के कार भिन्न भिन्न रूप में प्रतीत होते हैं । यह भेद प्रतीति भ्रम ही है ।

यदृच्छात्मक अभिधेय के स्पष्टीकरण में इन्होंने कहा है कि वक्ता के द्वारा अपने इच्छा के अनुरूप डित्थ आदिपदों के प्रवृत्तिनिमित्तरूप में मान लिया गया धर्म यदृच्छात्मक है । पूर्वपूर्ववर्णानुभव जन्य-संस्कारसङ्कृत अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त होने वाला शब्दब्रह्मरूप अखण्ड स्फोट ही परम्परया डित्थ आदि संज्ञा शब्दों का वाच्य यादृच्छिक धर्म है । ऐसी वैयाकरणों की मान्यता है । आनुपूर्वी से अवच्छिन्न वर्णसमुदाय ही यादृच्छिक धर्म है यह कुछ अन्य आचार्यों का अभिप्राय है । इन दोनों मतों में विशेषण का ज्ञान हो जाने पर विशिष्ट व्यक्ति का ज्ञान होता है । तृतीय मत का उपपादन करते हुए इन्होंने कहा है कि केवल व्यक्तिविशेष ही यादृच्छिक धर्म है यही संज्ञा शब्दों का वाच्य है । इस मत में डित्थ आदि पद से प्रकारता विशेष्यता से रहित व्यक्तिमात्र का निर्विकल्पात्मक ज्ञान होता है । इस प्रकार शब्दों द्वारा व्यक्ति के भी अभिधेय होने के कारण उपाधि में ही सङ्केतग्रह होना चाहिए । जाति शक्तिवाद का भी इन्होंने निरूपण

किया है किन्तु "तदित्थं चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति दर्शनं व्यवस्थितम्" कह महाभाष्यकार को अभिमत चतुर्विधशब्दप्रवृत्ति को सिद्धान्ततः व्यवस्थित माना है ।[1]

इस प्रकार समस्त साहित्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों के प्रभाव में आकर जात्यादि प्रवृत्तिनिमित्तों के भेद के कारण अर्थ के भी जात्यादि चार रूपों को स्वीकार किया है । मुकुलभट्ट मम्मट आदि आचार्य जात्यादि के स्वरूप के स्पष्टीकरण में वैयाकरणों से पूर्णतः प्रभावित तो हैं ही उनका आदर के साथ प्रमाण रूप में उपन्यास भी करते हैं । इन्होंने मीमांसक आदि के अभिमत को अरुचि दिखाते हुए निराकृत कर सिद्धान्ततः वैयाकरणों को अभिमत शब्द की उपाधि में सङ्केत ग्रह स्वीकार किया है । महिमभट्ट ने भी क्रिया को ही प्रवृत्तिनिमित्त मानने का आग्रह वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि के ही प्रभाव में आकर ही किया है । वस्तुतः तो इन्हें भी जात्यादि चारों प्रकार के पदार्थ अभिप्रेत हैं क्योंकि इन्होंने साध्यसाधन भाव के विवेचन में पदार्थ के जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य भेद मानकर[2] उसके अनेक प्रकार का निरूपण किया है ।

1- रसगङ्गाधर पृष्ठ 138 से 147 तक ।

2- व्य० वि० पृ० 54·

तृतीय अध्याय

शब्द-शक्तियों का विवेचन

शब्द से अर्थ की प्रतीति के लिये वृत्ति का ज्ञान होना आवश्यक है । वृत्ति का अर्थ है - सामर्थ्यरूप शब्दव्यापार तथा यह शब्द-व्यापार शब्दार्थ सम्बन्धरूप है । इस सम्बन्ध के ज्ञात हो जाने पर ही शब्द से अर्थ की प्रतीति संभव हो पाती है । दिन भर में अनेक शब्द श्रुतिगोचर होते हैं किन्तु सभी शब्दों से समस्त अर्थों का ज्ञान संभव नहीं हो पाता, जिन शब्दों में वृत्ति का ज्ञान हो जाता है वे शब्द ही स्वसम्बद्धअर्थ का ज्ञान कराते हैं । "घट" शब्द से कम्बुग्रीवादिमान् घटपदार्थ ही प्रतीति का विषय बनता है, पटादि नहीं । यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न हो तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ की प्रतीति होने लगेगी । शब्द से व्यवस्थित अर्थबोध में सम्बन्ध ही कारण है ।[1] भर्तृहरि न उच्चरित शब्दों से तीन तत्त्वों की प्रतीति स्वीकार की है - 1.शब्द का स्वरूप 2.बाह्य अर्थ एवं 3.प्रयोक्ता का अभिप्राय । इन तीनों में स्वाभाविक सम्बन्ध होने के कारण ही तीनों की व्यवस्थित प्रतीति होती है । शब्द का स्वरूप रूप तथा बाह्य दोनों अर्थों के साथ वाच्यवाचकभावसम्बन्ध है । यह सम्बन्ध शक्ति का भी नियामक है । नागेश पद-पदार्थ के विशेष सम्बन्ध को ही "वाच्यवाचकभावापरपर्याय" शक्ति मानते हैं । इन्होंने वृत्तिज्ञान को अर्थ-ज्ञान का मुख्यसाधन माना है । इनके अनुसार अगृहीतवृत्तिक पुरुष को शब्दबोध नहीं हो सकता ।[2]

शब्द से अर्थप्रतीति के अनेक साधन हैं । आचार्य पाणिनि ने लोक-व्यवहार से अर्थ की प्रतिपत्ति स्वीकार की है, शब्दों में अर्थ बोधकता स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है, लोकप्रमाण से वह अभिव्यक्त हो जाती है ।[3] पाणिनि के अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हुए पतञ्जलि ने भी कहा है

1- शब्देनार्थस्याभिधाने सम्बन्धो हेतुः । अन्यथा सर्वं सर्वेण प्रत्याय्येत ।
वा०प० हेलाराज,पृ०122

2- तत्रागृहीतवृत्तिकस्य शाब्दबोधादर्शनात् ।

3- प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् । पा०सू० 1/2/56

कि लोकव्यवहार से शब्दों के अर्थ का बोध होता है । इस स्थिति में व्याकरण का कार्य है – साधु-असाधु के विवेक से धर्म एवं अधर्म की व्यवस्था करना ।[1] नागेश भी महाभाष्यकार का समर्थन करते हैं । इनके अनुसार बालक को सर्वप्रथम लोकव्यवहार से ही अर्थ का बोध होता है ।[2] शब्दशक्ति प्रकाशिका में आचार्य जगदीश ने वृद्धों के व्यवहार को ही प्रधान शक्तिग्राहक स्वीकार किया है तथा अन्य शक्ति ग्राहक साधनों की प्रवृत्ति बाद में स्वीकार की है ।[3]

शक्तिग्राहक अभिनयों का विवेचन :

शब्द के अतिरिक्त अभिनयों से भी अर्थ का बोध मानने वाले आचार्य भरत ने प्रतिपादित किया है कि अभिनय के सन्दर्भ में विभाव एवं अनुभाव लोकस्वभाव के अनुसार सिद्ध तथा लोकयात्रा का अनुसरण करने वाले हैं । अभिनयरूप विभाव एवं अनुभाव शब्दप्रयोग के बिना भी अनेक अर्थों के प्रत्यायक होते हैं । वाचिक, आंगिक आदि अभिनयों को आश्रय बनाने वाले अनेक अर्थों की प्रतीति कराने के कारण ये "विभाव" कहे जाते हैं । नाट्य में जिनसे वाचिक आदि अभिनयों के द्वारा अनेक प्रकार के अङ्गोपाङ्गों से सम्बद्ध अर्थों का अनुभव किया जाता है वे अनुभाव कहलाते हैं ।[4] अभिनयों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि वाणी एवं अङ्गों के अभिनय से अनेक अर्थों की प्रतिपत्ति होती है । इसीलिये लोक

1- लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते । म०भा०पस्पशा० पृ०45

2- वै०सि०ल०म०, पृष्ठ 17

3- शब्दशक्तिप्रकाशिका, का०20 ।

4- लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः ।
अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः ।। ना०शा० 7/6

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ।। ना०शा० 7/5

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ।। ना०शा० 7/4

में रत्यादि के उद्बोधक कारणों को काव्य एवं नाट्य में "विभाव" कहा गया है ।[1] सङ्केतों से अर्थबोध मानने का आधार महाभाष्य में प्रतिपादित एतद्विषयक विवेचन है । अर्थ को शब्द से बहिर्भूत न मानने वाले पतञ्जलि ने हाथ, आँख आदि सङ्केतों से अर्थज्ञान के महत्त्व को स्वीकार किया है । इनका विचार है कि शब्दप्रयोग के बिना भी अक्षिनिकोच, पाणिविहार आदि सङ्केतों से अनेक अर्थों की प्रतीति होती है ।

इस सन्दर्भ में कैयट ने यह प्रतिपादित किया है कि सङ्केतों से गम्यमान अर्थों में लोकव्यवहार कारण होता है । सङ्केत से स्वाभाविभिव्यक्त शब्दों के समान ही होती है । ये भावप्रकाशन के उत्तम साधन हैं। अक्षिनिकोचादि के द्वारा जिस अर्थ का बोध हो जाता है, उसके लिये शब्द प्रयुक्त नहीं होता ।[2]

आचार्यों के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सङ्केत उसी प्रकार अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ है जैसे शब्द । इतना अवश्य है कि सङ्केतों से जो अर्थबोध होता है, वह संदिग्ध तथा अधिक प्रयत्नसाध्य होता है । जबकि शब्दों से असंदिग्ध अर्थ का बोध होता है तथा वह अल्प-प्रयत्नसाध्य है । यास्क ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि शब्द व्यापक तथा अणुरूप होते हैं । अतः लोकव्यवहार के लिये शब्द से संज्ञायें की जाती हैं । आचार्य गङ्गेश सङ्केत से अर्थज्ञान स्वीकार करते हुए तत्त्वचिन्तामणि में अभिनयों की अर्थबोधकता शब्दों के स्मरण पर निर्भर मानते हैं । अभिनयों से अर्थबोध के प्रसङ्ग में अभिनयों के अनुसार शब्दस्मृति होती है तब उनसे

1- अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्थाः गम्यन्ते । अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च । म०भा० 2/1/34,35.

2- अक्षिनिकोचादिभिरप्यवगतेऽर्थे शब्दो न प्रयुज्यते । म०भा०,प्रदीप,2/3/1

अर्थ का बोध होता है । शब्द का व्यापक स्वरूप सभी को अभिप्रेत है । वह सर्वत्र व्याप्त रहता है । इसीलिये पतञ्जलि ने अर्थ को शब्द में ही अन्तर्भूत स्वीकार किया है । आचार्य भरत ने भी वाचिक अभिनय के निरूपण में स्पष्टरूप से कहा है कि वाणी की स्थिति में ही अङ्ग, नेपथ्य एवं सत्त्व वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ होते हैं ।[1] वैयाकरणों ने शब्दार्थ के सम्बन्ध को नित्य मानकर अर्थ की प्रतिपत्ति में शब्द की आवश्यक स्थिति का बहुशः विवेचन किया है ।

अर्थ की प्रतीति में सहायिका प्रतिभा का विवेचन :

साहित्यशास्त्रियों तथा वैयाकरणों ने अर्थज्ञान के लिए प्रतिभा को उत्तम साधन माना है । एक व्यक्ति जिस शब्द से किसी अर्थ को समझता है, उसी शब्द से दूसरा व्यक्ति उससे भिन्न अर्थ को समझता है । इसका कारण प्रतिभा ही है । सभी व्यक्ति अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार शब्दों के अर्थों को समझते हैं तथा ग्रहण करते हैं । निरुक्तकार यास्क ने ऋग्वेद के मन्त्र को उद्धृत कर उसका यह अभिप्राय माना है कि समान इन्द्रियों से युक्त, समानशास्त्र में परिश्रम किये हुए मनुष्य मनोगम्य अर्थों के ज्ञान में समान नहीं होते । कुछ तो ऊहापोह, धारण एवं वक्तृता में समर्थ हो जाते हैं किन्तु कुछ अप्रतिभावान् मनुष्य ऊहादि में समर्थ नहीं होते । जैसे - कुछ तालाबों में घुटने तक पानी रहता है, वे स्नान करने योग्य नहीं होते; कुछ तालाब कक्षपर्यन्त गहरे होते हैं तथा कुछ तालाब अपरिमित जलवाले होते हैं । उसी प्रकार कुछ मनुष्यों में अर्थबोध की क्षमता न के बराबर होती है, कुछ में स्वल्पमात्रा में रहती है तथा कुछ प्रज्ञा के कारण अपरिमित ज्ञान वाले

1- ना०शा० 14/2

होते हैं । प्रज्ञा के कारण ही अनेक अर्थ भासित होने लगते हैं ।[1]

काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा पर अधिक बल दिया है । सामान्य अर्थों का अवबोध लोकव्यवहार, गुरुपदेशादि से भी हो सकता है किन्तु विशिष्टकाव्योपयोगी अर्थ का ज्ञान प्रतिभावान् व्यक्ति को ही होता है।

काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भामह ने प्रतिभा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए माना है कि गुरुओं के उपदेश से मन्द बुद्धि के व्यक्ति शास्त्रादि का ज्ञान भले ही प्राप्त कर लें किन्तु काव्य में तो कुछ ही प्रतिभाशाली व्यक्ति गति प्राप्त कर सकते हैं ।[2] किस शब्द का किस अर्थ में किस स्थान पर प्रयोग करना उचित है इसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही जानता है ।

> द्वयंगतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिन: ।
> कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।
> - कुमार0 5/71

पद्य में "पिनाकिन:" पद का प्रयोग न करके "कपालिन:" पद के प्रयोग का अभिप्राय प्रतिभावान् व्यक्ति ही समझ सकता है । वाच्यार्थ तो दोनों का "शिव" ही किन्तु "कपालिन:" से "जुगुप्सा" अर्थ कवि का अभिप्रेत है ।

आचार्य दण्डी यद्यपि पूर्ववासनामूलक अद्भुत प्रतिभा... के न होने पर भी अभ्यासादि द्वारा उपासित सरस्वती के अनुग्रह से काव्यनिष्पत्ति

1- अक्षण्वन्त: कर्णवन्त: सखाय: मनोजवेष्वसमा बभूवु: ।
आदध्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वेददृश्रे ।। निरुक्त
पृ0 48.

2- गुरुपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत:।। भामह, काव्या01/5

प्रतिपादित करते हैं किन्तु इनकी धारणा यह कथमपि नहीं है कि प्रतिभा काव्य का मूलकारण नहीं है । इतना अवश्य है कि इन्होंने प्रतिभा के साथ-साथ अभ्यासकृत व्युत्पत्ति को भी पर्याप्त महत्त्व दिया है । कवित्वशक्ति की न्यूनता में भी शास्त्रादि में परिश्रम करने वाला व्यक्ति काव्यादि के निर्माण में समर्थ हो जाता है।[1]

आचार्य वामन का इस विषय में मन्तव्य है कि कवि दो प्रकार के होते हैं - अरोचकी और सतृष्णाभ्यवहारी । लक्षणया इनका अर्थ विवेकशाली तथा विवेकहीन है । विवेक के प्रतिभाजन्य होने के कारण प्रथम प्रकार के विवेकी कवि शासन योग्य हैं तथा अविवेकी शासन योग्य नहीं होते । इनका स्वभाव दूर नहीं हो सकता । इन्हें उपदिष्ट शास्त्र उसी प्रकार सार्थक नहीं होता जैसे विकृत जल को स्वच्छ कर देने वाला "कतक" कीचड़ को स्वच्छ नहीं कर सकता ।[2] वामन ने प्रतिभा को कवित्व का बीज माना है । प्रतिभा जन्मान्तरागत कोई विशिष्ट संस्कार ही है जिसके बिना काव्यनिष्पत्ति सर्वथा असंभव सी होती है और यदि किसी प्रकार काव्य बन भी जाय तो वह उपहासास्पद ही होता है ।[3] आनन्दवर्धन ने इसी तथ्य को प्रकारान्तर से व्यक्त करते हुएकहा है कि कवि का अव्युत्पत्तिकृत दोष शक्ति के कारण नहीं प्रतीत होता जबकि कवि का

1- काव्यादर्श प्रथम परिच्छेद/ 104-5

2- अरोचकिन: सतृणाभ्यवहारिणश्च कवय: ।
पूर्वे शिष्या: विवेकित्वात् ।
नेतरे तद्विपर्ययात् ।
न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत् ।
न कतकं पङ्कप्रसादनाय । वामन·काव्य0 1/1-5

3- कवित्वबीजं प्रतिभानम् । --- जन्मान्तरागतसंस्कारविशेष: कश्चित् ।
यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते । निष्पन्नं वा स्यायतनं स्यात् ।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति 1/16·

अशक्तिकृत दोष सद्यः प्रतीत हो जाता है ।[1]

प्रतिभा-विवेचन में रुद्रट भामह के अधिक निकट हैं । सुन्दर काव्य की रचना में असार अंश के निवारक तथा सारभूत अर्थ के ग्राहक होने के कारण शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों को आवश्यक मानते हुए इन्होंने कहा है कि जिसके कारण समाहितचित्त में अभिधेय अर्थ का सदैव अनेक प्रकार से अवबोध होता रहता है, उसे ही "शक्ति" कहते हैं जिसकी अन्य संज्ञा "प्रतिभा" भी है ।[2] प्रतिभा दो प्रकार की होती है - 1- सहजा तथा 2- उत्पाद्या । जन्म के साथ उत्पन्न होने के कारण प्रतिभा सहजा कहलाती है तथा यह उत्पाद्या से प्रशस्य होती है क्योंकि सहजा प्रतिभा अपने उत्कर्ष के लिये ही केवल अभ्यास की अपेक्षा रखती है, उत्पत्ति के लिये नहीं ।[3] उत्पाद्य प्रतिभा तो अवान्तरकाल में अध्ययनादि से प्राप्त व्युत्पत्ति रूप अन्य हेतु से कथञ्चित् ही उत्पन्न होती है । यह कष्टसाध्य है ।[4]

आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतिभा का सविस्तार विवेचन किया है । इनका विचार यह है कि रसस्वभावरूप प्रतीयमान अर्थवस्तु को प्रवर्तित करती हुई महाकवियों की सरस्वती अलौकिक परिस्फुरणशील प्रतिभा विशेष को प्रकट करती है ।[5] परिस्फुरणशील होने के कारण यह प्रतिभा सहृदयजनों के प्रति प्रतिभा के विषयीभूत रस के आवेश से, आभासित हो जाती है; इसका

1- अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ।। -ध्वन्यालोक,3/6 की वृत्ति

2- मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ।। काव्यालङ्कार,1/15

3- प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति ।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ।। वही, 1/16

4- स्वस्यासौ संस्कारे परमपरं यतो मृगयते हेतुम् ।
उत्पाद्या तु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या जन्यते परया ।। वहीं, 1/17

5- सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।ध्वन्यालोक,1/6

अनुमान नहीं करना पड़ता । आचार्य आनन्दवर्धन के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत के वचनों को उद्धृत किया है कि प्रतिभा के कारण ही नायक, कवि एवं श्रोता का समान अनुभव होता है । अभिनवगुप्त अपूर्ववस्तु के निर्माण में समर्थ "प्रज्ञा" को "प्रतिभा" मानते हैं । रसावेश से जनित वैशद्ययुक्त सौन्दर्यरूप काव्य निर्माण की क्षमता ही "प्रतिभाविशेष" है ।[1] भरतमुनि के द्वारा अभिहित वचन "कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते" की व्याख्या में इन्होंने प्रतिपादित किया है कि वाचिक आदि अभिनय के द्वारा वर्णनानिपुणकवि का जो साधारण जन्मान्तरगत अनादिप्राक्तन वासना संस्कार एवं प्रतिभास्वरूप लौकिकविषयों से अनुत्पाद्य राग है; उसी को देश, कालादि भेदभाव के कारण सामान्य रूप से आस्वादयोग्य बनाता हुआ भाव चित्तवृत्ति लक्षण ही कहलाता है ।[2] इससे कवियों की प्रतिभा का ज्ञान होता है । अभिव्यक्त प्रतिभा विशेष के आधार पर ही कवि की महाकवि के रूप में गणना होती है । प्रतिभा के कारण ही कालिदास आदि कुछ ही कवियों को महाकवि कहा जाता है जबकि इस विचित्र संसार में न जाने कितने महाकवि हुए होंगे किन्तु आज उनका नाम भी कोई नहीं जानता ।

आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनिप्रपञ्च का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के अनन्तर प्रतिपादित करते हैं कि गुणीभूतव्यङ्ग्य सहित ध्वनि के विभिन्न मार्गों के आश्रयण के कारण कवियों का प्रतिभागुण अनन्त हो जाता है ।[3]

1- ध्वन्यालोक-लोचन, 116, पृ093

2- वागङ्गमुखरागात्मनाभिनयेन सत्त्वलक्षणेन चाभिनयेन करणेन कवे: वर्णनानिपुणस्यय: साधारण: अन्तर्गतो नादिप्राक्तनसंसकार-प्रतिभानमयो न तु लौकिकविषयजो रागस्तमेव देश कालादिभेदाभावत् सर्वसाधारणी-भावेन भावयन् आस्वादयोग्यी-कुर्वन् भावश्चित्तवृत्ति लक्षण एवोच्यते । -ना0शा0अभिनव भारती 7/2,पृ0790

3- ध्वनेर्य: स गुणीभूतव्यङ्गयस्याध्वा प्रदर्शित: । अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुण: ।। ध्वन्यालोक, 4/1

प्रतिभा के आनन्त्य के कारण पूर्व कवियों द्वारा प्रतिपादित अर्थों से युक्त भी वाणी में नूतनता आ जाती है ।[1] वर्णनीयवस्तु परिमित है, आदि कवि द्वारा उसके वर्णन हो जाने के बाद पुन: उस वस्तु के विषय का प्रतिभान तज्जातीय ही होता किन्तु प्रतिभा के आनन्त्य के कारण काव्यवाक्यों में नवीनता आ जाती है । ध्वन्यालोक में प्रतिभातत्त्व के विवेचन के प्रसङ्ग में अभिनवगुप्त ने भी आनन्दवर्धन के समान नित्य नूतनता का उन्मेष करने वाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है । इनका अभिप्राय यह है कि बुद्धि में अनेक प्रकार के सुन्दर भावों का जो स्फुरण हो जाता है वह प्रतिभाकृत ही है ।[2]

इसीलिए अपूर्व अर्थात् असामान्य वस्तु का निर्माण करने में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहा गया है । इन्होंने कवि-प्रतिभा को इसी व्यापक प्रतिभा का विशिष्ट रूप स्वीकार किया है । इस प्रतिभा विशेष से सहृदय कवि रसावेश की स्थिति में काव्यनिर्माण की क्षमता प्राप्त करता है ।[3] आनन्दवर्धन अविवक्षितवाच्य ध्वनि आदि तथा रसादि के पूर्वार्थानुगम होने पर भी नवत्व का निरूपण कर मानते हैं कि रसभाव आदि का तथा प्रत्येक विभाव, अनुभाव आदि का पूर्णरूप से आश्रय लेने के कारण प्रतिभा का आनन्त्य है । विभावादि के एक-एक प्रभेद की अपेक्षा से भी सुकवियों द्वारा उनकी इच्छावश उपनिबध्य-मान अन्य प्रकार से स्थित संसार का व्यवहार दूसरे प्रकार का हो जाता है । आनन्दवर्धन ने इसके समर्थन में किसी महाकवि के वचन को प्रमाणत्वेन उपन्यस्त किया है-महाकवि की वह वाणी सर्वोत्कर्षशालिनी है जो रमणीयता

1- अतोह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि । वही 4/2

2- प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता । अभिनव भारती, खण्ड-।

3-"प्रतिभा" अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा । तस्या "विशेषो" रसावेश-वैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणक्षमत्वम् । ध्व0 लोचन ।/6

से रहित पदार्थों को रमणीय रूप में प्रतिपादित कर देती है ।[1] काव्यार्थ की निरन्तरता का कारण प्रतिभा को मानते हुए आचार्य ने जोरदार शब्दों में कहा है कि यदि प्रतिभागुण विद्यमान हो तो ध्वन्यादि के समाश्रय से काव्य के अर्थ का विराम नहीं है । व्यङ्ग्यार्थ के अतिरिक्त वाच्यार्थ भी स्वाभाविक रूप से अनन्त रूपों में प्रतीत होता है । यह चेतनों तथा अचेतनों का स्वभाव ही है कि अवस्थादेशकालादि के भेद से तथा स्वरूपभेद से उनमें अनन्तता होती है ।[3] इसका भी कारण प्रतिभा ही है यह प्रतिभा स्वाभाविक है । आनन्दवर्धन के इस विवेचन में भर्तृहरि का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।

भर्तृहरि द्वारा प्रतिभा का विवेचन :

भर्तृहरि ने प्रतिभा का तात्त्विक विवरण प्रस्तुत करते हुए माना है कि प्रतिभा समस्त प्राणियों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है । प्रतिभा का मूलकारण शब्द तत्त्व है । यथार्थ के प्रतिपत्ति में प्रयुज्यमान तत्तद् शब्दों से तत्तद् अर्थों के ग्रहणरूप अभ्यास से उत्पन्न विशिष्ट संस्कार के कारण पदरूप, वाक्यरूप, ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक समस्त शब्द प्रतिभा के हेतु है । यह अभ्यास इस जन्म का अथवा पूर्वजन्मार्जित भी हो सकता है ।

1- तेषां चैकैकप्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावशादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते ।

गाथा चात्र कृतैव महाकविना -

अतथा स्थितानिव तथा संस्थितान् हृदये या निवेशयति ।
अर्थविशेषान् सा जयति निकटकविगोचरा वाणी ।। ध्वन्यालोक 4/3 की वृत्ति

2- ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात् ।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः ।। ध्वन्यालोक 4/6

3- अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते । आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ।। वहीं 4/7

सङ्केत को न जानने वाले बालक पक्षी आदि का भी प्रवृत्त्यादिरूप व्यवहार प्रतिभा के कारण ही होता है समस्त प्राणियों के सकल व्यवहार की मूलभूत शब्द निमित्त सर्वप्राणिसंविद इस प्रतिभा का अपलाप नहीं किया जा सकता । इसको अस्वीकार करना अपने आप को नकारना है । अतः प्रतिभा का अभ्युपगम आवश्यक है ।[1] हाथी, घोडे आदि में जिस प्रकार अङ्कुश कशाघातादि से प्रतिभा के कारण क्रिया होती है उसी प्रकार वृक्षादि शब्द अभ्यास के अनुरूप प्रतिभा के उपसंहार हेतु ही होते हैं साक्षात् अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते, अर्थ की प्रतीति तो प्रतिभा के कारण ही होती है । यह प्रतिभा आश्रयों के भेद के अनुसार विभिन्न रूपों में प्रतीत होती है । इसी लिए यद्यपि वाक्यार्थ में कोई विकल्प नहीं होता वह अखण्ड होता है तथापि पुरुषों की अनेक भावनाओं के आश्रय से विकल्पयुक्त समझ लिया जाता है । ये विकल्प वास्तविक नहीं हैं अतः वाक्यार्थ एक ही होता है ।[2] वैयाकरण वाक्यार्थ विषयक होने के कारण प्रतिभा को वाक्यार्थ कहते हैं ।

भर्तृहरि ने प्रतिभा को वाक्यार्थ मानते हुए कहा है कि देवदत्त आदि विच्छिन्न पदार्थों के पृथक् पृथक् ग्रहण के समय पदार्थबुद्धि से भिन्न प्रतिभा नाम की बुद्धि उत्पन्न होती है । प्रतिभा के अभिव्यञ्जक असत्यस्वरूप देवदत्तादि पदों के द्वारा अभिव्यक्त हुई प्रतिभा को ही वैयाकरण वाक्यार्थ कहते हैं ।[3] पुण्यराज ने भी कहा है कि अखण्डपक्ष ।- जातिः संघातवर्तिनीः 2-"एको नवयवः शब्दः" तथा 3- बुद्ध्यनुसंहृतिः इन तीनों वाक्यलक्षणों में

1- अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दः सर्वोऽपरैः स्मृतः ।
बालानां तिरश्चां च यथार्थप्रतिपादने ।। वाक्यपदीय 2/117
द्वितीय काण्ड, द्वितीय भाग

2- अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाश्रयाः । वा0 2/116

3- विच्छेदग्रहणे ऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते ।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् । वाक्यपदीय, 2/143

प्रतिभा ही वाक्यार्थ है ।[1] इसको और स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करते हुए नागेश ने माना है कि वाक्यार्थ प्रतिभामात्र का विषय है तथा प्रतिभा अन्य जन्म के संस्कार से भी उत्पन्न होती है । मधुमास में पिक का पञ्चमस्वर का कूजन जन्मान्तरसंस्कार से उत्पन्न होता है । वाक्यार्थ के प्रतिभामात्र का विषय होने के कारण वाक्यार्थ को ही प्रतिभा कह दिया जाता है ।[2]

प्रतिभा को अनुभवसिद्ध मानते हुए भर्तृहरि ने इसका इदमित्थन्तया निरूपण अशक्य माना है । प्रतिभा इस रूप की है यह दूसरों से यद्यपि नहीं बताया जा सकता फिर भी यह स्वानुभवसिद्ध है । अत: इसको छिपाया नहीं जा सकता । इतना अवश्य है कि स्वसंवेदन के समय प्रतिपत्ता के द्वारा भी इदमित्थंतया इसका निरूपण अशक्य है ।[3] "इदमित्थम्" रूप से स्वरूप के अनिर्धारित रहने पर भी यह प्रतिभा असंसृष्ट पदार्थों का आपस में मेल करा देती है तथा समस्त वाक्यों में सर्ववाक्यार्थरूपत्व को प्राप्त हुई वाक्य को अपना आधार बनाती है ।[4] व्यवहारकाल में प्रतिभा साक्षात् शब्द से उद्भूत होती है अथवा जन्मान्तर की भावना के कारण रहती है । प्राणिमात्र का इतिकर्तव्यतारूप व्यवहार प्रतिभामूलक होता है अत: कोई भी प्राणी व्यवहार में इसका अतिक्रमण नहीं कर सकता ।[5] समस्त संसार प्रतिभा को प्रमाण

1- तत्राखण्डपक्षे त्रिष्वपि लक्षणेषु प्रतिभा वाक्यार्थ: । वा०प० पुण्यराज 2/1

2- वाक्यार्थश्च प्रतिभामात्रविषय: । प्रतिभा च जन्मान्तरसंस्कारजापि । यथा मधौ पिकस्य पञ्चमस्वरविराव: जन्मान्तरसंस्कारज: । प्रतिभा-विषयत्वाच्च प्रतिभा वाक्यार्थ इति । वैया०सि०ल०म० पृ० 397

3- इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथञ्चन ।
प्रत्यात्मवृत्ति सिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते । वा०प० 2/44

4- उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता ।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ।। वा०प० 2/145

5- साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा ।
इति कर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते ।। वही 2/146

मानकर प्रवृत्त होता है । कालिदास ने कहा भी है - सतां हि सन्देहपदेषु-वस्तुषु प्रमाणमन्त:करणप्रवृत्तय: । {अभि0शा0 1/19} पशु पक्षी आदि भी प्रतिभा के आधार पर ही अपने कार्य करते हैं ।[1] प्रतिभा को भर्तृहरि स्वभावसिद्ध मानते हुए उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जैसे द्रव्यविशेषों में परिपाकातिरिक्त यत्ननिरपेक्ष मदादि शक्तियाँ स्वभावत: उत्पन्न हुई देखी जाती हैं उसी तरह प्रतिभावान् प्राणियों को विशिष्ट संस्कारों से समुद्भूत प्रतिभा का सुस्पष्ट ज्ञान होता है ।[2] इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में समुत्पन्न भावना से अनुगत शब्द से ही प्रतिभा उत्पन्न होती है । प्रतिभा का विकास शब्द के बिना नहीं हो सकता । प्रतिभा का मूल शब्द ही है ।[3] इस प्रकार प्रतिभा का शब्दमूलक होना तथा आश्रयों के आनन्त्य से प्रतिभा की अनन्तता भर्तृहरि को मान्य है । इनसे प्रभावित आचार्य आनन्दवर्धन की भी धारणा यही है । इनके मत में प्रतिभा विशेष का अभिव्यञ्जक है अर्थवस्तु का प्रस्रवण करने वाली सरस्वती तथा उसका आनन्त्य ध्वन्यादि की अनन्तता के कारण सिद्ध है । दोनों के मत में प्रतिभा स्वाभाविक होती है तथा प्राणियों को अपनी अपनी प्रतिभा के अनुसार अर्थबोध होता है ।

भोज ने प्रतिभा के विवेचन भर्तृहरि का पूर्णरूपेण अनुसरण किया है । इस सम्बन्ध में इनका विचार है कि अपने अपने अर्थों का अभिधानकर पदों के उपरत हो जाने पर पदार्थप्रतिपत्ति के बाद इदं तद् रूप में अव्यपदेश्य, स्वानुभवसिद्ध, हितप्राप्ति अहित परिहार का कारण, तथा प्रवृत्ति के अनुरूप बुद्धि प्रतिभा है । क्योंकि तथाहि पदनिबन्धन, पदावयवनिबन्धन तथा

1- प्रमाणत्वेन तां लोक: सर्व: समनुपश्यति ।
   समारम्भा: प्रतायन्ते तिरश्चामपि तद्वशात् ।। वही 2/147

2- यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजा: ।
   मदादिशक्तयो दृष्टा: प्रतिभास्तद्वतां तथा ।। वही 2/148

3- भावनानुगतादेतदागमादेव जायते । वही 2/151

अर्थप्रत्यवभासमात्र शब्दों की निरन्तर प्रवृत्ति में क्रमशः गृह्यमाण पदार्थों के द्वारा संस्कारयुक्त बुद्धि में समस्त अर्थों की अवबोधिका भेदप्रतीति से रहित, प्रवृत्तिरूप फल के द्वारा अनुमेय अभिन्न जातिवाली ही यह प्रतिभा प्रत्येक प्राणियों में विद्यमान रहती है । जिस प्रकार मद्यविषरसादि में विभिन्न {प्रकार हुए} द्रव्यों के अनवलोकित अंश के मिल जाने पर मद मरण सुवर्णादि अर्थ क्रिया स्पष्ट दिखायी पड़ने लगती है उसी प्रकार प्रतिपद भिन्न भिन्न शब्दों के उच्चारणों में न देखी गयी पुनः क्रमशः अविच्छिन्न शब्दों के उच्चारण करने पर उन उन इतिकर्तव्यता रूप व्यवहारों में उपजायमान प्राणियों की अनुकूल प्रतिभा दिखायी देती है । प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाण अपना कार्य प्रतिभा की स्थिति में पूर्ण करते हैं । प्रतिभा के कारण ही समस्त प्रमाण प्रमाणता को प्राप्त करते हैं । समस्त संसार प्रतिभा रूपी नेत्र से युक्त होने के कारण ही व्यवहार में प्रवृत्त होता है । वाक्यश्रवण के बिना भी बालकों की स्तन्यपानादि में, हंसो की नीरक्षीरविवेक में जन्तु आदि की कुलाय निर्माणादि में स्वभावतः प्रवृत्ति देखी जाती है अतः प्रतिभा को वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता इस शङ्का का निराकरण करते हुए भोज ने कहा है कि जिस प्रकार प्रतिपत्ता मनुष्य की शब्दव्यापार से उपसंहृत प्रतिभा साक्षात् वृद्धों द्वारा कहे गये वाक्यों से अर्थक्रियाओं में उत्पन्न होती है उसी प्रकार बालादिकों की स्तन्यपानादि में पूर्वजन्म की शब्दभावना के अनुगम से वाक्यार्थ जानने वालों से अभिन्न ही प्रतिभा उत्पन्न होती है । जिन हस्ती अश्व आदि का व्यवहार शब्दों के द्वारा नहीं होता वे भी जन्मान्तरीय शब्दभावना के कारण शब्दप्रत्यययुक्त से हुए प्रतिभा के आधार पर व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं । काल, अभ्यास, अदृष्ट, योग, ध्यान, अनुध्यान आदि साधनों से पूर्वजन्मार्जित शब्दश्रवणसंस्कार का उद्बोध होता है । भोज ने भर्तृहरि की तरह वर्तमान जन्म तथा पूर्वजन्म में समुत्पन्न भावना से अनुगत शब्द को प्रतिभा का हेतु माना है । प्रतिभा को वाक्यार्थ मानते हुए निष्कर्ष रूप में इन्होंने कहा है कि कहीं उच्चरित वाक्यमात्र ही अव्यपदेश्य, असत्त्वभूत प्रतिभा नामक अपने अर्थ को प्रकाशित करता है तथा कहीं विशिष्टप्रतिभा

की बीजभूत भावना के अनुगम से कालादि अन्य निमित्तों के सान्निध्य में चिरव्यवहित भी वही वाक्य पारम्पर्येण प्रतिभा नामक स्वार्थ को प्रकट करता है अतः प्रतिभा भी वाक्यार्थ है ।[1]

आचार्य महिमभट्ट प्रतिभा का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत करते हैं । रसानुकूल शब्दार्थ के चिन्तन में तल्लीन समाहित चित्त कवि की शब्दार्थ के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श करती हुई सहसा उद्दीप्त प्रज्ञा ही प्रतिभा है ।[2] इनके अनुसार प्रतिभा प्रज्ञा का वह विशेष रूप है जिसके द्वारा कवि शब्दार्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है ।

शब्दार्थ के वास्तविक स्वरूप को पदार्थसार्थ कहने वाले राजशेखर की धारणा है कि जो शब्दसमूह, अर्थसमूह अलङ्कार शास्त्र, उक्तिमार्ग, तथा अन्य इसी प्रकार के काव्य पदार्थों को हृदय में प्रतिभासित करे उसे प्रतिभा कहते हैं । प्रतिभाहीन व्यक्ति के लिए पदार्थसमूह परोक्ष के सदृश ही रहता है जबकि दृष्टिरहित भी प्रतिभावान् को समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दिखायी पड़ते हैं । इन्होंने शक्ति को प्रतिभा से पृथक् मानते हुए उसको प्रतिभा का कारण कहा है । इन्होंने प्रतिभा के दो भेद मानकर कारयित्री प्रतिभा के तीन रूप प्रस्तुत किया है । जन्मान्तर के संस्कार की अपेक्षा रखने वाली प्रतिभा सहजा है इस जन्म के संस्कारों से उत्पन्न आहार्या है तथा मन्त्रादि के उपदेश से प्रादुर्भूत औपदेशिकी प्रतिभा है ।[3]

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक यथावसर प्रतिभा का विधिवत् प्रतिपादन करते हुए मानते हैं कि शब्दार्थसाहित्य के प्राधान्य से की गई काव्य रचना में

1- शृङ्गारप्रकाश पृष्ठ 213

2- रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः । व्य०वि० पृ०452

3- या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा । काव्यमीमांसा पृष्ठ 25

कविप्रतिभा की प्रौढ़ता ही प्रधानतः अवस्थित रहती है ।[1] प्रतिभा से उत्पन्न समस्त वैचित्र्य सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ सुशोभित होता है । प्रतिभा में ऐसी शक्ति विद्यमान है कि जिससे अनायास ही शब्दार्थ में कोई अपूर्व सौन्दर्य स्फुरित सा दिखायी देता है ।[2] प्रतिभा के कारण पूर्वतः विद्यमान वस्तु में नवीनता का उन्मेष इन्हें भी अभिप्रेत है । इन्होंने प्रतिभा को पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के संचित संस्कारों का परिपाक माना है ।[3] इनके अनुसार भी प्रतिभा अनन्त है ।[4]

आचार्यमम्मट शक्ति निपुणता तथा अभ्यास तीनों को समन्वित रूप से काव्य का हेतु प्रतिपादित करते हुए शक्ति को कवित्व बीज रूप संस्कार विशेष मानते हैं । यह संस्कार विशेष ही प्रतिभा है । मम्मट ने वामन की तरह ही कहा है कि इस प्रतिभा के बिना काव्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता प्रादुर्भाव हो भी जाय तो वह उपहास योग्य ही होगा ।[5]

हेमचन्द्र तथा जगन्नाथ आदि अन्य काव्यशास्त्रियों ने भी प्रतिभा का वर्णन किया है। इनके अनुसार प्रतिभा जन्मजात तथा कारणजन्य होती है । जन्मजात प्रतिभा सहज या स्वाभाविक कहलाती है तथा कारणजन्य प्रतिभा औपाधिक है ।

इस समस्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने प्रतिभा के व्यापक रूप उद्घाटन किया है जबकि काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा

1- यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः तथापि कविप्रतिभा-प्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते । व० जी० पृ०32

2- प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते । वही 1/34

3- प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा । वही प्रथम उन्मेष

4- अस्मात्- कविप्रतिभानन्त्यान्नियतत्वं न सम्भवति । वही पृ० उ०

5- शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् । का०प्र० पृ०-1 ।

कोव्योपयोगी स्वरूप को ही स्पष्ट किया है । भर्तृहरि द्वारा प्रतिभा के सार्वरूप्य, आनन्त्य स्वानुभवसिद्धत्व सहजता, चेतनाचेतनों में नित्यरूप से विद्यमानता तथा प्रतिभा से व्यवहार निष्पत्ति एवं प्रमाणों में प्रमाणत्व आदि प्रतिभा के व्यापक स्वरूप के प्रतिपादन से काव्यशास्त्रियों का प्रतिभा विषयक समस्त विवेचन गतार्थ हो जाता है । प्राक्तन जन्म के संस्कारों का अस्तित्व सभी को मान्य है । पूर्व जन्म की भावना के कारण अथवा शब्दानुगम के कारण उद्‌भूत प्रतिभा इतिकर्तव्यता की निर्वाहिका है भर्तृहरि के मत में । इसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता । काव्यशास्त्रियों ने प्राक्तनजन्मागत तथा एतज्जन्मकृताभ्यासादि से समुन्मिषित प्रतिभा को काव्य का आवश्यक कारण स्वीकार कर भर्तृहरि का अनुसरण किया है । क्योंकि भर्तृहरि का दृढ विचार है कि समस्त व्यवहार प्रतिभा-मूलक है, चाहे वह बालकों का हो या विद्वानों का पशुओं का हो या पक्षियों का । यह अवश्य है कि काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा के काव्योपयोगी स्वरूप का विवेचन किया है जबकि भर्तृहरि प्रतिभा के पारमार्थिक पक्ष का व्याख्यान करते हैं । भर्तृहरि की प्रतिभा काव्यशास्त्रियों के प्रतिभाप्रसूत सम्पूर्ण रसाद्यनुगुण अर्थवैचित्र्यादि के बोधन में पूर्णरूपेण समर्थ है ।

आचार्यों द्वारा वर्णित स्वरूपवाली इस प्रतिभा से प्रसूत ज्ञान की वन्दना करते हुए वाक्यपदीय के व्याख्याकार हेलाराज ने इसके महत्त्व का वर्णन किया है । इस प्रतिभा प्रसूत ज्ञान के साक्षात्कार की स्थिति में अन्त:करण में अत्यन्त सुन्दर किसी वस्तु का उदय होता है । इसके कारण बिना विषयों के आस्वाद के ही शाश्वत एवं परम तृप्ति का प्राणियों के अनुभव होता है तथा इससे रसमय आनन्द की प्राप्ति होती है ।[1]

1- यस्मिन्न सम्मुखतां प्रयाति रुचिरं कोऽप्यन्तरुज्जृम्भते,
नेदीयान्न महिमा मनस्यभिनव: पुंस: प्रकाशात्मन: ।
तृप्तिं यत्न परमां तनोति विषयास्वादं विनाशाश्वतीम्,
धामानन्दसुधामयोर्जितवपुस्तन्न प्रातिभं संस्तुम: ।। वा0हेलाराज पृ0-1

अभिधा शब्दशक्ति का विवेचन :

अर्थप्रत्यायक समस्त साधनों की सार्थकता शब्दतत्त्व की स्थिति में ही सम्भव हो पाती हैं । आचार्यों के द्वारा उच्चरित शब्दों से अर्थबोध स्वीकार करने का सम्भवत: यही कारण है । शब्दप्रयोग के बिना किसी भी अर्थ का असंदिग्ध का बोध नहीं हो सकता, मौन होकर पुस्तक आदि पढ़ने पर जो अर्थज्ञान होता है उसका कारण सूक्ष्म उच्चारण ही है । यह स्पष्ट है कि पुस्तक पढ़ते समय मौन अवस्था में भी मानस जप आदि के समान सूक्ष्मतर उच्चारण होता है । लिपि आदि की अर्थबोधकता भी सूक्ष्म उच्चारण पर ही निर्भर है । अभिनयों एवं सङ्केतों से अर्थप्रतीति में यद्यपि शब्दप्रयोग की अपेक्षा नहीं रहती, तथापि उन स्थलों में शब्द की स्मृति अवश्य होती है।

यद्यपि शब्दों में अर्थप्रत्यायन की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान रहती है तथापि कुछ ऐसे प्रतीतिविघातक कारण हैं जिनके रहने से शब्दप्रयोग होने पर भी अर्थ का बोध नहीं हो पाता । महर्षि पतञ्जलि ने अतिसन्निकर्ष, अतिविप्रकर्ष, मूर्त्यन्तरव्यवधान, अनावरण, इन्द्रियदौर्बल्य तथा अतिप्रमाद को भावों की अनुपलब्धि में कारण मानते हैं । इन प्रतीतिविघातकों का विश्लेषण सांख्यदर्शन में भी किया गया है किन्तु जहाँ शब्द की उपस्थिति में भी अर्थ की अप्रतीति का प्रश्न है वहाँ शब्दशक्ति का अज्ञान ही उसमें प्रधान कारण है । शब्दों की शक्ति का जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उनसे अर्थबोध नहीं हो सकता । शक्तिग्राहक साधनों से शक्ति के यथार्थ रूप में ज्ञात हो जाने पर शब्दों से अर्थ की प्रतीति निर्बाधगति से होने लगती है । शब्द की सत्तामात्र से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती इस मान्यता का भर्तृहरि ने दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन किया है । इनका तर्क है कि शब्द जब तक बोध के विषय नहीं बन जाते तब तक उनसे अर्थ का प्रकाशन सम्भव नहीं है शक्तिज्ञान के बिना अपनी स्थितिमात्र से शब्द अर्थ की प्रतीति नहीं करा पाते ।

अर्थ की प्रतीति की कारणभूत इस शक्ति के सामान्यत: अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना ये तीन भेद स्वीकृत हैं ।

अर्थबोध के लिए व्यवहृयमाण शब्द जिस व्यापार के कारण साक्षात् सङ्केतित अर्थ का प्रतिपादक होता है वह मुख्य व्यापार ही अभिधा शक्ति है । इस अभिधाशक्ति के द्वारा अभिधीयमान अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है, इसे मुख्यार्थ भी कहते हैं क्योंकि इस अर्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ से पहले ही हो जाती है । अभिधा शक्ति को समस्त आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है । अभिधा का शक्तियों में वही स्थान है जो प्रमाणों में प्रत्यक्ष का । जैसे अन्य प्रमाणों के विषय में आचार्य एक मत नहीं है उसी प्रकार अभिधातिरिक्त शक्तियों के विषय में भी ।

अभिधा को शब्दशक्ति के रूप में बहुत पहले पहचान लिया गया था इसका स्पष्टस्वरूप प्रथमत: बृहद्देवता में प्राप्त होता है । वहाँ शब्दार्थ के ज्ञान के विषय में कहा गया है कि शब्दों में प्रतीत होने वाले धातु के चिह्न अथवा प्रसिद्धि के अनुरूप ही शब्द का अभिधेय अर्थ हुआ करता है।[1]

काव्यशास्त्रियों ने शब्दशक्तियों का प्रभूत विश्लेषण किया है । यद्यपि न्याय, सांख्य, मीमांसा आदि दर्शनों में अपने अपने सम्प्रदायके अनुरूप शब्दशक्तियों की विधिवत् व्याख्या की गई है, तथापि काव्यशास्त्रियों को अपने व्याख्यान के लिए आधार के रूप में पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों से प्रेरणा मिली है । यह तथ्य सङ्केतग्राहक साधनों के विवेचन में स्पष्ट हो चुका है तथा च अनुपद स्पष्ट होगा ।

1- यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत् ।
अर्थश्चाप्यभिधेयः स्यात्तावद्भिर्गुणविग्रहः ।।

बृहद्देवता - 2/104

वैयाकरणों को अभिमत अभिधा शक्ति का स्वरूप :

वैयाकरणों ने शब्दशक्तियों में अभिधा का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार करते हुए इसका साङ्गोपाङ्ग तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत किया है । इन्होंने शब्दार्थ के सम्बन्ध को नित्य तथा तादात्म्यरूप माना है । तादात्म्यरूप यह सम्बन्ध ही अभिधा शक्ति है । नैयायिकों को अभिमत इच्छादि की शक्तिरूपता का खण्डन कर नागेश ने पदपदार्थ के इच्छादि से भिन्न इस सम्बन्ध को ही शक्ति कहा है । इसे वाच्यवाचक-भाव नाम से भी जाना जाता है, यह शब्दार्थोभयनिष्ठ होता है । इतरेतराध्यासमूलक तादात्म्य इनके अनुसार शक्ति का ग्राहक है तथा इसे सङ्केत भी कहते हैं ।[1] महाभाष्य का उद्धरण प्रस्तुत कर इन्होंने स्पष्ट किया है कि पद एवं पदार्थ का इतरेतराध्यासरूप तादात्म्य सङ्केत है, यह सङ्केत "जो यह शब्द है वही अर्थ है, जो अर्थ है वही शब्द है" इत्याकारक स्मृतिरूप है ।[2] शब्द और अर्थ के इसी इतरेतराध्यास के कारण "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म: {ब्र०वि०उ०-3}" "वृद्धिरादैच्" {पा०सू० 1/1/1} इत्यादि शक्तिग्राहक श्रुति एवं स्मृति का सामानाधिकरण्येन प्रयोग किया गया है ।[3]

शब्द के एकत्व तथा अनेकत्व के संदर्भ में अभिधाविषयक भर्तृहरि के विचार :

वैयाकरणों ने शब्द को एक तथा अनेक दोनों मानकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । एक शब्द से अनेक अर्थों का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः अर्थभेद से शब्दों का अनेकत्व स्वीकार किया जाता है तथाच एक ही

1- तस्मात् पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः वाच्यवाचकभावापरपर्याया । तद्ग्राहक चेतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम् । तच्च सङ्केतः । वै०सि०ल०म० पृ० 23.

2- तदुक्तं पातञ्जलभाष्ये- सङ्केतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः, योऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः स शब्दः । वही पृ० 25

3- शब्दार्थयोरितरेतराध्यासादेव "वृद्धिरादैच्" {पा०सू० 1/1/1} "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" {ब्र०वि०उ०-3} इति शक्तिग्राहकश्रुतिस्मृत्योः सामानाधिकरण्येन प्रयोगः । वही पृ० 33.

शब्द में अनेक प्रकार के अर्थों के प्रतिपादन की क्षमता रहती है अत: अभिद होने पर भी शब्द का ऐक्य स्वीकार किया जाता है । पतञ्जलि ने "प्रत्यर्थं शब्दाभिनिवेश: वाक्य की - "अर्थं अर्थं प्रति प्रत्यर्थम्" तथा "अर्थों अर्थौ प्रति, अर्थानर्थान् प्रति यत्तदपि प्रत्यर्थम्" इन दो व्युत्पत्तियों को प्रस्तुत कर क्रमश: शब्द के एकत्व तथा अनेकत्व का समर्थन किया है ।

दोनों एक-शब्ददर्शन तथा अनेकशब्ददर्शन को व्यवस्थित मानकर भर्तृहरि ने अभिधा का लक्षण माना है कि शब्द के श्रवणमात्र से जिस अर्थ का गो आदि शब्द से बोध हो जाता है वह मुख्य अर्थ है ।[1] भर्तृहरि का तात्पर्य यह है कि बिना किसी निमित्त की अपेक्षा के अभिधा शक्ति के द्वारा होने वाला अर्थ मुख्य होता है तथा अन्य अर्थ निमित्त की अपेक्षा रखने के कारण गौण।

शब्दैक्य सिद्धान्त पक्ष में एक ही शब्द में गो, पृथ्वी, इन्द्रिय आदि अनेक अर्थों की वाचकता विद्यमान रहती है । प्रसिद्धि तथा अप्रसिद्धि के कारण में गौणमुख्य रूप शब्दव्यवहार होता है । गो शब्द प्रसिद्धि के कारण गोत्वादि के आरोप से रहित सास्नालाङ्गूलादिमान् अर्थ में शक्ति अर्थात् अभिधा के द्वारा जब प्रयुक्त होता है तो मुख्य शब्द कहलाता है तथा इसके द्वारा अभिहित अर्थ मुख्यार्थ । यही गोशब्द जब जड़ता, मन्दता आदि गुणों के सादृश्य के कारण बाहीक में गोत्व का आरोप कर आरोपित-गोत्ववान् बाहीकादि अप्रसिद्ध अर्थ का लक्षणा के द्वारा बोध कराता है तब गौण कहलाता है तथा इसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ अप्रसिद्धिनिबन्ध होने के कारण गौण कहलाता है । गो शब्द जिस प्रकार सास्नादिमान् पिण्डरूप

1- श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते ।
तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम् ।। वा0 2/278

2- सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मण: ।
प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपवर्ण्यते ।। वही 2/253·

मुख्यार्थ का अभिधान करता है उसी तरह गोत्व के आरोप से युक्त बाहीक रूप गौण अर्थ का भी प्रतिपादन करने में समर्थ है।[1] भर्तृहरि ने यहाँ पर शब्द को समस्त अर्थों के प्रतिपादन रूप सामर्थ्य से युक्त माना है।

भर्तृहरि अभिधा में विनियोग को आवश्यक तत्त्व मानते हैं, विनियोग के बिना शब्द अपने अर्थ का बोध नहीं करा सकता। वक्ता द्वारा शब्दविशेष जिस अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है वह उसी अर्थ का प्रकाशन करता है। उक्ति के माध्यम से ही शब्द एवम् अर्थ का सम्बन्ध निर्धारित होता है।[2] किन्तु इस प्रसङ्ग में यह समस्या उपस्थित होती है कि यदि उक्ति की अपेक्षा से ही शब्द अर्थ का वाचक होता है तो वैयाकरणों द्वारा शब्दार्थ सम्बन्ध को स्वत:सिद्ध मानना असङ्गत है, जबकि इन्होंने शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता का प्रतिपादन महान् संरम्भ के साथ किया है। इस समस्या का निराकरण भर्तृहरि ने योग्यता रूप सम्बन्ध को मानकर किया है। इनका अभिमत है कि जिस प्रकार आँख में वस्तु का दर्शन करा देने की यद्यपि स्वाभाविक योग्यता रहती है तथापि वस्तु का ग्रहण तभी सम्भव होता है जब आँख का मन के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, अन्यथा आँख से निरन्तर वस्तु का दर्शन होना चाहिए इसी प्रकार यद्यपि शब्द में अर्थबोध करा देने की स्वाभाविक योग्यता है तथापि वक्ता द्वारा सम्बन्ध का निर्धारण आवश्यक होता है।[3]

1- यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाभिधीयते।
तथा स एव गोशब्दो बाहीकेऽपि व्यवस्थित:।। वही 2/252

2- विनियोगाद् ऋते शब्दो न स्वार्थस्य प्रकाशक:।
अभिधानसम्बन्धमुक्तिद्वारं प्रचक्षते।। वा0 2/399

3- यथा प्रणिहितं चक्षुर्दर्शनायोपकल्पते।
तथाभिसंहित: शब्दो भवत्यर्थस्य वाचक:।। वही 2/400

भर्तृहरि के भावों को स्पष्ट करते हुए पुष्पराज ने अभिधा का विवेचन बहुत वैज्ञानिक रूप में किया है । इनके अनुसार वाक्य अपनी शक्ति के द्वारा विशेष अर्थ का प्रकाशन करते हैं । ये जब वाच्य अर्थ को प्रकाशित करना चाहते हैं तब अभिधा नामक शक्ति का आश्रय लेते हैं । इस शक्ति के द्वारा अर्थ का बोध होता है । यह अभिधा शक्ति वक्ता द्वारा प्रयुज्यमान सम्बन्ध के अनुसन्धान के आधीन होती है, इसीलिए उसे गौण रूप से सम्बन्ध कहते हैं । जब शब्द एक ही माना जाता है तब वक्ता के अन्त:करण में विद्यमान प्रतिभा ही सम्बन्धरूप होकर शब्द का स्वरूप ग्रहण करती है, उस अवस्था में सम्बन्ध और उक्ति दोनों में भिन्नता नहीं होती । अतएव जैसे प्रणिधान एकाग्रता से आँख में शक्ति का समन्वय होता है उसी प्रकार उक्ति अर्थात् कण्ठ तालु आदि के द्वारा शब्दोच्चारण शब्द की भावना के बिना नहीं होता । यह जो सम्बन्ध को उत्पन्न करने वाला शब्द का अपना व्यापार है इसी को अभिधा शक्ति का सम्बन्ध कहते हैं । यही उच्चारण के द्वारा शब्द का रूप पाकर अभिधा कहलाता है ।[1]

भर्तृहरि शब्द एवं अर्थ के वाच्य-वाचकभाव नामक सम्बन्ध को अभिधा शक्ति के द्वारा नियन्त्रित मानते हैं । कारक कर्मकरण आदि लोहे की छड़ों के समान परस्पर सम्बन्धरहित हैं, इनमें जिस प्रकार प्रक्रिया के आश्रय से सम्बन्ध देखा जाता है उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ में अभिधा शक्ति के द्वारा नियम किया जाता है ।[2] एक ही शब्दतत्त्व के द्वारा प्रतिपाद्य अनेक गाय आदि वस्तुएँ सजातीय होने के कारण एक ही अर्थतत्त्व को बतलाने वाली हैं, अतएव प्रयोक्ता जिस शब्द से जिस अर्थ का अभिधा शक्ति के द्वारा सम्बन्ध करता है उसी अर्थ का वह शब्द वाचक होता है अन्य का नहीं ।[3]

1- वा० पुष्पराज, पृ० 463

2- क्रियाव्यवेत: सम्बन्धो दृष्ट: करणकर्मणो: ।
अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययो: ।। वा० 2/401

3- बह्वेकाभिधानेषु सर्वेष्वेकार्थकारिषु ।
यत् प्रयोक्ताभिसंधत्ते शब्दस्तत्रावतिष्ठते ।। वही 2/402

भर्तृहरि ने अभिधा शक्ति की सत्ता अर्थ से पृथक् स्वीकार की है । इनका तर्क है कि वेद के शब्दों को जब केवल पारायण के समय पढ़ा जाता है तब उनका कोई अर्थ नहीं होता अत: उन्हें अनर्थक कह दिया जाता है, किन्तु स्वरूपबोध के लिए प्रयुक्त वे ही शब्द अभिधा शक्ति के समन्वय हो जाने के कारण उन विभिन्न अर्थों के प्रतिपादक होकर उन अर्थों में नियमित हो जाते हैं । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अभिधा शक्ति अर्थ से पृथक् है तथा उसके आश्रय से ही अर्थ का बोध होता है ।[1]

शब्दैक्य पक्ष में एक ही शब्द से अभिधा शक्ति के द्वारा विभिन्न अर्थों की सिद्धि प्रतिपादित करने के अनन्तर भर्तृहरि ने शब्दों के नानात्व की दृष्टि से भी अभिधा का निरूपण किया है । भेदवादी आचार्य शब्दों में ऐक्य न मानकर उनको अनेक मानते हैं । केवल सादृश्य के आधार पर उन शब्दों में एक जाति का समन्वय हो जाता है । अक्ष, माष आदि शब्द भिन्नार्थप्रतिपादकत्वेन परस्पर भिन्न हैं, सादृश्य के कारण इनमें अभिन्नता की प्रतीति होती है।[2] प्रयोजन, प्रकरण आदि से यह निर्णय किया जाता है कि शब्द का कौन-सा अर्थ किस स्थान में लिया जाय । एक शब्द का एक स्थान में जो अर्थ माना गया है उसी शब्द का तद्भिन्न अर्थ में तदतिरिक्त स्थान में प्रयोग नहीं हो सकता, अन्यार्थक शब्द की अन्य अर्थ में वृत्ति असम्भव है ।[3] अत: अर्थभेद से शब्द भेद को स्वीकार करना पड़ता है । इस स्थिति में उच्चारण के अतिरिक्त अभिसंधान, शक्ति तथा अभिधा के अभाव में भी शब्द के विशेष अर्थ में नियमित होने के कारण अर्थ का नियन्त्रण

1- आम्नायशब्दानभ्यासे केचिदाहुरनर्थकान् ।
स्वरूपमात्रवृत्तींश्च परेषां प्रतिपादने ।।
अभिधानक्रियाभेदादर्थस्य प्रतिपादकात् ।
नियोगभेदान्मन्यते तानेकत्वदर्शिनः ।। वही 2/403-404.

2- तेषामत्यन्तनानात्वं नानात्वव्यवहारिण: ।
अक्षादीनामिव प्राहुरेकजातिसमन्वयात् ।। वही 2/405

3- नानात्वस्यैव संज्ञानमर्थप्रकरणादिभि: ।
न जात्वर्थान्तरे वृत्तिरन्यार्थानां कथंचन ।।
वही 2/407.

होता है । प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का बोध नहीं करता अपितु भिन्नशक्तिक होने के कारण वह प्रतिनियत अर्थ में व्यवस्थित रहता है तथा प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि के कारण मुख्यत्व एवं गौणत्व की व्यवस्था की जाती है।

इस प्रकार एकशब्ददर्शन तथा अनेकशब्ददर्शन दोनों पक्षों के अनुसार अभिधा के उपयोग एवं अनुपयोग को स्पष्ट कर मुख्य अर्थ के प्रतिपादक शब्द के स्वरूप की भी भर्तृहरि ने व्याख्या की है । अर्थप्रकरणादि की अपेक्षा के बिना जिस शब्द के उच्चारण करने पर प्रसिद्ध अर्थ की प्रतीति हो जाती है वह शब्द मुख्य कहलाता है । इस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त इसका स्वरूप मात्र होता है ।

निष्कर्षतः वैयाकरण अभिधा को वह शब्दव्यापार मानते हैं, जिसके कारण शब्द अर्थ का वाचक हो जाता है । अभिधा द्वारा शब्द से अर्थ का साक्षात् बोध होता है, इसके लिए किसी अन्य प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती । यह शब्दव्यापार मुख्य तथा व्यापक है, इसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ भी मुख्य अर्थ माना जाता है । शब्द एवं अर्थ के विशिष्ट सम्बन्ध को ही वैयाकरणों ने अभिधा कहा है । वैयाकरणों के द्वारा प्रतिपादित अभिधा का यही स्वरूप समस्त साहित्यशास्त्रियों ने मुख्य अर्थ की प्रतीति अभिधा से मानते हुए स्वीकार किया है कि सङ्केतित अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्दव्यापार अभिधा है तथा अभिधा नामक शब्दव्यापार के द्वारा अर्थ का प्रतिपादक शब्द वाचक शब्द है ।

अभिधाविषयक काव्यशास्त्रियों का मन्तव्य :

नाट्याचार्य भरत ने यद्यपि अभिधा का शब्दशक्ति के रूप कहीं भी उल्लेख नहीं किया है तथापि इन्होंने जहाँ भी शब्द को अर्थ से युक्त कहा है वहाँ अभिधा का प्रच्छन्न स्वरूप विद्यमान है । इनके अनन्तर भामह, दण्डी एवं वामन आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षणों में अभिधा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । अभिधा का शब्दार्थसम्बन्धरूप सर्वसम्मत स्वरूप

इन्हें भी मान्य था। अभिधा द्वारा अर्थबोध हो जाने पर ही शब्दार्थ के सम्मिलित रूप का काव्यत्व उपपन्न होता है।

उद्भट आचार्य के अभिधा से सम्बद्ध विचारों का उद्घाटन अभिनवगुप्त, तथा राजानक रुय्यक आदि के द्वारा किया गया है । अभिनव ने लिखा है - "उद्भट भामह के "शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः" वक्तव्य की व्याख्या में मानते हैं कि अभिधान शब्द का अर्थ है अभिधाव्यापार, यह व्यापार मुख्य तथा गुणवृत्ति रूप होता है"।[1] राजानक रुय्यक के अनुसार उद्भट को अभिधा के दो भेद अभिप्रेत थे - 1- अर्थप्रतिपत्ति के द्वारा अनुमेय केवल शब्दव्यापार अभिधा है अथवा 2- उच्चारणकर्ता में विद्यमान शब्दोच्चारण रूप व्यापार ही अभिधा है ।[2] इस विवेचन से स्पष्ट है कि उद्भट ने अभिधा का स्वरूप एक शब्दशक्ति के रूप में पहचान लिया था । उद्भट के समकालिक रुद्रट ने वैयाकरणों को अभिमत अर्थ के चार रूपों को स्पष्ट करते हुए अभिधा के विषय में कहा है कि अभिधा शक्ति के द्वारा वाचक शब्द जिस अर्थ में प्रवृत्त होता है वह अर्थ द्रव्यादि भेद से चार प्रकार का होता है[3]। यहाँ पर इनके द्वारा अभिधा का स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया गया है ।

भामह, दण्डी आदि आचार्यों के विवेच्य प्रधानतः शब्दार्थ में उत्कर्ष उत्पन्न करने वाले गुण, अलङ्कार आदि ही थे । गुणालङ्कारादि

1- --- भट्टोद्भटो बभाषे शब्दानामभिधाव्यापारो मुख्यः गुणवृत्तिश्च ।
ध्व०लोचन पृ० 34.

2- यतोऽर्थप्रतिपत्त्युन्नेयः शब्दव्यापारः शब्दोच्चारण व्यापारोवाभिधा।
व्य०वि० राजानक रुय्यक पृ० 23.

3- अर्थः पुनरभिधावान् प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः ।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः ।।
रुद्रट, का०अ० 7/40.

के शब्द एवं अर्थ के आश्रित होने के कारण प्रसङ्गत: यत्र तत्र इन आचार्यों ने अभिधा तथा अभिधेयार्थ आदि का नाममात्र लिया है । इन आचार्यों के बाद के काव्यशास्त्रियों ने अभिधा लक्षणा एवं व्यञ्जना की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है । इस परम्परा में ध्वनिप्रतिष्ठापनाचार्य आनन्दवर्धन प्रथम हैं। इन्होंने शब्दशक्तियों के विवेचन की दृष्टि से ध्वनिसिद्धान्त की भूमिका में सहृदयश्लाघ्य अर्थ के वाच्य एवं प्रतीयमान दो भेद स्वीकार किये हैं।[1] यहाँ पर इनका तात्पर्य यह है कि अभिधा शक्ति द्वारा प्राप्त होने वाला वाच्यार्थ प्रतीयमानार्थ का आधार है, पहले वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाता है तब अन्य अर्थों की प्रतीति सम्भव हो पाती है । अन्य समस्त अर्थ वाच्यार्थ पर ही आश्रित होते हैं, जिस प्रकार पदार्थ के ज्ञात होने पर ही वाक्यार्थ का अवबोध सम्भव होता है उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर हो हो पाती है।[2] लक्ष्यार्थ तो मुख्यार्थबाध आदि के अनुसन्धान की अपेक्षा रखता ही है इसीलिए लक्षणा को "अभिधापुच्छभूता" कहा जाता है ।

वाच्यार्थ के विधिरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ निषेधरूप होने के कारण वाच्यार्थ से भिन्न होता है । "भ्रमधार्मिक" इत्यादि पद्य में वाच्यार्थ विधिरूप है तथा प्रतीयमानार्थ निषेध रूप । अत: प्रतीयमानार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न माना गया है । आनन्दवर्धन के इस मन्तव्य के विरुद्ध इसी पद्य में विपरीतलक्षणा के आश्रय से तात्पर्यशक्ति के द्वारा ही निषेधरूप अर्थ की प्राप्ति स्वीकार कर प्रतीयमानार्थ को वाच्यार्थ में ही समाहित मानने वाले मीमांसकों

1- योऽर्थ: सहृदयश्लाघ्य: काव्यात्मेति व्यवस्थित: ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।। ध्वन्या० 1/2

2- यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपत्ति: ।
ध्वन्या० 1/10

का खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त ने अभिधा का स्वरूप स्पष्ट किया है । इनके मत के अनुसार समय अर्थात् सङ्केत की अपेक्षा से अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति का नाम अभिधा है ।[1]

आचार्य मुकुलभट्ट ने अभिधा का वही स्वरूप माना है जिसको भर्तृहरि ने बड़े विस्तार के साथ निरूपित किया है । अभिधा के मुख्य तथा लाक्षणिक दो व्यापारों द्वारा शब्द से अर्थ की प्रतीति को प्रतिपादित करते हुए मुकुलभट्ट मानते हैं कि शब्दव्यापार से प्रथमतः जिस अर्थ का बोध होता है वह मुख्य अर्थ है, जिस प्रकार शरीर के समस्त अवयवों में प्रधान होने से सर्वप्रथम मुख दिखाई पड़ता है उसी प्रकार अन्य अर्थों की अपेक्षा प्रथमतः प्रतीत होने से इसे मुख्यार्थ कहते हैं । "गौरनुबन्ध्यः" उदाहरण में गो शब्द का अर्थ गोत्वलक्षण जाति है, इस अर्थ की गोशब्दव्यापार के द्वारा प्रथमतः प्रतीति होती है इसीलिए इस अर्थ को मुख्य अर्थ मानते हैं । तथा च शब्द व्यापार के द्वारा मुख्यार्थबोध हो जाने के अनन्तर मुख्यार्थ की पर्यालोचना से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह अर्थ लाक्षणिक कहलाता है । इन्होंने इस रूप में शब्द के अभिधान व्यापार को मुख्य एवं लाक्षणिक रूप में दो प्रकार का स्वीकार किया है । संक्षेपतः अव्यवहित रूप से अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार मुख्य है तथा मुख्यार्थ के व्यवधान होने पर अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार लाक्षणिक ।[2] आचार्य मुकुलभट्ट का यह विवेचन भर्तृहरि के अधिक निकट है।

1- समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा । वही लो०पृ० 54.

2- शब्दव्यापाराद् यस्यावगतिस्तस्य मुख्यत्वं स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते । तस्मान्मुखमिव मुख्यः । तस्योदाहरणम् - "गौरनुबन्ध्य" इति । अत्र हि गोशब्द व्यापाराद् यागसाधनभूता गोत्वलक्षणा जातिरवगम्यते तदेवं शब्दव्यापारगम्यो मुख्योऽर्थः । यस्य तु शब्दव्यापारावगम्यार्थपर्यालोचनयावगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम् ।--- एवमयं मुख्यलाक्षणिकात्मविषयोपवर्णनद्वारेण शब्दस्याभिधाव्यापारो द्विविधः प्रतिपादितो निरन्तरार्थ विषयः सान्तरार्थनिष्ठश्च ।

अभिधावृत्ति मा० पृ० 4-5.

महिमभट्ट शब्दशक्ति के रूप में मात्र अभिधा को मान्यता प्रदान करते हैं तथा अर्थ में लिङ्गताशक्ति को साध्य की अनुमापिका मानते हैं।[1] इन्होंने ध्वनिसिद्धान्त का इस आधार पर खण्डन किया है कि ध्वनिसिद्धान्त के प्राणभूत तत्त्व प्रतीयमानार्थ की प्राप्ति वाच्यार्थ के अनुमान से हो जायेगी। यह वाच्यार्थ शब्द के अभिधा नामक व्यापार का विषय बनता है, अभिधा शक्ति द्वारा प्राप्त यह अर्थ मुख्य अर्थ है इसके मुख्यत्व का प्रधान कारण है - शब्द के श्रवणमात्र से तत्सम्बद्ध अर्थ की झटिति प्रतीति का हो जाना । वाच्यार्थातिरिक्त अनुमेय अर्थ प्रयत्नसाध्य होता है । महिमभट्ट अपने मत के समर्थन में भर्तृहरि के उस कथन को उद्धृत करते हैं जिसमें उन्होंने शब्द के सुनने भर से ज्ञात होने वाले अर्थों को मुख्य तथा प्रयत्नसाध्य अर्थ को गौण कहा है ।[2]

मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ आदि साहित्यशास्त्रियों का मन्तव्य एक सा है । ये साक्षात् सङ्केतित अर्थ का अभिधान करने वाले शब्द को वाचक शब्द मानते हैं तथा वाचक शब्द जिस व्यापार के कारण मुख्य तथा स्पष्ट अर्थ के बोधक होते हैं वह अभिधा व्यापार है ।

पण्डितराज जगन्नाथ का मत :

काव्यशास्त्र के अत्यन्त प्रतिष्ठित आचार्य जगन्नाथ अभिधा शक्ति के विवेचन में वैयाकरणों से पूर्णतः प्रभावित हैं । इनके अनुसार शब्द का

1- शब्दस्यैका शक्तिरर्थस्यैव च लिङ्गता ।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ।। व्य०वि० 1/27

2- अर्थोऽपि द्विविधः वाच्योऽनुमेयश्च । तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः । स एव मुख्य उच्यते । यदाह - श्रुतिमात्रेण इत्यादि। व्य०वि० पृ० 47.

मानकर अर्थ में रहने वाला तथा अर्थ को मानकर शब्द में रहने वाला शक्तिरूपात्मक विशिष्ट सम्बन्ध ही अभिधा है । शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध-विशेष को वैयाकरणों ने भी अभिधा कहा है । इस प्रसङ्ग में जगन्नाथ ने पतञ्जलि द्वारा व्याख्यात "योऽयं शब्द: सोऽर्थ:" योऽर्थ: स शब्द:" इस अनुलोम प्रक्रिया को भी स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है ।[1]

नैयायिक "इस शब्द का यह अर्थ है" इत्याकारक ईश्वरेच्छा को शक्ति मानते हैं । ईश्वरीय इच्छा के सार्वत्रिक तथा सार्वविषयक होने के कारण आपतित घट शब्द से पटप्रतीति की आपत्ति का निवारण इन्होंने घट पट आदि वस्तुविशेष को उपाधि बनाकर भिन्न-भिन्न पदों की अनेक अभिधाएँ मानते हुए किया है । ईश्वरीय इच्छा एक होने पर भी घटादि उपाधि भेद से भिन्न भिन्न रूप की मान ली जाती है । पण्डितराज जगन्नाथ नैयायिकों के इस मत का खण्डन कर वैयाकरणों के अभिमत का समर्थन करते हैं। इनका तर्क है कि ईश्वेच्छा को शक्ति मानने पर ईश्वरीय इच्छा के समान ही इसके अतिरिक्त ईश्वरीय ज्ञान, यत्न आदि भी अभिधा के नियामक होने लगेंगे, अत: प्रथम अर्थात् वैयाकरणों का अभिधा विषयक मंतव्य उचित है नैयायिकों का नहीं ।[2] निष्कर्षत: इनके अनुसार अभिधा ईश्वरेच्छा रूप नहीं है अपितु उससे भिन्न बोध्यबोधकभावरूप, बोधकतारूप, बोध्यतारूप अथवा शब्दार्थ-तादात्म्यरूप ही है ।

वृत्तिवार्तिककार अप्पय दीक्षित ने शक्ति के द्वारा अर्थ की प्रतिपादकता का नाम अभिधा माना है । इस लक्षण में शक्ति को अर्थबोध के अनुकूल शब्द के व्यापार की योग्यता माना गया है तथा अर्थविबोधन

1- शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगत: शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा ।
रसगं०पृ० 123.

2- साच पदार्थान्तरमिति केचित् । "अस्माच्छब्दादयमर्थोऽवगन्तव्य:" इत्याकारेश्वरेच्छैवाभिधा । तस्याश्च विषयतया सर्वत्र सत्त्वात् पटादीनामपि घटादिपदवाच्यता स्यात् अतो व्यक्तिविशेषोपधानेन घटादिपदाभिधात्वं वाच्यमित्यपरे" । "एवमपीश्वरज्ञानादिना विनिगमनाविरह: स्यात् अत: प्रथममतमेव न्याय:" इत्यपि वदन्ति । वही पृ० 123.

की क्रिया को अभिधा । इस प्रकार शक्ति तथा अभिधा में भेद सिद्ध होता है । किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ इससे असहमत हैं । इन्होंने इस लक्षण में आत्माश्रय तथा असङ्गति दोष दिखाकर इसका खण्डन किया है । इनका तर्क है कि प्रतिपादकता शब्द का अर्थ है - प्रतिपत्ति के कारण में रहने वाला धर्मविशेष, परन्तु उस धर्म का ज्ञान शब्दजन्य अर्थोपस्थिति में कारण होता नहीं अत: प्रतिपादकत्वको अभिधा का लक्षण कैसे कहा जा सकता है ? प्रतिपादकता का अर्थ- "अर्थ का बोध कराने वाली शब्दस्थित क्रिया" मानकर भी दीक्षित के मत को उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लक्षण में शक्त्या विशेषण जोड़ने से यह प्रतीत होता है कि अर्थोपस्थिति में कारणीभूत शब्दगत अथवा अर्थगत कोई शक्ति ही विवक्षित है और वही शक्ति अभिधा है, अत: उक्त लक्षण का पर्यवसित रूप होगा अभिधा के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करने का नाम अभिधा है । इस स्थिति में असङ्गति तथा आत्माश्रय दोष स्पष्ट प्रतीत होते हैं । शब्दजन्य अर्थबोध में अभिधा से भिन्न कारणभूत किसी शक्ति के न होने से उक्त लक्षण असङ्गत सिद्ध होता है । तथा च उस शक्ति को अभिधा से अभिन्न मान लेने पर लक्षण में अभिधा का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रय दोष स्पष्ट ही है ।[1] आचार्य नागेश "धान्येन धनवान्" वाक्य में अभेद अर्थ में विद्यमान तृतीया के समान शक्त्या में विद्यमान तृतीया विभक्ति का अभेद अर्थ मानकर दीक्षित के मत का समर्थन करते हैं । किन्तु नागेश का मत उचित नहीं है क्योंकि जहाँ सामान्य विशेषभाव होता है वहीं अभेदान्वय उपपन्न होता है । जैसे "नीलोघट:" आदि में सामान्यविशेषभाव के कारण अभेदान्वय से "नीलाभिन्नो घट:" बोध होता है । किन्तु शक्ति एवं अभिधा दोनों विशेष ही हैं अत: अभेदान्वय अनुपपन्न है ।

वैयाकरणों तथा काव्यशास्त्रियों के द्वारा प्रतिपादित अभिधा के इस स्वरूपविश्लेषण में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि आदि

1- वही पृ० 125.

की तरह साहित्यशास्त्रियों ने मुख्य अर्थ की प्रतीति अभिधा से स्वीकार की है, मुख्य अर्थ के ज्ञान में अभिधा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती तथा यह अर्थ शब्द के श्रवण मात्र से इस शक्ति के द्वारा अवगत हो जाता है । प्रसिद्ध अर्थ केअवबोधक शब्द को भी मुख्य या वाचक शब्द कहते हैं, यह रूपमात्रनिबन्धन है अर्थात् अर्थबोधन में स्वरूपमात्र के अतिरिक्त किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता । मम्मट आदि आचार्यों द्वारा साक्षात् सङ्केतसम्बन्ध से अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को वाचक कहना तथा वाचक शब्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ को मुख्यार्थ कहने का आधार भर्तृहरि ही हैं । मुख्य अर्थ के बोध में होने वाले मुख्य शब्द व्यापार को इन्होंने भी अभिधा माना है । जगन्नाथ की अर्थ के शब्दगत एवं शब्द के अर्थगत विशिष्ट सम्बन्ध को अभिधा मानने की धारणा पर व्याकरणशास्त्र की मान्यताओं का स्पष्ट प्रभाव है । इन्होंने स्वतः नैयायिकों के अभिधालक्षण का खण्डन कर वैयाकरणों के अभिमत को उचित बताया है तथा उसी को स्वीकार कर लिया है ।

शब्द-शक्ति के विवेचन में शृङ्गारप्रकाशकार भोज की मान्यता कुछ भिन्न ही है । इन्होंने शब्द एवं अर्थ के अभिधा आदि बारह सम्बन्धों को स्वीकार किया है तथा अर्थ का अभिधान करने वाली शक्ति को अभिधा कहा है । इनके अनुसार अभिधाशक्ति के तीन भेद हैं - 1- मुख्या, 2- गौणी तथा 3-लक्षणा । मुख्यावृत्ति वह है जो बिना किसी व्यवधान के साक्षात् अर्थ का अभिधान करती हो ।[1] इनके द्वारा प्रतिपादित मुख्यावृत्ति का यह स्वरूप भर्तृहरि आदि के द्वारा व्याख्यात अभिधा के स्वरूप के समान ही है ।

मुख्यार्थ के नियामक साधन:

पाणिनि, पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि वैयाकरण आचार्यों ने

1- शृङ्गारप्रकाश पृ० 223-4

समान आकार वाले शब्दों में अनेकार्थ बोधकता के रहने पर भी शब्द से एक ही उपयुक्त अर्थ के बोध में अनेक नियामक कारणों का प्रतिपादन किया है । आचार्य पाणिनि शब्दविशेष के संयोगादि के आधार पर विशिष्ट प्रत्ययों का विधान करते हैं । भुज् धातु से भक्ष्य अर्थ में ही भोज्य शब्द का साधुत्व माना गया है । भक्ष्य अर्थ के संयोग न होने पर भोज्य का प्रयोग असाधु होगा, भक्ष्यातिरिक्त अर्थ में भोग्य शब्द प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार अवन अर्थ में भुज् धातु से आत्मनेपद नहीं होता, तथा च अनवन अर्थात् भोजनादि अर्थों में आत्मने पद ही होता है ।

भर्तृहरि ने अनेकार्थक शब्दों के अर्थनियमन के लिए संसर्गादि विभिन्न साधनों का उल्लेख किया है भर्तृहरि द्वारा विवेचित यही साधन काव्यशास्त्रियों द्वारा अक्षरश: स्वीकार कर लिए गए हैं । भर्तृहरि के इस विवेचन के प्रसङ्ग में एक शङ्का यह होती है कि जब अर्थभेद से शब्दभेद स्वीकार कर शब्द को प्रत्येक अर्थ में व्यवस्थित माना गया है तो आचार्यों को इन अर्थनियामक साधनों की आवश्यकता क्यों अनुभूत हुई ? इस आशङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हुए पुण्यराज ने माना है कि नानात्वपक्ष में स्वभावत: भिन्न समानानुपूर्वीक शब्दों में स्वरूप की एकता के कारण अर्थ का व्यावर्तन न होने से रूपसाम्य की स्थिति में भी इन संसर्गादि साधनों के द्वारा विशिष्ट अर्थ का निर्धारण किया जाता है । एकत्वपक्ष में भी विभिन्न अर्थों के प्रतिपादन में शब्द की अनेक शक्तियाँ होती हैं, उनमें श्रुतिसाम्य तथा आनुपूर्वी साम्य के कारण कोई भेद नहीं प्रतीत होता, इस स्थिति में शब्द से अर्थविशेष के निर्णय में संसर्गादि साधनों का ही आश्रय लेना पड़ता है ।[1]

1- तत्र नानात्वपक्षे स्वभावभिन्नेषु तुल्यश्रुतिषु रूपभेदानवच्छिन्नेषु निमित्तान्तरै: संसर्गादिभिरवच्छेद: क्रियते । एकत्वपक्षे त्वर्थाभिधाने भिन्नासु शक्तिषु श्रुतिसारूप्यमात्रादलब्धविभागासु तथैव संसर्गादिभिरर्थनिर्णय: क्रियते इत्युभयत्रापि प्रकरणादय: शब्दार्थनिर्णयनिपुणा इति तदुपन्यास: कथ्यते।
वा०प०पुण्यराज 2/315-6

भर्तृहरि ने अर्थविशेष के निर्णय के लिए निम्नलिखित साधनों का परिगणन किया है -
संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द का सान्निध्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर आदि ।[1]
पुण्यराज ने इन परिगणित समस्त अर्थनिर्णायक साधनों की सोदाहरण व्याख्या की है ।

संसर्ग :

वस्तुविशेष के किसी वस्तु से प्रसिद्ध संयोग के आधार पर अर्थ का नियमन होता है । "सकिशोरा धेनु:" प्रयोग में अश्वशावक अर्थ के वाचक किशोर शब्द के संयोग के कारण धेनु शब्द का अर्थ घोड़ी ही गृहीत होता है । धेनु शब्द के अनेकार्थक होने पर भी किशोर शब्द के संयोग से अर्थनिर्धारण हो जाता है । इसी प्रकार "सवत्सा धेनु:" "सशङ्खचक्रो हरि:" आदि संयोग के उदाहरण हैं । शास्त्रों में भी संयोग से अर्थ निर्धारित होता है "अवाद् ग्र:" (पा०सू० 3/1/51) सूत्र में जिसका अव उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होगा वही तुदादि "गृ" धातु ली जायेगी क्यादि नहीं।

विप्रयोग :

संयोग के समान ही प्रसिद्ध सम्बन्ध का विप्रयोग भी शब्द से विशिष्ट अर्थ के बोध में सहायक होता है । "अकिशोरा धेनु:" में किशोर शब्द के विप्रयोग का उपादान होने के कारण धेनु का अर्थ घोड़ी निश्चित होता है । "अशङ्खचक्रोहरि:" "अवत्सा धेनु"आदि प्रयोगों में भी विप्रयोग के कारण अर्थ निश्चित किया जाता है । "भुजोऽनवने" (पा०सू० 1/3/66) में उसी "भुज" धातु का ग्रहण होता है जिसका अवन तथा अनवन अर्थ है, कौटिल्यार्थक का नहीं । अतएव "निर्भुजति पाणिम्" में आत्मनेपद नहीं होता ।

1- वा०प० 2/315-6

3- साहचर्य -

"रामलक्ष्मणौ" प्रयोग में लक्ष्मण शब्द के साहचर्य से दशरथपुत्र राम का बोध होता है, परशुराम या बलराम का नहीं । इसी प्रकार "भीमार्जुनौ" कहने पर कार्तवीर्य अर्जुन का बोध न होकर पार्थ अर्जुन का बोध होता है।

4- विरोधिता :

जिनका परस्पर विरोध प्रसिद्ध है उनका एक साथ प्रयोग होने पर अर्थ का निर्धारण किया जाता है । "कर्णार्जुनौ" कहने पर अर्जुन का अर्थ पार्थ ही लिया जायेगा, क्योंकि कर्ण का पार्थ से ही विरोध प्रसिद्ध है ।

5- अर्थ :

महर्षि पतञ्जलि अर्थ एवं प्रकरण की अर्थनिर्णायकता पर बल देते हुए मानते हैं कि जिस प्रयोजन से वाक्य का प्रयोग किया गया है उसी अर्थ ग्रहण होगा, अन्य का नहीं ।[1] "स्थाणुं वन्दे" प्रयोग में वन्दनारूप प्रयोजन के कारण स्थाणु शब्द का शिव अर्थ निर्णीत होता है । "अञ्जलिना जुहोति" "अञ्जलिना सूर्यमुपतिष्ठते" इत्यादि स्थलों में जुहोति आदि प्रयोजन से अञ्जलि का विशेष अर्थ निर्धारित होता है ।

6- प्रकरण :

भर्तृहरि ने भी भाष्यकारकेसमान अन्य अर्थनिर्णायकों की अपेक्षा अर्थ एवं प्रकरण को प्रमुखता प्रदान की है ।[2] सर्वप्रथम निरुक्तकार यास्क ने यह

1- अर्थात् प्रकरणाद्वा लोके द्वयोरेकस्याभिनिवृत्तिः । म०भा० 6/1/84

2- तानि शब्दान्तराण्येव पर्याया इव लौकिकाः ।
अर्थप्रकरणाभ्यां तु तेषां स्वार्थो नियम्यते ।। वा० 2/330

माना कि "वेदमन्त्रों का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही निर्धारित करना चाहिए।[1] किस प्रसङ्ग में कौन सा शब्द या वाक्य प्रयुक्त हुआ है इसके निर्धारण से अर्थनिर्णय हो जाता है । युद्ध के प्रसङ्ग में "सैनधवमानय" कहने पर सैन्धव का अर्थ घोड़ा निर्णीत होता है, नमक नहीं । "शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे" (पा०सू० 3/1/17) सूत्र में करण शब्द का क्रिया अर्थ प्रकरण द्वारा ही निर्धारित होता है ।

7- लिङ्ग :

चिह्नविशेष से अर्थनिर्णय का उदाहरण है - "कुपितो मकरध्वजः"। यहाँ "मकरध्वज" से कामदेव अर्थ ही गृहीत होगा, क्योंकि कामदेव की ध्वजा में मकरचिह्न विद्यमान रहता है ।

8- अन्य शब्द का सान्निध्य :

पतञ्जलि प्रत्येक शब्द को अन्य शब्द के साथ सम्बद्ध हो जाने पर विशेष अर्थ का वाचक मानते हैं ।[2] "रामोजामदग्न्यः" प्रयोग में जामदग्न्य शब्द के सान्निध्य से राम का अर्थ परशुराम गृहीत होता है "देवःपुरारिः" में पुरारि शब्द के सान्निध्य से देव शब्द से शिव अर्थ का ग्रहण होताहै ।

9- सामर्थ्य :

सामर्थ्य के कारण "अनुदरा कन्या" कहने पर उदरविशेष के प्रतिषेध की प्रतीति होती है । "अभिरूपायकन्यादेया" में सामर्थ्य से अभिरूपवराय

1- मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतोऽपि न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः । निरुक्त 13/12

2- सर्वश्च शब्दोऽन्येन शब्देनाभिसम्बध्यमानो विशेषवचनः सम्पद्यते । म०भा० 2/1/55.

अर्थ लिया जाता है । इसी तरह मधुनामत्तः पिकः में पिक को मत्त करने का सामर्थ्य वसन्त ऋतु में है, अतः मधु से वसन्त अर्थ का ग्रहण होगा।

10- औचित्य :

औचित्य के आधार पर वाक्य में अप्रयुक्त शब्दों का भी आक्षेप कर अर्थनिर्णय किया जाता है । "सीरासिमुसलैः" प्रयोग में क्रिया का निर्देश न होने पर भी औचित्य के कारण लेखन, युद्ध तथा आवहन रूप समुचित क्रियापद का आक्षेप करके शब्द के अर्थ का निर्धारण किया जाता है । "पुंयोगादाख्या-याम्" {पा0सू0 4/1/48} में भी कहा गया है कि पृष्ठादि शब्दों का अग्रगामित्वादिरूप प्रवृत्तिनिमित्त पुल्लिङ्ग में ही सम्भव है अतः औचित्य के कारण पृष्ठ आदिशब्द पुल्लिङ्ग ही हैं।

11- देश :

वाक्य में देश का निर्देश हो जाने पर अनेकार्थक शब्द का मुख्य अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है । "मथुरायाः प्राचीनादुदीचीनाद्वा नगरादागच्छामि" वाक्य में मथुरा के निर्दिष्ट होने के कारण नगर का अर्थ पाटलिपुत्र नामक विशिष्ट नगर हो जाता है । "विभातिगगने चन्द्रः" में गगन स्थान के निर्देश के कारण चन्द्र का चन्द्रमा अर्थ ही गृहीत होगा कपूर नहीं ।

12- काल :

काल अर्थात् समय के निर्देश से भी अर्थ का नियमन होता है । शिशिर ऋतु में "द्वारम्" कहने पर द्वार बन्द कर दो अर्थ होगा तथा ग्रीष्म ऋतु में प्रयुक्त इसी शब्द का अर्थ द्वार खोल दो होगा । "निशिचित्रभानुः" प्रयोग में रात्रि समय का निर्देश होने से चित्रभानु का अर्थ चन्द्रमा होता है।

13- व्यक्ति :

व्यक्ति शब्द का अर्थ है - पुल्लिङ्‌ग, स्त्रीलिङ्‌ग एवं नपुंसकलिङ्‌ग। इन लिङ्‌गों के द्वारा अर्थ का नियमन होता है क्योंकि एक ही शब्द लिङ्‌ग-भेद से अन्यार्थक हो जाता है । "तद्ग्रामस्यार्ध लभेत" प्रयोग में "अर्ध" शब्द नपुंसकलिङ्‌ग में प्रयुक्त होने के कारण समप्रविभाग का वाचक है । तथा पुल्लिङ्‌ग का निर्देश होने पर वही अर्धशब्द वस्तु के एकदेश मात्र की प्रतीति कराता है । पुल्लिङ्‌ग में प्रयुक्त "मित्र" शब्द सूर्य अर्थ का वाचक होता है तथा यदि नपुंसकलिङ्‌ग में प्रयुक्त होता है तो वही मित्र शब्द सुहृद् अर्थ को प्रतिपादित करता है ।

14- स्वर :

स्वर से भी अर्थ का निर्धारण किया जाता है । स्वर वेद में प्रयुक्त वाक्यों के अर्थनिश्चय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है । "स्थूलपृषतीमालभेत" प्रयोग में यदि अन्तोदात्त स्वर है तो "स्थूलाचासौ पृषती" यह अर्थ होगा तथा यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वर है तो "स्थूलानि पृषन्ति यस्याम्" यह अन्यपदार्थप्रधान अर्थ होगा । यह अर्थ नियामक साधन सार्वत्रिक नहीं है । यही कारण है कि काव्य में स्वर को अर्थविशेष का निर्णायक नहीं माना गया ।

पुण्यराज ने भर्तृहरि द्वारा परिगणित इन साधनों की व्याख्या कर कारिका में आए हुए आदि शब्द से षत्व-सत्व णत्व-नत्वको भी संगृहीत कर इनसे अर्थनियमन को स्वीकार किया है । मेरे विचार से इन्हें अर्थ निर्णायक नहीं मानना चाहिए क्योंकि इनमें आनुपूर्वी बदल जाती है । तथा च ये सार्वत्रिक नहीं है । साहित्यशास्त्रियों ने आदि से अभिनय, उपदेश, निर्देश, संज्ञा, इङ्‌गित तथा आकार को भी संगृहीत किया है । येसब अभिनय के ही विशिष्ट रूप हैं अतः उन्हें अभिनय में ही समाहित मानना चाहिए वैयाकरण महाभाष्यकार आदि भी अक्षिनिकोच आदि अभिनयों से अर्थ का बोध स्वीकार करते हैं।

15- अभिनय :

इसके द्वारा अर्थनियमन का हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है -

एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम् ।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः ।[1]

यहाँ प्रयुक्त एतावत् शब्द विभिन्न परिणामों का बोधक है दूती हाथ के अभिनय से स्तनों की पृथुता, नेत्रों की विशालता, शरीर की उच्चता और उंगलियों पर दिनों की गणना द्वारा नायिका का वर्णन नायक के सम्मुख करती है । इनके अतिरिक्त वाक्य[2] तथा व्याख्यान भी वैयाकरणों द्वारा मुख्यार्थ के नियामक हेतु माने गये हैं । "कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम्" वाक्य में "कट" का करोति क्रिया से सम्बन्ध होने पर भीष्म शब्द का अर्थ भीष्मपितामह न होकर "बहुत बड़ा" होता है । इस अर्थ का बोध वाक्य के कारण ही होता है अन्यथा भीष्मपितामह अर्थ का व्यावर्तन अशक्य ही था ।

व्याख्यान से अर्थ का निर्णय स्वीकार करते हुए पतञ्जलि की धारणा है कि संदेह की स्थिति में अर्थ का बोध व्याख्यान द्वारा होता है । जहाँ तुल्यबल वाले दो या अधिक अर्थों की एकसाथ प्रवृत्ति होती है वहाँ आचार्यों के व्याख्यान के आधार पर अर्थ का निर्णय किया जाता है, तथा वही निर्णीत अर्थ व्यवहार में प्रयुक्त होता है । संदिग्ध मानकर उसकी उपेक्षा नहीं की जाती । "सिद्धेशब्दार्थसम्बन्धे" वार्तिक में प्रयुक्त "सिद्ध" शब्द का अर्थ संदिग्ध है । इसको आचार्य के व्याख्यान से उस स्थल में नित्यार्थक मानना पड़ता है।[3]

1- काव्यानुशासन पृ0 40·

2- वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः ।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलाः ।। वा0प0 2/314

3- व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्" इति नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमितिव्याख्यास्यामः ।
म0भा0प0स्पशा पृ0 40·

पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित इन अर्थ-नियामक साधनों की काव्यशास्त्रियों ने अपने अपने ग्रन्थों में सोदाहरण विस्तृत व्याख्या की है। मम्मट आदि आचार्यों ने भर्तृहरि आदि को अभिमत उपर्युक्त समस्त अर्थ निर्णायकों को स्वीकार कर लिया है। इनकी विप्रतिपत्ति केवल "स्वर" की अर्थनिर्णायकता के संदर्भ में है। स्वर वेद आदि में भले ही अर्थ के निर्धारण में सहायक बनता हो किन्तु काव्य में वह अप्रयोजक है। काव्य में स्वर को अर्थ का नियामक न मानने का प्रधान कारण यह है कि यदि स्वर से समासादि का भेद मानकर अर्थनिर्धारित करेंगे तो श्लेष अलङ्कार का उच्छेद हो जायेगा।

कुछ आचार्यों ने मात्र सामर्थ्य को अर्थ का निर्णायक कहकर अन्य विवेचित साधनों को इसी का सहायक स्वीकार किया है। इन आचार्यों के अभिमत का सङ्केत पुण्यराज तथा नागेश दोनों ने किया है।[1] सामर्थ्य को ही अर्थनियमन का हेतु स्वीकार करने वालों का अभिप्राय यह है कि अर्थ-प्रकरणादि के द्वारा जो विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती भी है वह सामर्थ्य के रहने पर ही, सामर्थ्य के न रहने पर इनसे अर्थनियमन अशक्य है। संसर्गादि के द्वारा भी सामर्थ्य ही प्रकट किया जाता है। इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि पुण्यराज तथा नागेश को यह मत स्वीकृत नहीं था, उन्होंने भर्तृहरि को अभिमत सम्पूर्ण साधनों को अर्थ के निर्णय में आवश्यक माना है।

पण्डितराज जगन्नाथ का मत:

पण्डितराज जगन्नाथ ने सम्पूर्ण अर्थनिर्णयनिमित्तों की व्याख्या

1- क- तदत्र केचित् सामर्थ्यमेवैकं शब्दार्थनिर्णयनिमित्तमिति मन्यन्ते। योऽप्यर्थप्रकरणादिना तत्र भेदः समधिगम्यते सोऽपि सामर्थ्यादेवाऽवप्रतीयत इति कथयन्ति। सामर्थ्यमेव हि संसर्गादिभिर्व्यज्यत इति।
वा०प०पुण्यराज 2/316

ख- अत्र सामर्थ्यमेवैकं मुख्यं निर्णायकं संयोगादयस्तद्व्यञ्जकप्रपञ्चः। तैः सामर्थ्यस्यैवाभिव्यक्तेरिति परे।
वै०सि०ल०म०पृ० 91।

करने के अनन्तर उपसंहार में एक विशेष तथ्य को स्पष्ट किया है । इनकी मान्यता है कि अर्थनिर्णायक अर्थ, सामर्थ्य तथा औचित्य के क्रमश: - "स्थाणुं भज भवच्छिदे", "मधुना मत्त: कोकिल:", "पातु वो दयितामुखम्" इन उदाहरणों में चतुर्थी - विभक्ति, तृतीया विभक्ति तथा योग्यता से एक प्रकार का कार्यकारणभाव ही ज्ञात कराया जाता है, अत: उन समस्त स्थलों में कार्यकारणभाव को ही अभिधा का नियामक मानना चाहिए था परन्तु चतुर्थी-विभक्ति आदि के परस्पर भिन्न होने के कारण प्राचीन आचार्यों ने नियामकों की श्रेणी में भी पृथक् पृथक् नियामकों के रूप में इनकी विवेचना की है । वस्तुत: तो लिङ्ग ही अकेले अभिधा का नियामक है । इसका कारण यह है कि संयोगादि समस्त नियामक नानार्थक शब्दों के प्रयोगों में सर्वत्र उपस्थित रहते हैं अत: उन सर्वसाधारण नियामकों से शक्ति का सङ्कोच असम्भव है । प्रसिद्धि के आधार पर उन सर्वसाधारण नियामकों में विशेष बुद्धि स्थापित भी कर ली जाय तो वे संसर्गादि नानार्थक शब्द के अभिप्रेत अर्थों के लिङ्ग ही हो जाते हैं । अर्थात् जब असाधारण धर्म को ही लिङ्ग कहा जाता है तब प्रसिद्धि के आधार पर असाधारण बनाए गये वे संयोगादि भी लिङ्ग ही बन जाते हैं ।[1] यद्यपि यहाँ पण्डितराज जगन्नाथ लिङ्ग का व्यापक रूप प्रस्तुत कर उसमें सबका अन्तर्भाव करना चाहते हैं तथापि अर्थ आदि ऐसे साधन हैं जिनका किसी भी स्थिति में लिङ्ग में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

1- इहार्थसामर्थ्यौचितीनामुदाहरणेषु चतुर्थ्यादिस्तृतीयादिरर्थसामर्थ्येन बोध्यमानकार्यकारणभाव एव नियामक:, न तु वस्त्वन्तरम् । बोधकवैचित्र्याच्च नियामकस्य वैचित्र्येणोक्ति: प्राचाम् । वस्तुतस्तु संयोगादीनामर्थान्तरसाधारणत्वे नानार्थशब्दस्यार्थविशेषे शक्ते: सङ्कोच एव न सम्भवति, नियामकानामसङ्कुचितत्वात् अर्थप्रसिद्ध्यादिना तेषामसाधारणताबुद्धिर्यथाकथञ्चिदुत्पाद्यते तदा प्रायशो लिङ्गभेदा एवैते, न तु सर्वथैव तत: स्वतन्त्रा इति बोध्यम् ।

र०गं०पृ०63

अभिधा शक्ति के भेद :

वैयाकरण आचार्यों तथा साहित्यशास्त्रियों ने अभिधा के तीन भेदों को मान्यता प्रदान की है । इसके निम्नलिखित तीन भेद हैं -

1- रूढ़ि, 2- योग, तथा 3- योगरूढ़ि ।

रूढ़ि :

महर्षि पतञ्जलि ने "आदयसुभगस्थूलपलित नग्नान्धप्रियेषु च्वर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन्" (पा०सू० 3/2/56) सूत्र के व्याख्यान में रूढ़िशब्दों के विषय में विचार करते हुए कहा है कि ताच्छीलिक शब्द रूढ़ि शब्द हैं । ये रूढ़ि शब्द गति से विशिष्ट नहीं होते । देवदत्त शब्द प्रदेवदत्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह रूढ़िशब्द है ।[1] इनका अभिप्राय यह है कि इन ताच्छीलिक शब्दों का अर्थ रूढ़िशक्ति के द्वारा ही प्रतिपादित होता है, इनमें अवयवार्थ की कल्पना नहीं की जाती । पतञ्जलि के आशय को कैयट ने भी स्पष्ट किया है । रूढ़िशब्दों में क्रिया का आश्रय केवल व्युत्पत्ति के लिए ही लिया जाता है । उदाहरण के लिए गौ यह शब्द रूढ़ि शब्द है इसकी व्युत्पत्ति "गच्छतीति गौः" कहकर की जाती है । गो शब्द के गाय अर्थ में रूढ़ होने के कारण गमन क्रिया से रहित होने पर भी गाय को गाय कहते हैं तथा च गाय के अतिरिक्त अन्य पदार्थ को गमन-क्रिया से युक्त होने पर भी गाय नहीं कहा जाता ।[2] पतञ्जलि एवं कैयट के विवेचन से स्पष्ट है कि कुछ ऐसे शब्द हैं जिनमें योगशक्ति की उपेक्षा कर रूढ़िशक्ति के द्वारा ही अर्थबोध होता है ।

1- रूढ़ि शब्दप्रकारास्ताच्छीलिकाः । न च रूढ़ि शब्दा गतिभिर्विशिष्यन्ते । नहि भवति देवदत्तः प्रदेवदत्त इति । म०भा० 3/2/56

2- यथा रूढ़िशब्देषु क्रिया केवलं व्युत्पत्त्यर्थमाश्रीयते "गच्छतीति गौरिति" । तेन गमनक्रियारहितोऽपि गौर्भवति । गोपिण्डाच्चान्योऽर्थो गमनक्रिया-विशिष्टोऽपि गौर्न भवति । म०भा०प्र० 3/2/56

भर्तृहरि एवं हेलाराज ने भी रूढि शक्ति का अस्तित्व स्वीकार कर इसकी अर्थप्रतिपादकता का समर्थन किया है । इनका विचार है कि रूढि शक्ति के द्वारा जिन शब्दों के अर्थ का बोध होता है उन शब्दों से अवयवार्थ का ज्ञान नहीं होता यद्यपि प्रवृत्तिनिमित्त अन्तरङ्ग-क्रिया की सत्ता उन शब्दों में अवश्य रहती है तथापि क्रिया का अनादर करके रूढिशब्द पदवाच्य द्रव्य के समान हो जाते हैं । शब्द की व्युत्पत्ति के लिए क्रिया का आश्रय अवश्य लिया जाता है परन्तु उस क्रिया का अर्थबोध में उपयोग नहीं होता ।[1] प्रकृति एवं प्रत्यय के विभाग के काल्पनिक तथा प्रक्रियानिर्वाहार्थ होने के कारण शब्दों में रूढ तथा यौगिक आदि विभाग अनुपन्न हैं? इस समस्या का भर्तृहरि ने समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वृत्ति अर्थात् समास तथा वाक्य अर्थात् विग्रह में जो सादृश्य देखा जाता है वह शास्त्रकारों द्वारा कल्पित है । वृत्ति अवस्था में अन्य तथा वाक्य अवस्था में अन्य अर्थ की प्रतीति होने से अनेक शब्दों को रूढिशब्द स्वीकार कर लिया जाता है ।[2] जैसे "अश्वकर्ण" शब्द समस्त रूप में घोड़े के कान का वाचक न होकर तदाख्य वृक्षविशेष का वाचक होता है । वृक्षविशेष अर्थ में वह शब्द रूढ हो गया है ।

रूढि शक्ति का स्पष्ट लक्षण नागेश के द्वारा भी प्रस्तुत किया गया है । आचार्य नागेश अपनी मान्यता पतञ्जलि एवं भर्तृहरि आदि पूर्वाचार्यों के आधार पर ही यद्यपि प्रतिपादित करते हैं, तथापि इनके विचारों में नवीनता तथा स्पष्टता अधिक है । इन्होंने रूढि शक्ति के विषय में कहा है कि जहाँ पर शास्त्रकारों द्वारा कल्पित अवयवों अर्थात् प्रकृति प्रत्ययों के अर्थ की प्रतीति नहीं होती तथा जिसके कारण प्रकृति-प्रत्यय के समुदाय मात्र में

1- क- लकृत्यक्तखलर्थानां तथाव्ययकृतामपि
रूढिनिष्ठधञादीनां धातुः साध्यस्यवाचकः । वा०प०क्रि०स० 52
ख- संज्ञाशब्दानामपि व्युत्पत्तिकर्मणि क्रियाया उपयोगः । वही हेलाराज-52

2- वाक्येष्वर्थान्तरगतेः सादृश्यं परिकल्प्यते ।
केषाञ्चिद्र रूढिशब्दत्वं शास्त्र एवानुगम्यते ।। वा०प० 2/37

बोध्यता रहती है, उस शक्ति को रूढि कहते हैं ।[1] मणि, नूपुर, रथ, वरूथ आदि शब्दों में प्रकृतिप्रत्यय के अर्थ की प्रतीति न होने के कारण रूढि शक्ति शक्ति से इन अर्थों का बोध होता है अतएव ये शब्द रूढ शब्द हैं ।

काव्यशास्त्रियों में वृत्तिवार्तिककार अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ का रूढि शक्ति विषयक विवेचन महत्त्वपूर्ण है ।

वृत्तिवार्तिककार ने भर्तृहरि आदि के समान रूढि शक्ति से कुछ शब्दों के अर्थ का बोध स्वीकार करते हुए लिखा है कि अवयवविभागरहित केवल समुदायनिष्ठ शक्ति से पद में रहने वाली एक अर्थ की प्रतिपादकता का नामरूढि है।[2] इस शक्ति के द्वारा जिन शब्दों से अर्थ का बोध होता है उन शब्दों से किसी अन्य व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का बोध नहीं होता, ये शब्द एक ही अर्थ में रूढ हो जाते हैं । अवयवशक्ति की बिना अपेक्षा के समुदायशक्ति मात्र से शक्त नूपुर आदि पदों से अर्थ का ज्ञान होता है ।

पण्डितराज जगन्नाथ रूढि को "केवल समुदायशक्ति" नाम से अभिहित करते हैं । इनका अभिप्राय यह है कि अवयवार्थ की प्रतीति न कराकर केवल समुदाय के अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति "केवल समुदायशक्ति है।" इन्होंने "डित्थ" को इसका उदाहरण माना है डित्थ शब्द में अवयवों के अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती, यह शब्द केवल समुदायशक्ति के द्वारा डित्थव्यक्ति रूप अर्थ को प्रतीत कराता है ।[3]

1- शास्त्रकृत्कल्पितावयवार्थाप्रतीतौ यदर्थनिरूपितं प्रकृतिप्रत्ययसमुदायमात्रे बोधकत्वं तत्पदे सा तदर्थनिरूपिता रूढि: । वै0सि0ल0म0पृ088

2- अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढि: । वृत्तिवार्तिक पृ02·

3- सेयमभिधा त्रिधा- केवलसमुदायशक्ति: ---- ।
आद्याया डित्थादिकमुदाहरणम् तत्रावयवशक्तेरभावात्।
र0गं0पृ0 126·

योग :

नागेश के अनुसार जिस शक्ति के कारण शास्त्रकारों द्वारा कल्पित प्रकृति-प्रत्यय के ही अर्थ का बोध होता है उसे योगशक्ति कहते हैं।[1] पाचक, पाठक आदि शब्दों से योगशक्ति के द्वारा प्रकृति एवं प्रत्यय के ही अर्थ का बोध होता है । जगन्नाथ आदि काव्यशास्त्रियों ने भी योगशक्ति का यही स्वरूप माना है । इनके अनुसार पाचक, पाठक आदि शब्दों में धातु एवं प्रत्यय की शक्ति से बोध्य दो अर्थों के अन्वय से अवगत होने वाले "पाकक्रिया का कर्ता" इस अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती । अर्थ की प्रतीति केवलावयवशक्ति के द्वारा ही होती है । केवलसमुदाय-शक्ति की इन शब्दों में प्रवृत्ति नहीं होती । अतएव कोई भी पाक क्रिया का कर्ता पाचक कहलाता है ।[2]

योगरूढि :

जहाँ शास्त्रकारों द्वारा कल्पित अवयवों के अर्थों से समन्वित विशेष्यभूतार्थनिरूपित समुदाय में बोधकत्व होगा वहाँ योगरूढिशक्ति होती है । पङ्कज आदि शब्दों में उपपद धातु एवं प्रत्यय रूप अवयवों के अर्थों के परस्पर अन्वित हो जाने पर "कीचड़ से उत्पन्न होने वाला" यह अर्थ योगशक्ति के द्वारा बोध का विषय बनता है । किन्तु अवयवशक्ति के साथ ही समुदाय शक्ति के द्वारा कमलत्व जाति से युक्त पदार्थ की प्रतीति होती है । अन्यथा अवयवशक्ति द्वारा बोध्य अवयवों के अर्थमात्र को ग्रहण करने पर पङ्कज के मीन शैवाल आदि अर्थ भी हो सकते हैं क्योंकि ये भी कीचड़ से

1- शास्त्रकृत कल्पितावयवार्थमात्रबोधे योगशक्तिः ।
यथापाचकादौ । वै०सि०ल०म०पृ० 89.

2- द्वितीयायास्तुपाचकपाठकादिः, तत्र धातुप्रत्ययशक्तिबोध्ययोरर्थयोरन्वये-नोल्लसितात् पाककर्तृरूपादर्थादृतेऽर्थान्तरस्यानवभासेन समुदायशक्तेरभावात् ।
र०गं० पृ० 126.

उत्पन्न होते हैं । अतएव अवयव तथा समुदाय अर्थात् योग तथा रूढि दोनों शक्तियों के मिश्रण से उचित अर्थ का बोध होता है। नागेश तथा जगन्नाथ दोनों के एतद्विषयक विचार एक ही हैं ।[1]

नागेश ने यह भी स्पष्ट किया है कि कभी कभी तात्पर्य के कारण योगरूढि शक्ति से बोध्य अर्थ वाले योगरूढ शब्दों के केवल अवयवशक्ति के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का ही ग्रहण होता है तथा कभी कभी समुदाय शक्ति अर्थात् रूढि के द्वारा बोध्य अर्थ का ही ग्रहण होता है । पङ्कज शब्द के ही विभिन्न प्रयोगों से यह बात सिद्ध हो जाती है । "भूमौ पङ्कजमुत्पन्नम्" प्रयोग में पङ्कज का केवल रूढ अर्थ गृहीत होता है जबकि "कल्हारकैरवमुखेष्वपि पङ्कजेषु"प्रयोग में पङ्कज शब्द केवल यौगिक अर्थ "पङ्क से उत्पन्न" का बोध कराता है । इन्होंने "आहर्ति" (पा०सू० 5/1/58) सूत्र के भाष्य को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है । वहाँ के भाष्य का अभिप्राय यह है कि "सर्वतः समानार्थक परिमाण शब्द का योगरूढि के कारण प्रस्थ आदि अर्थ बोध का विषय बनता है।" यह कहकर महाभाष्यकार ने "तदस्य परिमाणम्" (पा०सू० 5/1/57) तथा "संख्यायाः संज्ञा" (पा०सू० 5/1/58) इन दोनों सूत्रों में विशेषणविशेष्य-भाव की अनुपपत्ति की आशङ्का करके "वचनादीयती विवक्षा भविष्यति" कहा है । इसका अभिप्राय यह है कि रूढि के परित्याग से परिमाण का परिच्छेदकत्व मात्र अर्थ गृहीत होगा ।[2]

1- क- समुदायावयवशक्तिसङ्करश्चेति । --- तृतीयायाः पङ्कजादिः, इह धातूपपदप्रत्ययरूपावयवशक्तिवेद्यानां पङ्कजाननकर्तृणामाकाङ्क्षादि-वशादन्वये प्रकाशमानात् पङ्कजनिकर्तृरूपादर्थादतिरिक्तस्य पद्मत्व-विशिष्टस्य प्रत्ययेन तदर्थं समुदायशक्तेरपि कल्पनादुभयोः सङ्करः।
र०गं०पृ० 126-7

ख- यत्र शास्त्रकल्पितावयवार्थान्वितविशेष्यभूतार्थनिरूपितं समुदाये बोधकत्वं सा योगरूढिः, यथा पङ्कजादौ, तत्र पङ्कजनिकर्तृपद्ममिति बोधात्।
वै०सि० ल०म० पृ० 89.

2- क- क्वचित् तात्पर्यग्राहकवशात् केवल रूढ्यर्थस्य केवलयोगार्थस्य च बोधः, "भूमौ पङ्कजमुत्पन्नम्" "कल्हारकैरवमुखेष्वपि पङ्कजेष्वित्यादौ" । स्पष्टं चेदं आहर्ति इति सूत्रे भाष्ये ।

ख- म०भा० (पा०सू० 5/1/58).

इस प्रकार वैयाकरण तथा साहित्यशास्त्री आचार्य अभिधा के स्वरूप तथा भेद आदि के प्रतिपादन में एकमत हैं । काव्यशास्त्रियों ने यथावसर अन्य नैयायिक मीमांसक आदि आचार्यों के अभिमतों को अस्वीकृत कर वैयाकरणों के अभिमत का समर्थन किया है ।

लक्षणाशक्ति

लक्षणाशक्ति का वैयाकरणों, मीमांसकों तार्किकों, तथा आलङ्कारिकों ने विस्तारपूर्वक व्याख्यान प्रस्तुत किया है । जब कोई शब्द अभिधाशक्ति के द्वारा वक्ता की विवक्षित अर्थ का बोध कराने में असमर्थ हो जाता है तब अर्थप्रत्यायन के लिए लक्षणावृत्ति का आश्रय लिया जाता है । इस वृत्ति के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को लक्ष्यार्थ या गौणार्थ कहा जाता है तथा इस अर्थ के प्रतिपादक शब्द को लाक्षणिक ।

लक्षणा के स्वरूप का विचार ब्राह्मणग्रन्थों में ही होने लगा था । आचार्य यास्क ने "बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति" कहकर उपर्युक्त धारणा का समर्थन किया है । इनके कथन का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों में लक्षणा का विस्तृत निरूपण मिलता है । यहाँ लक्षणा के पर्यायवाची "भक्ति" शब्द का उपादान किया गया है । भक्ति शब्द का प्रयोग लक्षणा के अर्थ में आनन्दवर्धन आदि आलङ्कारिकों ने भी किया है ।

व्याकरणशास्त्र में लक्षणा का स्वरूप -

भाष्यकार पतञ्जलि, भर्तृहरि, पुण्यराज तथा नागेश आदि आचार्यों ने लक्षणा का सर्वाङ्गीण विश्लेषण कर साहित्यशास्त्रियों को लक्षणा के स्वरूप तथा भेद आदि की व्याख्या के लिए ठोस आधार प्रदान किया है । पतञ्जलि आदि वैयाकरणों को आधार बनाकर आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि आचार्यों ने लक्षणा का

परिष्कृत तथा अर्थबोधोपयोगी स्वरूप निर्धारित किया । भेदों के प्रतिपादन में भी इन पर वैयाकरणों का प्रभाव है ।

पाणिनि तथा पतञ्जलि का मत -

"पुंयोगादाख्यायाम्" {पा0सू0 4/1/48} सूत्र में लक्षणा के कारणों की व्याख्या के लिए आचार्य पाणिनि ने एक मूलभूत समस्या को स्पष्ट किया है । भाष्यकार पतञ्जलि इनकी मान्यता की अपने ढंग से व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि "पृष्ठस्य स्त्री", "ब्राह्मणस्य स्त्री" आदि अर्थों में पृष्ठ, ब्राह्मण आदि से स्त्रीत्व की आख्या में पुँल्लिङ्ग के योग में उक्त सूत्र के द्वारा ङीष् प्रत्यय करने पर जो पृष्ठी, ब्राह्मणी, गोपी आदि शब्द निष्पन्न होते हैं, वे मूलतः पुँल्लिङ्ग शब्द स्त्रीलिङ्ग कैसे हो सकते हैं ? कोई भी शब्द जो पुँल्लिङ्ग है वह स्त्रीलिङ्ग नहीं हो सकता । इस स्थिति में पाणिनि द्वारा उक्त सूत्र का व्याख्यान असङ्गत प्रतीत होता है क्योंकि सूत्र का अभिप्राय ही यही है कि जो पुँल्लिङ्ग शब्द है यदि वह पुंयोग से स्त्री की आख्या में प्रवृत्त होता है तो उससे ङीष् प्रत्यय का विधान किया जाता है । पाणिनि को सम्बन्ध का - "उसका यह है"[1] ऐसा स्वरूप मान्य है । पुरुष की आत्मा स्वतन्त्र है तथा स्त्री की भी आत्मा स्वतन्त्र है, उन दोनों में "उसका यह है" इत्याकारक सम्बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है ? अतः पतञ्जलि पाणिनि को ही अभिमत सम्बन्ध के दूसरे रूप का अन्वेषण करते हैं । यह सम्बन्ध योग्यता रूप है । इसको पाणिनि "तदर्हति" {पा0सू0 5/1/63} तथा "तदर्हम्" {पा0सू0 5/1/117} दो सूत्रों से परिभाषित करते हैं । इन सूत्रों से स्पष्ट है कि दो पदार्थों का योग्यता सम्बन्ध भी होता है । इन्हीं सूत्रों के आधार पर पतञ्जलि भर्तृहरि तथा नागेश आदि आचार्यों ने शब्द एवं अर्थ के बीच योग्यता सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है ।

1- तस्येदम् {पा0सू0 4/3/120}

पतञ्जलि "उसका यह है" इत्याकारक सम्बन्ध में अनुपपत्ति दिखाकर इसका निराकरण करते हुए "सोऽयम्" "वह यह है" इस रूप के सम्बन्ध की कल्पना करते हैं ।[1] इस प्रकार पाणिनि के द्वारा पुंवाचक शब्द से पुंयोग में स्त्री की आख्या में ङीष् विधान से सिद्ध होता है कि इन्हें लक्षणाशक्ति मान्य थी । पुंवाचक शब्द में स्त्रीत्व का आरोप कर लेने से उनसे स्त्री प्रत्यय ङीष् का विधान उपपन्न हो जाता है । सिद्धान्त कौमुदी की "तत्त्वबोधिनी" व्याख्या में भी कहा गया है कि पुंयोग से स्त्री अर्थ में जो शब्द है" ऐसा कहकर पाणिनि ने गौणी वृत्ति अर्थात् लक्षणा का अभिधान किया है ।[2]

योग्यता सम्बन्ध को स्वीकार करने के अनन्तर पतञ्जलि ने दो भिन्न पदार्थों में अभिन्नता या तादात्म्य किस स्थिति में हो सकता है इस तथ्य को विवेचित करते हुए लक्षणा की स्थिति को स्पष्ट किया है । भिन्न में अभिन्नता का ज्ञान, अतत् में तत् का ज्ञान, अथवा अन्य में अन्य के धर्मों का आरोप ही लक्षणा है । पतञ्जलि के अनुसार अन्य में अन्य के धर्मों का आरोप चार प्रकार से सम्भव होता है ।

1- तात्स्थ्य ।

2- ताद्धर्म्य ।

3- तत्सामीप्य ।

4- तत्साहचर्य ।[3]

1- किं पुनरत्रोदाहरणम् ? प्रष्ठी । प्रचरीति ।। कथं पुनरयं प्रष्ठशब्दोऽ-कारान्तः स्त्रियां वर्तते ? ।।तस्येदमित्यनेनाभिसम्बन्धेन । यथैव ह्यसौ तत्कृतान्स्नानोद्वर्तनपरिषेकाँल्लभते एवं प्रष्ठशब्दमपि लभते ।----नावश्यमेवायमभिसम्बन्धो भवति तस्येदमिति, अयमप्यभिसम्बन्धोऽस्ति "सोऽयमिति ।।म०भा० 4/1/48

2- पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते इत्यनेन गौणी वृत्तिरुक्ता ।सि०कौ० त०बो०
पृ०-150

3- कथं पुनरेतस्मिन् "स" इत्येतद् भवति ? चतुर्भिः प्रकारैस्तस्मिन् "स" इत्येतद् भवति-तात्स्थ्यात्,ताद्धर्म्यात्,तत्सामीप्यात्,तत्साहचर्यादिति
म०भा० 4/1/48

1- तात्स्थ्य -

तात्स्थ्य आधाराधेयभाव सम्बन्ध को कहते हैं । जिस पर कोई वस्तु रहती है वह उसका आधार होता है तथा आधार पर जो वस्तु रहती है वह है आधेय । यह आधाराधेयभाव सम्बन्ध लक्षणा का प्रयोजक है । आधार और आधेय में अन्य के गुणों का अन्य में आरोप किया जाता है । किसी लाक्षणिक प्रयोग में जब मुख्य अर्थात् साक्षात् सङ्केतित अर्थ अनुपपन्न हो जाता है तब लक्षणा शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध कराया जाता है । तात्स्थ्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा में मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के बीच आधाराधेयभाव सम्बन्ध रहता है पतञ्जलि ने तात्स्थ्यनिमित्त से प्रयुज्यमान लक्षणा के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं - "मञ्चा हसन्ति" तथा "गिरिर्दह्यते"[1] । "मञ्चा हसन्ति:" प्रयोग करने पर मञ्चस्थ बालकों में मञ्चत्व का आरोप होने से "हसन्ति" इस अन्य पद के प्रयुक्त होने के कारण मुख्यार्थ-बोध आदि का अनुसन्धान करने पर तात्स्थ्य निमित्त से मञ्च पद की लक्षणया मंचस्थ बालकों में प्रवृत्ति होगी । मञ्च अचेतन हैं, उनमें हसने की क्रिया सम्भव नहीं है अत: मुख्यार्थ बाधित होने के कारण मुख्यार्थ से सम्बद्ध लक्ष्यार्थ का बोध होता है । इसी प्रकार "गिरिर्दह्यते" प्रयोग में लक्षणावृत्ति का आश्रय लिया जाता है । गिरि शब्द का साक्षात् सङ्केतित अर्थ है पहाड़, इस पहाड़तत्त्व का जलना असम्भव है, अत: मुख्य अर्थ का बोध होने पर तात्स्थ्यनिमित्तक लक्षणावृत्ति के द्वारा गिरि शब्द से पहाड़ में स्थित वृक्षादि बोध के विषय बनते हैं। गिरि मुख्यार्थ तथा गिरि में स्थित वृक्षादि रूप लक्ष्यार्थ के बीच परस्पर आधाराधेयभाव सम्बन्ध स्थापित होता है।

1- तात्स्थ्यात् मञ्चा हसन्ति गिरिर्दह्यते । म०भा० 4/1/48

2- तादधर्म्य :

ताद्धर्म्य निमित्त से भी अन्य में अन्य वस्तु के धर्म का आरोप हुआ करता है । गुणों या क्रिया की समानता में अन्य में अन्य के धर्मों का आरोप किया जाता है । भिन्न पदार्थ में गुणों या क्रिया के सादृश्य के आधार पर अभिन्नता के उदाहरण हैं - "गौर्वाहीक:", "सिंहो माणवक:", "जटी ब्रह्मदत्त:" आदि ।

"गौर्वाहीक:" लाक्षणिक प्रयोग में जडता, मन्दता आदि गुणों के सादृश्य से वाहीक में गोत्व का आरोप किया जाता है । यहाँ मुख्यार्थ अनुपपन्न था, अत: धर्मों की समानता के कारण इसका लक्ष्यार्थ होगा गो में विद्यमान जडता मन्दता आदि गुणों से युक्त यह वाहीक है । बालक में सिंह के सदृश शूरता वीरता आदि देखकर उसे सिंह कह दिया जाता है, वस्तुत: वह सिंह नहीं होता अत: मुख्यार्थ के अनुपपन्न होने पर तादधर्म्य के कारण "सिंह में विद्यमान शूरता वीरता आदि गुणों वाला यह बालक है" यह अर्थ लक्षणा शक्ति के द्वारा बोध का विषय बनता है । इसी प्रकार "जटी ब्रह्मदत्त:" प्रयोग में जिस व्यक्ति का नाम ब्रह्मदत्त नहीं है उसको भी ब्रह्मदत्त के सदृश गुणों से युक्त देखकर "यह ब्रह्मदत्त है" ऐसा कह दिया जाता है ।[1] पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित लक्षणा के निमित्त तादधर्म्य की व्याख्या भर्तृहरि ने भी की है । इनका विचार है कि गौर्वाहीक: प्रयोग में वाहीक में गोत्व का आरोप जाड्यादि गुणरूप जो साधारण धर्म हैं तद्रूप प्रयोजन विशेष के कारण किया जाता है ।[2]

1- तादधर्म्यात् - जटिनं यान्तं ब्रह्मदत्त इत्याह । ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि जटिन्यपि तानि क्रियन्त इत्यतो जटी ब्रह्मदत्त इत्युच्यते ।
महा0 4/1/48

2- गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात्कैश्चिदिष्यते ।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्द: स्वार्थे व्यवस्थित: ।। वा0प0 2/255·

-

इस संदर्भ में पतञ्जलि तथा भर्तृहरि ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह स्पष्ट किया है कि जिस शब्द से लक्षणा वृत्ति के द्वारा अर्थबोध होता है उस शब्द में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह वही रहता है । वह अपने स्वरूप में स्थित रहता हुआ ही विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करने में समर्थ रहता है, इसीलिए इसे अपने अर्थ में व्यवस्थित माना गया है । वैयाकरणों का यह प्रसिद्ध तथा प्राणभूत सिद्धान्त है कि शब्दतत्त्व नित्यस्फोट रूप है उसमें किसी तरह का परिवर्तन सम्भव नहीं है । इस शब्दतत्त्व में अर्थ नित्य तथा नियमित रूप से विद्यमान रहता है। परिवर्तन केवल अर्थ का होता है यह अर्थ ध्वनिरूप अर्थ है । ध्वनि की अनित्यता के कारण ध्वन्यात्मक अर्थ में परिवर्तन होते रहते हैं । पतञ्जलि तथा भर्तृहरि के इन विचारों का पुण्यराज ने भी समर्थन किया है । इनके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है कि शब्द का अर्थ दो प्रकार का होता है - 1- स्वरूप रूप अर्थ तथा 2- बाह्य अर्थ । गौर्वाहीक: आदि प्रयोगों में शब्द से प्रथमत: केवल गोत्वादि का अभिधान होता है । जब यह अर्थ तात्पर्यादि के कारण अनुपपन्न हो जाता है तो जाड्य मान्द्य आदि निमित्तों से गोत्व का वाहीक में आरोप होता है । यही बाह्यार्थोपचार है । दोनों में केवल वैशिष्ट्य यह है कि गो शब्द स्वतन्त्र रूप से मुख्य गोत्व का अभिधायक होता है, जबकि गौर्वाहीक: में उसी शब्द से निमित्तादि के कारण आरोपित गोत्व का बोध होता है ।[1]

3- तत्सामीप्य :

सामीप्य सम्बन्ध के कारण प्रयुज्यमान लक्षणा का पतञ्जलि ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है - "गङ्गायां घोष:", "कूपे गर्गकुलम्" ।[2]

1- वा०प० पुण्यराज 2/255

2- तत्सामीप्यात् गङ्गायां घोष:, कूपे गर्गकुलम् । म०भा० 4/1/48.

"गङ्गायां घोषः" प्रयोग में आधाराधेय-भाव के अनुपपन्न होने के कारण सामीप्यरूप निमित्त से गङ्गा शब्द के मुख्यार्थ गङ्गाप्रवाह से सम्बद्ध तीर में गङ्गागत धर्मों का आरोप किया जाता है । जब गङ्गा शब्द मुख्यार्थ से सम्बद्ध तट रूप अर्थ का लक्षणा शक्ति के द्वारा बोध करा देता है तो उसमें घोष का आधारत्व उपपन्न हो जाता है । इसी प्रकार "कूपे गर्गकुलम्" में भी मुख्यार्थ के अनुपपन्न होने पर सामीप्य निमित्त से कुएँ के तट में कुएँ का आरोप होता है । लक्षणा शक्ति के द्वारा "कुएँ के समीप गर्गों का कुल है" यह अर्थ बोध का विषय बनता है ।

1- तत्साहचर्य :

साहचर्य के कारण भी अन्य वस्तु में अन्य के धर्मों का आरोप किया जाता है । कोई व्यक्ति किसी वस्तु को जब धारण किये रहता है तब उस वस्तु के साहचर्य के कारण उसी वस्तु के नाम से उस व्यक्ति को लक्षित किया जाता है । तत्साहचर्यरूप निमित्त से होने वाली लक्षणा के "कुन्तान् प्रवेशय" तथा "यष्टीः प्रवेशय" उदाहरण महाभाष्यकार द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं ।[1] इन उदाहरणों का मुख्य अर्थ बाधित होता है क्योंकि अचेतन कुन्त तथा यष्टियों के द्वारा प्रवेशन क्रिया नहीं हो सकती, अतः मुख्यार्थ के बाधित होने पर साहचर्य रूप निमित्त से कुन्तधारी तथा यष्टिधारी पुरुषों का लक्षणया बोध होता है । इस प्रकार महाभाष्यकार ने इन निमित्तों से प्रयुज्यमान लक्षणा का विवेचन कर पृष्ठ अकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्द के स्त्रीत्व की अनुपपत्ति का जो प्रश्न उठाया था उसका भी समाधान कर दिया है । "पृष्ठस्य स्त्री" "ब्राह्मणस्य स्त्री" आदि प्रयोगों में साहचर्य रूप निमित्त के द्वारा स्त्री में पृष्ठत्व, ब्राह्मणत्व आदि का आरोप किया जाता है, जिससे पुँल्लिङ्ग शब्द से पुंयोग में स्त्रीत्व की आख्या सम्भव हो जाती है ।

1- तत्साहचर्यात् - कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशयेति । वही 4/1/48.

पतञ्जलि ने अन्यत्र भी लक्षणा की आवश्यकता को स्वीकार कर उसका स्वरूप स्पष्ट किया है । डित्थ आदि शब्दों की अव्युत्पत्ति की स्थिति में भी उनसे अर्थबोध को स्वीकार करते हुए इन्होंने डित्थादि में गुण, क्रिया आदि के आरोप का प्रतिपादन किया है । डित्थ आदि में प्रकृत्यर्थ के अतिरिक्त प्रत्ययार्थ की अविद्यमानता के कारण गुणादि के अभाव में इन शब्दों से "तस्य भावस्त्वतलौ" (पा०सू० 5/1/119) सूत्र के द्वारा विधीयमान त्व तल् आदि भावार्थक प्रत्यय नहीं हो सकते । इस समस्या के समाधान में पतञ्जलि ने इन वर्तमानकालिक डित्थादि में प्राथमकल्पिक डित्थादि के गुणों के आरोप की कल्पना की है। इसका अभिप्राय यह है कि प्राक्तन कल्पों में हुए "डित्थ", "डाम्भिट्ट" आदि व्यक्तियों के द्वारा किये गये गुणों एवं क्रियाओं का सादृश्य आदि के कारण वर्तमानकालिक डित्थादि में आरोप कर इन शब्दों से भावप्रत्ययों की उपपत्ति की जाती है, तथा च कहा जाता है कि "डित्थ व्यक्ति इस प्रकार डित्थत्व कर रहे हैं।"[1] इस प्रकार भाष्यकार अन्य में अन्य के गुण क्रियादि का आरोप प्रतिपादित कर लक्षणा की स्थिति स्पष्ट करते हैं ।

भर्तृहरि का विवेचन :

लक्षणा के विषय में भर्तृहरि के विचार भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने शब्द को सर्वशक्तिमान् माना है । शब्द का मुख्यत्व एवं गौणत्व प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि के आधार पर होता है । शब्द में ऐसी शक्ति है कि

1- डित्थादिषु तर्हि वर्त्यभावाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति-डित्थत्वं डित्थता । डाम्भिट्टता डाम्भिट्टत्वमिति । तत्रापि - कश्चित् प्राथमकल्पिको डित्थो डाम्भिट्टश्चेति । तेन कृतां क्रियां गुणान् वा यः कश्चित् करोति स उच्यते-- डित्थत्वं त एतड्डाम्भिट्टत्वं एतत् । एवं डित्थाः कुर्वन्त्येवं डाम्भिट्टाः कुर्वन्ति ।। म०भा० 5/1/119.

उससे सभी प्रकार के अर्थों का बोध हो सकता है । गो शब्द की गोत्व अर्थ में प्रसिद्धि है अत: इस अर्थ के प्रतिपादन में गो शब्द मुख्य शब्द है । मुख्य शब्द में अर्थ की प्रतिपादकता मुख्या अर्थात् अभिधा वृत्ति के द्वारा सम्भव होती है तथा च उसी गो शब्द का वाहीक अर्थ अप्रसिद्ध अर्थ है अत: वाहीक अर्थ के प्रतिपादन में गो शब्द गौण है । यह गो शब्द लक्षणा वृत्ति के कारण उक्त अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ होता है ।[1]

भर्तृहरि द्वारा प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि के आधार पर शब्द के गौणत्व एवं मुख्यत्व के इस उपपादन से नागेश आदि आचार्यों ने अभिधा के दो प्रसिद्धा एवं अप्रसिद्धा भेदों की उपपत्ति कर लक्षणा का खण्डन करना चाहा है । पं० रघुनाथ शर्मा, डॉ० कालिकाप्रसाद शुक्ल आदि के द्वारा नागेश का समर्थन किया गया है । नागेश ने यद्यपि लक्षणा को न मानकर अप्रसिद्धा शक्ति को स्वीकार करने में लाघव का प्रतिपादन किया है तथापि गौण अर्थ के प्रतिपादन में लक्षणा के अतिरिक्त अन्य कोई वृत्ति समर्थ नहीं है । नागेश को भी कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थबोध के लिए लक्षणा वृत्ति को मानना पड़ा है । इन्होंने पाणिनि आदि प्रामाणिक आचार्यों द्वारा विहित सङ्केत को ही वाचकता का नियामक स्वीकार कर आधुनिक व्यक्तियों द्वारा विहित सङ्केतों के वाचकता-नियामकत्व का खण्डन किया है । इस स्थिति में आधुनिक सङ्केतों के स्थलों में तथा बारहवें दिन किये जाने वाले नामों से अर्थबोध के लिए अभिधा की अप्रवृत्ति के कारण लक्षणा वृत्ति को इन्हें भी स्वीकार करना पड़ता है । इन स्थलों में "घट," "गोविन्द" आदि के गुण, क्रिया आदि के आरोप के द्वारा तथा तन्मूलक प्रवृत्तिनिमित्त के आरोप के द्वारा लक्ष्यार्थ

1- सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मण: ।
प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपवर्ण्यते ।। वा०प० 2/253

का बोध होता है ।[1] नागेश ने अपनी बात के समर्थन में महाभाष्य के उस अंश को प्रमाण रूप में उपन्यस्त किया है जहाँ डित्थ आदि में प्राथमकल्पिक डित्थ आदि के द्वारा किए गये गुण क्रिया आदि का आरोप कर भावप्रत्ययों की उन शब्दों से उपपत्ति को प्रतिपादित किया गया है । महाभाष्य में प्रतिपादित इस अंश का विवेचन पहले किया जा चुका है ।

वस्तुत: भर्तृहरि यहाँ शब्द के व्यापक स्वरूप को स्पष्ट करना चाह रहे हैं । उनका यह कथमपि अभिप्राय नहीं है कि गौण अर्थ भी अभिधा द्वारा प्राप्त हो सकता है । शब्दों में विभिन्न अर्थों के प्रतिपादन का जो सामर्थ्य रहता है, वह निमित्तादि की दृष्टि से विभिन्न अर्थबोधक व्यापारों से अभिव्यक्त किया जाता है । आगे चलकर काव्यशास्त्रियों ने जिस अर्थ तथा संदर्भ में लक्षणा वृत्ति की व्याख्या की है लक्षणा का वही स्वरूप इन्हें भी अभिप्रेत था । अभिधेयार्थ मुख्य शब्द से साक्षात् सङ्केत सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है । "गौर्वाहीक:"प्रयोग में गो शब्द का वाहीक अर्थ किसी भी स्थिति में साक्षात्सङ्केतित नहीं माना जा सकता । मुख्यार्थबाधादि के अनुसन्धान तथा निमित्तादि के सत्त्व में गो शब्द लक्षणा वृत्ति के द्वारा ही गोत्वारोपवात् वाहीक अर्थ का प्रतिपादन करता है । वाहीक में गोत्व का आरोप भर्तृहरि स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं । अन्य में अन्यधर्मों का आरोप ही तो लक्षणा है । भर्तृहरि ने भी गोगत जाड्य,

---

1- एवञ्चाधुनिक सङ्केतस्थले द्वादशेऽहनि क्रियमाणनामस्थले च लक्षणा, तत्र घट–गोविन्दादिगुणाद्यारोपेण तन्मूलकतत्प्रवृत्तिनिमित्तारोपेण च बोध: । तदुक्तं पातञ्जलभाष्ये "डित्थादिषु भावप्रत्ययान्तवृत्तिर्न प्राप्नोति डित्थत्वम्" इत्याशङ्क्य प्राथमकल्पिकडित्थेन कृतां क्रियां गुणान् वा य: कश्चित् करोति स उच्यते "डित्थत्वं त एतदेवं डित्था: कुर्वन्ति ।

वै०सि० ल०म०पृ० 26·

मान्द्य आदि साधारण धर्मों को वाहीक में गोत्व के आरोप का निमित्त माना है ।[1] शब्द की अपने स्वरूप में स्थिति को स्थिर बताते हुए इन्होंने यह भी कहा है कि यद्यपि शब्द स्वरूपतः सभी अर्थों से सम्बद्ध होता है तथापि उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, निमित्तादि के कारण केवल अर्थ विपर्यस्त होता रहता है ।[2] "एक ही शब्द अनेक अर्थों का बोध कराने में समर्थ है" इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि के आधार पर शब्द का गौणत्व तथा मुख्यत्व उपपन्न हो जाता है ।[3]

भर्तृहरि ने यह भी स्पष्ट किया है कि जो शब्द अन्य शब्द के प्रयोग के कारण अर्थप्रकरणादिरूप प्रयत्न से मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के बोध के लिए प्रयुक्त होता है वह शब्द अप्रसिद्ध कहलाता है, इस शब्द की गौण अर्थ में हठात् प्रवृत्ति होती है ।[4] मुख्यार्थ का बाध हो जाने के कारण स्खलद्गति शब्द प्रवृत्तिनिमित्ततया जाड्यादिगुणारोपरूप गौण अर्थ का बोध कराता है ।

गौणार्थबोधक शब्द के स्वरूप को अभिव्यक्त कर भर्तृहरि ने लक्षणा में प्रयोजक निमित्तों का भी विस्तृत विवेचन किया है । लक्षणा के प्रयोजक के रूप में सादृश्य को निमित्त मानते हुए इन्होंने कहा है कि गोत्वादि जाति के अभिधायक गो आदि शब्द गोत्वादि जाति रूप मुख्यार्थ के अतिरिक्त वाहीकादि अर्थों में गोत्वादि जाति से आश्रयत्वेन सम्बद्ध गवादि व्यक्ति के

1- गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात् कैश्चिदिष्यते ।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः ।। वा०प० 2/255

2- तथा स्वरूपं शब्दानां सर्वार्थेष्वनुषज्यते ।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं स्वरूपे तु स्थितिः स्थिरा । वही 2/256

3- अनेकार्थत्वमेकस्य यैः शब्दस्यानुगम्यते ।
सिद्ध्यसिद्धिकृता तेषां गौणमुख्यप्रकल्पना ।। वही० 2/257

4- यतस्त्वन्यस्य प्रयोगेण यत्नादिव नियुज्यते ।
तमप्रसिद्धं मन्यन्ते गौणार्थाभिनिवेशिनम् ।। वही 2/266

जाड्य आदि धर्मों के सदृश वाहीकादिगत जाड्यादि धर्मों को निमित्त बनाकर जहाँ प्रयुक्त होते हैं वहाँ गौण कहलाते हैं ।[1] अपने इस विचार को प्रस्तुत करते हुए भर्तृहरि "अपरे" शब्द का उपादान कर सम्भवतः तादधर्म्य को लक्षणा का प्रयोजक प्रतिपादित किया है । इस निमित्त के अतिरिक्त भर्तृहरि ने लक्षणा में प्रयोजक हेतु के रूप में अर्थविपर्यास, रूप तथा शक्ति को भी मान्यता प्रदान की है ।[2]

भर्तृहरि ने अभिधा एवं लक्षणा का समासतः विवेचन करने के अनन्तर सिद्धान्ततः यह कहा है कि अर्थप्रकरणादि निमित्तों की अपेक्षा के बिना शब्द के श्रवणमात्र से जिस अर्थ का बोध होता है वह मुख्य अर्थ है । मुख्य अर्थप्रकरणादिरूप प्रयत्न से मुख्यार्थबाधादि के अनन्तर जिस अर्थ का बोध होता है वह गौण अर्थ है ।[3] पतञ्जलि एवं भर्तृहरि के विवेचनों में सभी वृत्तियों के बीज स्पष्ट रूप में विद्यमान हैं । उपचार के रूप में लक्षणा के सङ्केत महाभाष्य में अनेक स्थलों पर मिलते हैं । उदाहरण के रूप में निम्नलिखित दो अंश द्रष्टव्य हैं -

1- युवत्वं लोके ईप्सितं पूजेत्युपचर्यते । म0 भा0 4/1/163

2- लोके हि संख्यां प्रवर्तमानामुपचरन्ति । वही 4/1/93

महाभाष्य के इस द्वितीय अंश की व्याख्या में नागेश ने स्पष्ट रूप से कहा है कि "उपचरन्ति" का प्रयोगकर भाष्यकार ने लक्षणाबीज के सम्बन्ध

1- जातिशब्दोऽन्तरेणापि जातिं यत्र प्रयुज्यते ।
सम्बन्धिसदृशाद् धर्मात् तं गौणमपरे विदुः । वही 2/273

2- (क) विपर्यासादिवार्थस्य यत्रार्थान्तरतामिव ।
मन्यन्ते स गवादिस्तु गौण इत्युच्यते क्वचिद् ।। वही 2/274

(ख) वही 2/276

(ग) वही 2/277

3- श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते ।
तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम् ।। वा0प0 2/278

को स्पष्ट किया है । इतना ही नहीं लक्षणा शब्द का मूलरूप भी महाभाष्य में मिलता है । पतञ्जलि ने "अकार्यं खल्वपि लोके लक्ष्यते" {म0भा0 3/1/66} इस अंश में "लक्ष्यते" शब्द का उपादान किया है, यही "लक्ष्यते" शब्द लक्षणा का मूल है ।

व्याकरणशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य अखण्डवाक्यस्फोट है, अखण्डवाक्यार्थ के महत्त्व के कारण लक्षणा आदि की स्वतन्त्र सत्ता मानने की यद्यपि वैयाकरणों को आवश्यकता नहीं पड़ती तथापि जब पद-पदार्थ का विचार किया जाता है तो उसकी इनको आवश्यकता होती है इसीलिए इन्होंने इसका विस्तृत विवेचन किया है ।

भर्तृहरि मुख्या तथा गौणी वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख भी करते हैं।[1] इसी गौणी वृत्ति का नाम कुछ काल बाद लक्षणा वृत्ति हो गया है ।

आचार्य नागेश का मत-

पतञ्जलि आदि वैयाकरणों के विवेचन के आधार पर नागेश ने लक्षणा के व्यवस्थित लक्षण का प्रतिपादन किया है । इनका विचार है कि अन्वय आदि की सिद्धि न हो सकने के कारण शब्दार्थ रूप में जिसका ग्रहण होता है, उसके साथ सम्बन्ध के अनुसन्धान के द्वारा उद्बुद्ध शक्तिविषयक संस्कार से जो बोध होता है, वह लक्षणा के कारण होता है ।[2] इन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानना चाहिए । अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का हेतु नहीं माना जा सकता क्योंकि

1- तात्पर्यिकेष्वेतस्य मुख्यावृत्तिः । पुरुषादिषु तु गौणी । म0भा0दीपिका, पृ0 138·

2- किञ्च अन्वयाद्यनुपपत्तिपूर्वकं शक्यत्वेन गृहीतार्थसम्बन्धज्ञाने - नोद्बुद्धशक्तिसंस्कारतो बोधे लक्षणेति व्यवहारात् । वै0सि0ल0म0पृ0 94·

"गङ्गायां घोषः" आदि लाक्षणिक प्रयोगों में घोष आदि शब्द की "मकर, नौका" आदि में लक्षणा करके अन्वयानुपपत्ति का निवारण किया जा सकता है । घोष की मकर आदि में लक्षणा करने पर लक्ष्यार्थ "गङ्गा में मकर" आदि होगा, किन्तु यह अर्थ वक्ता को अभिप्रेत नहीं है वक्ता का "गङ्गा के तट पर कुटी है" इस अर्थ में तात्पर्य है । अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मान लेने पर वक्ता के तात्पर्य के कारण गङ्गा शब्द की ही लक्षणा गङ्गा-तट अर्थ में की जाती है, घोष आदि की नहीं ।[1] नागेश ने तात्पर्यानुपपत्ति के साथ ही रूढि अथवा प्रयोजन को भी लक्षणा का प्रयोजक स्वीकार किया है ।[2] इन्होंने ताद्धर्म्य आदि सम्बन्धों के आधार पर लक्षणा के भेदों की भी व्याख्या की है, किन्तु इनके इस प्रतिपादन में साहित्यशास्त्रियों की छाया स्पष्ट है ।

साहित्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित लक्षणा का स्वरूप -

काव्यशास्त्रियों द्वारा अभिधा के समान ही लक्षणा वृत्ति का सर्वाङ्गीण विस्तृत विश्लेषण किया गया है । जहाँ इनके द्वारा लक्षणा-स्वरूप के निर्धारण में वैयाकरणों, मीमांसकों तथा नैयायिकों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है वहीं इनके द्वारा की गई लक्षणा-प्रभेदों की व्याख्या में इनकी मौलिकता प्रतिपद परिलक्षित होती है ।

वामन -

आचार्य वामन ने लक्षणा शक्ति विवेचन में स्वीकार किया है कि लक्षणा शक्ति की प्रवृत्ति अनेक तात्स्थ्यादि निमित्तों की अपेक्षा से हुआ

1- वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव तद्बीजम् । अन्यथा गङ्गायां घोषः इत्यादौ घोषादिपदे एव मकरादिलक्षणापत्तिः, तावताप्यन्वयानुपपत्ति-परिहारात् । वही पृ0-94-5

2- एवं रूढिप्रयोजनान्यतरदपि तत्कारणमनुभवबलात् । वही पृ0-95

करती है, इन निमित्तों में से जहाँ सादृश्य निमित्त के कारण लक्षणा होती है वह वक्रोक्ति अलङ्कार का स्थल होता है ।[1] इनका अभिप्राय यह है कि लक्षणा की सिद्धि में महाभाष्यकार द्वारा परिगणित तात्स्थ्य, ताद्धर्म्य, तत्सामीप्य आदि प्रयोजक हेतु हैं, इन हेतुओं की स्थिति में अन्य में अन्य के धर्मों का आरोप किया जाता है । किन्तु वक्रोक्ति अलङ्कार वहीं होगा जहाँ सादृश्य प्रयुक्त लक्षणा होगी ।

वामन ने सादृश्यप्रयुक्त लक्षणा के निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं -

1- उन्ममील कमलं सरसीनां कैरवं च न मिमील मुहूर्तात् ।

इस उदाहरण में नेत्र के धर्म उन्मीलन तथा निमीलन सादृश्यनिमित्तक लक्षणा से कमलों के विकास तथा सङ्कोच को लक्षित करते हैं । अत: यहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार है ।

2- "निरन्तरनवमुकुलपुलकिता हरति माधवी हृदयम् ।
मदयति च केसराणां परिणतमधुगन्धिनि:श्वसितम् ।।

यहाँ नि:श्वसित शब्द सादृश्यनिमित्तक लक्षणा से सुगन्धि के निकलने को लक्षित करता है । अत: यहाँ भी वक्रोक्ति अलङ्कार प्रयुक्त हुआ है ।

3- "उरुद्वन्द्वं तरुणकदलीकाण्डसब्रह्मचारि ।"

इस उदाहरण में "सब्रह्मचारि" शब्द से सादृश्यनिमित्तकलक्षणा के कारण जङ्घा की कदलीकाण्ड सदृशता लक्षित होती है । इस प्रकार इन स्थलों में सादृश्यमूलक लक्षणा के द्वारा अर्थ का निर्धारण किया जाता है। वामन ने सादृश्य से प्रयुज्यमान लक्षणा को वक्रोक्ति स्वीकार करते हुए माना है, कि लक्षणाशक्ति की प्रवृत्ति हो जाने पर शब्द में तुरन्त अर्थ की प्रतिपत्ति

1- सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति: बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्, तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति रिति ।
काव्यालङ्कारसूत्र - पृ० 164·

की क्षमता आ जाती है । यही लक्षणा शक्ति का रहस्य है । ये सादृश्य के अतिरिक्त सामीप्यादि के कारण प्रयुज्यमान लक्षणा में वक्रोक्ति अलङ्कार की स्थिति का निषेध करते हैं । इस प्रसङ्ग में इन्होंने सामीप्य निमित्त से होने वाली लक्षणा का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है –

"जरठकमलकन्दच्छेदगौरैर्मयूखैः ।"

यहाँ प्रयुक्त "छेद" पर सामीप्य सम्बन्ध से द्रव्य को लक्षित करता है क्योंकि गौरवर्णत्व द्रव्य में ही सम्भव है । सादृश्यातिरिक्त सामीप्य-निमित्तक लक्षणा का स्थल होने से यहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार नहीं हो सकता ।

इस प्रकार वामन ने सादृश्यमूलक तथा सामीप्यमूलक लक्षणा की सोदाहरण जो व्याख्या की है वह भाष्यकार पतञ्जलि से पूर्णतः प्रभावित है । लक्षणा में अनेक प्रयोजक हेतु हैं ऐसा कहकर सम्भवतः इन्होंने महाभाष्य में व्याख्यात तात्स्थ्य आदि लक्षणा हेतुओं की ओर इङ्गित किया है । इनके टीकाकार तथा अन्य आचार्य इनके "बहूनि हि लक्षणायां निबन्धनानि सन्ति" इस वचन की व्याख्या में भर्तृमित्र द्वारा लिखे गये निम्नलिखित श्लोक का उपादान किया है –

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः ।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ।।[1]

इन्होंने इन लक्षणा हेतुओं को वामन की व्याख्या का आधार बताया है, किन्तु भर्तृमित्र द्वारा प्रतिपादित लक्षणा के ये हेतु पतञ्जलि एवं भर्तृहरि द्वारा विवेचित लक्षणानिमित्तों की व्याख्या मात्र हैं उनके अतिरिक्त इसमें किसी अन्य निमित्त का उपादान नहीं किया गया । अतः महाभाष्यकार का ही मूल विवेचन इन्हें मान्य है । बीच में कोई अन्य व्यक्ति माध्यम का काम कर रहा है तो किसी को क्या आपत्ति है।

1- काव्यलङ्कारसूत्र, कामधेनु संस्कृतव्याख्या पृ0 166 में उद्धृत ।

आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त :

ध्वनि एवं लक्षणा के स्वरूप में अन्तर या भेद स्पष्ट करते समय आचार्य आनन्दवर्धन ने लक्षणा की अर्थबोधक शक्ति के रूप में व्याख्या की है। इन्होंने ग्रन्थनिर्माण के प्रारम्भ में ही यह प्रतिज्ञा की है कि इस ग्रन्थ में ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की जायेगी । इस प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए इन्होंने अपना प्रधानविवेच्य ध्वनि को ही बनाया किन्तु प्रसङ्गत: आपतित अभिधा लक्षणा आदि की भी इन्हें व्याख्या करनी पड़ी । ध्वन्यालोक ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि लक्षणा का स्वरूप इनके समय तक अच्छी तरह स्पष्ट हो चुका था । आचार्यों ने इन्हें जो "ध्वन्यर्थ" नाम से अभिप्रेत अर्थ था उस अर्थ को भक्ति अर्थात् लक्षणा के द्वारा प्राप्य माना था तथा लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त ध्वन्यर्थ को मान्यता नहीं दी थी । किन्तु आनन्दवर्धन को ध्वन्यर्थ के लावण्य ने ऐसा प्रभावित किया कि उन्होंने एक पृथक् ध्वनि सिद्धान्त का आकर्षक शैली में प्रतिपादन कर काव्यजगत् को एक नई प्रेरणा प्रदान की । इनके तर्कों के आगे विरोधियों की एक न लगी। आनन्दवर्धन ध्वन्यर्थ को लक्ष्यार्थ आदि से अतिरिक्त चतुर्थकक्ष्यानिवेशी मानते हैं । इस प्रसङ्ग में इनके द्वारा भक्ति का स्पष्ट निरूपण किया गया है ।

आनन्दवर्धन उपचारमात्र को भक्ति कहते हैं ।[1] उपचार अतिशयित व्यवहार है, शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर उस अर्थ से सम्बद्ध अर्थ में शब्द का व्यवहार ही अतिशयित व्यवहार है । यही अतिशयित व्यवहार भक्ति अर्थात् लक्षणा है । आनन्दवर्धन द्वारा अभिहित भक्ति के इस लक्षण में "मात्र" शब्द के प्रयोग से अभिनवगुप्त ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यद्यपि उपचाररूप लक्षणा की प्रवृत्ति में प्रयोजन की अपेक्षा रहती है तथापि उपयोगी न होने के

1- उपचारमात्रं तु भक्ति: । ध्वन्या० पृ० 149.

कारण वह अनुपस्थित के समान ही रहता है।[1] इस प्रयोजन को काव्य-शास्त्रियों ने चतुर्थकक्ष्यानिवेशी द्योतनस्वरूप माना है अर्थात् प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना शक्ति के द्वारा होती है, इस प्रयोजन का बोध अभिधादि-शक्तियाँ नहीं करा सकतीं।

इसके अनन्तर आनन्दवर्धन ने ध्वनि से भिन्न स्थलों में लक्षणा वृत्ति से अर्थबोध को स्वीकार करते हुए कहा है कि महाकवि व्यङ्ग्यकृत महत् सौष्ठव से रहित स्थलों में भी प्रसिद्धि अर्थात् रूढि के कारण उपचरित शब्दवृत्ति अर्थात् लक्षणा से व्यवहार करते हैं।[2] कई महाकवियों ने अपने महाकाव्यों में अनेक लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग किया है। इन प्रयोगों में अभिधा शक्ति द्वारा प्रतिपादित मुख्यार्थ के अनुपपन्न हो जाने पर लक्षणा वृत्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध वक्ता को अभिप्रेत अर्थ का बोध होता है। आनन्दवर्धन स्वसम्बद्ध अभिधेय अर्थ से भिन्न अर्थ में रूढ लावण्य, आनुलोम्य, प्रातिलोम्य, सब्रह्मचारी आदि शब्दों में ध्वनि की सम्भावना को अस्वीकार करते हुए लक्षणा की स्थिति स्वीकार करते हैं।[3] अभिधाव्यापार के परिसमाप्त हो जाने पर लक्षणावृत्ति के द्वारा इन शब्दों से अमुख्य अर्थ का बोध होता है।[4] इन शब्दों में प्रयुज्यमान लक्षणा को निरूढा लक्षणा कहते हैं। इन्होंने गुणवृत्ति अर्थात् लक्षणा वृत्ति को अभिधाव्यापार के आश्रय से ही व्यवस्थित माना हैं।[5] अभिधा के द्वारा प्रथमतः मुख्य अर्थ का बोध कराया जाता है किन्तु

1- उपचरणमतिशयितो व्यवहारः। मा श्रब्देनेदमाह-यत्र लक्षणाव्यापारात् तृतीयादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः। ध्वन्या०लो० पृ०149-150

2- यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत् सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहारा कवयो दृश्यन्ते। ध्वन्या०पृ० 150.

3- रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः।
तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्ति। वही पृ० 156.

4- मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्। वही पृ० 157

5- वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता। वही पृ० 159.

उसके अनुपपन्न हो जाने पर लक्षणा के द्वारा अर्थ का बोध होता है। आनन्दवर्धन लक्षणा के अर्थ में कहीं गुणवृत्ति कहीं भक्ति आदि शब्दों का उपादान करते हैं। इन्होंने गौणी वृत्ति को लक्षणावृत्ति से पृथक् नहीं माना।

आनन्दवर्धन के समान अभिनवगुप्त भी ध्वन्यालोक की व्याख्या में लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। इनके अनुसार मुख्यार्थबाध, सामीप्यादि निमित्त तथा प्रयोजन इन तीनों शर्तों की पूर्णता में ही लक्षणाशक्ति के द्वारा अर्थ का बोध होता है। इस दृष्टि से इन्होंने "उपचारमात्रं तु भक्तिः" ध्वन्यालोक के इस अंश की व्याख्या में "भक्ति" शब्द का तीन प्रकार से निर्वचन किया है।

1- मुख्यार्थबाध की दृष्टि से - "मुख्यार्थस्य भङ्गः भक्तिः।" अर्थात् मुख्यार्थ का बाध हो जाना भक्ति अर्थात् लक्षणा है।

2- निमित्त की दृष्टि से - "भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतया उत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिः।" पदार्थ के द्वारा प्रसिद्ध सामीप्यादि निमित्तों से अर्थ की उत्प्रेक्षा की जाती है।

3- प्रयोजन की दृष्टि से "भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः।"[1] प्रतिपाद्य अर्थात् वक्ता को अभिप्रेत अर्थ में श्रद्धा का आधिक्य भक्ति है। इस निर्वचन से निरूपित भक्ति अर्थात् लक्षणा के द्वारा बोधित अर्थ भाक्त अर्थ है। इस प्रकार आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त मुख्यार्थबाधानुसन्धान, सामीप्यादि निमित्त तथा प्रसिद्धि या प्रयोजन को लक्षणा का आवश्यक हेतु मानते हैं।

कुमारिलभट्ट आदि मीमांसक गौणीवृत्ति से लक्षणावृत्ति को पृथक्

1- ध्वन्या०लो० पृ० 152-3.

मानते हैं । इनके अनुसार अभिधेयार्थ से अविनाभूत सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ में शब्दव्यापार की प्रवृत्ति लक्षणा है तथा अभिधेय से लक्ष्यगुण के योग से गौणी वृत्ति होती है ।[1] शृङ्गारप्रकाश में भोज ने भी गौणी को पृथक् वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है किंतु वैयाकरणों ने गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति नहीं माना, वे इसका लक्षणा में ही अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं । काशिकावृत्ति में गुण-कल्पना का प्रयोग उपचार-कल्पना के रूप में हुआ है ।[2] न्यासकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि गुणादि को निमित्त बनाकर होने वाली गुणनिमित्तकल्पना उपचारात्मिका ही होती है ।[3] परवर्ती मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों ने इसीलिए गुण वृत्ति को पृथक् मान्यता नहीं दी । अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के अभिप्राय को व्यक्त करने में अनेकशः लक्षणा तथा गौणी का पर्याय के रूप में प्रयोग किया है। इस प्रकार इन्होंने वैयाकरणों के समान गुणवृत्ति को लक्षणा का ही पर्याय माना ।

काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य मुकुलभट्ट, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने भी लक्षणा शक्ति की विस्तृत व्याख्या की है । सभी आचार्यों ने एक स्वर से मुख्यार्थ का बाध, सामीप्यादि निमित्त के आधार पर मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध तथा प्रयोजन या रूढि इन तीनों लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं को आवश्यक माना है । एक भी निमित्त के न रहने पर लक्षणा की उपपत्ति नहीं हो पाती । जब तक मुख्यार्थ बाधित नहीं हो जाता तब तक लक्षणा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, समीप्यादि निमित्त के बिना भी लक्षणा वृत्ति व्यापारवर्ती नहीं होती तथा च प्रयोजन या रूढि के

1- अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।। तन्त्रवार्तिक पृ० 318

2- द्विगु निमित्तको तर्हि गुणकल्पनया । काशिकावृत्ति 4/1/48

3- गुणनिमित्ता कल्पना तर्हि गुणनिमित्तकल्पना सा पुनरुपचारात्मिकैव वेदितव्या । न्यास 4/1/48.

बिना लाक्षणिक प्रयोग करना ही व्यर्थ हो जाय, शब्द प्रयोग तो वक्ता के आधीन होता है इस स्थिति में वह मुख्य शब्द का प्रयोग न कर लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट उद्देश्य से ही करता है । तीनों निमित्तों की अपेक्षा रखने के कारण इसे त्रिस्थूणा लक्षणा भी कहा जाता है । तीनों निमित्तों के स्वरूप के विषय में आचार्यों में कोई मतभेद नहीं है मुख्यार्थबाध का सबको वही रूप अभिप्रेत है महाभाष्यकार द्वारा प्रतिपादित तत्साहचर्य आदि निमित्त भी सभी को मान्य हैं, प्रयोजन को भी किसी न किसी रूप में आचार्यों ने लक्षणाप्रयोजक के रूप में स्वीकृति प्रदान की है यदि थोड़ी बहुत विप्रतिपत्ति है तो रूढि की लक्षणाप्रयोजकता के विषय में । रूढि-को लक्षणा का प्रयोजक मानते हुए मम्मट ने "कर्मणि कुशलः" उदाहरण में निरूढा लक्षणा के द्वारा अर्थबोध स्वीकार किया है । इसका कारण यह है कि इस प्रयोग में कुशल शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य "कुशग्राहक" अर्थ का सम्बन्ध नहीं बन पाता अतः मुख्यार्थ के अनुपपन्न हो जाने पर कुशल पद विवेचकत्वादि साधर्म्य सम्बन्ध से स्वसम्बद्ध "चतुररूप" अर्थ का निरूढालक्षणा के द्वारा बोध कराता है । रूढि की अपेक्षा रखने के कारण इस लक्षणा को निरूढा लक्षणा कहा जाता है । किन्तु आचार्य विश्वनाथ मम्मट के इस मत से सहमत नहीं हैं । इनका तर्क है कि शब्दों का व्युत्पत्तिनिमित्त अन्य होता है तथा प्रवृत्तिनिमित्त अन्य । यह आवश्यक नहीं है कि जो व्युत्पत्ति का निमित्त है उसी को प्रवृत्ति का भी निमित्त माना जाय । कुशल पद की व्युत्पत्ति से यद्यपि कुशग्राहक रूप अर्थ प्राप्त होता है तथापि उसका मुख्यार्थ चतुररूप अर्थ ही है, इसी अर्थ में कुशल शब्द की प्रवृत्ति होती है । यदि व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ही मुख्यार्थ मानें तो "गाय सोती है" इस प्रयोग में भी लक्षणा की प्रवृत्ति माननी पड़ेगी । क्योंकि गमनार्थक "गम्‌" धातु से गमेर्डोः" (पा०सू०, उ०, 2/67) इस औणादिक सूत्र से "डो" प्रत्यय करने पर निष्पन्न गो शब्द का शयन काल में प्रयोग अनुपपन्न है, अतः व्युत्पत्तिनिमित्त को प्रवृत्ति-निमित्त मानना अनुचित है । इस स्थिति में जब कुशल पद से चतुररूप अर्थ

अभिधा शक्ति से ही प्राप्त हो जाता है तब उसमें निरूढ़ लक्षणा की कल्पना अनुचित है ।[1]

किन्तु "कर्मणि कुशल:" में कुशल शब्द का अभिधया चतुररूप अर्थ लेकर रूढ़िलक्षणा की इस प्रयोग में प्रवृत्ति का निषेध करने के लिए इन्होंने जो तर्क उपस्थापित किया है वह तात्त्विक समीक्षा करने पर अनुपयुक्त सिद्ध होता है । श्लेष आदि अलङ्कार के स्थलों में समासादि के द्वारा व्युत्पत्तिकृत अर्थ का आवश्यक उपादान किया जाता है । व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ की मुख्यार्थता को अस्वीकार कर देने पर श्लेष अलङ्कार उच्छिन्न हो जायेगा, जबकि श्लेषालङ्कार प्रयुक्त चारुत्व को समस्त काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार किया है अत: मम्मट द्वारा उक्त उदाहरण में रूढ़िमूलक लक्षणा के द्वारा अर्थ की प्रतीति स्वीकार करना तर्क सङ्गत है । तथा च विश्वनाथ ने भी "कलिङ्ग: साहसिक:" उदाहरण में रूढ़िलक्षणा को स्वत: स्वीकार किया है । निरूढा लक्षणा को मानकर ही इनके द्वारा इसके अनेक प्रभेदों की व्याख्या की गई है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने तो काव्यानुशासन में लक्षणा के प्रयोजक हेतु के रूप में रूढ़ि को अस्वीकार कर दिया है । इनके अनुसार कुशल, द्विरेफ, द्विक आदि शब्दों के दक्ष, भ्रमर, काक आदि अर्थ जो अन्य आचार्यों द्वारा लक्ष्यार्थ माने गये हैं वस्तुत: वाच्यार्थ ही हैं, क्योंकि ये साक्षात् सङ्केत के विषय हैं ।[2] नरेन्द्र प्रभसूरि ने भी हेमचन्द्र का अनुसरण किया है, इन्होंने

1- कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात् ।
अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम् ।
व्युत्पत्तिलभ्यमुख्यार्थत्वे "गौ: शेते" इत्यत्रापि लक्षणा स्यात् ।
"गमेर्डो:" इति गम्धातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽ-प्रयोगात् । सा०द० पृ0-3।

2- कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षात्सङ्केतविषयत्वान्मुख्या एवेति न रूढिर्लक्ष्यार्थस्य हेतुत्वेनास्माभिरुक्ता । काव्यानुशासन पृ0-25

रूढिलक्षणा को अभिधातुल्य कहकर उसके उदाहरणों का उपन्यास भी नहीं किया।[1] रूढि के विषय में भले ही कुछ आचार्य सहमत नहीं किन्तु प्रयोजन की लक्षणा-प्रयोजकता को समस्त आचार्यों ने स्वीकार किया है ।

भोज का मत -

मुख्या के समान ही श्रृङ्गारप्रकाशकार भोज का लक्षणा-विवेचन भी कुछ विलक्षण ही है । भोज ने लक्षणा वृत्ति की व्याख्या में कहा है कि जब शब्द अपने मुख्यार्थ से क्रियासिद्धि में असमर्थ हो जाता है तब मुख्यार्थ से अविनाभूत अन्य अर्थ को लक्षित करता है । अभिप्राय यह है कि मुख्यार्थ के अनुपपन्न होने पर लक्षणा वृत्ति द्वारा शब्द अपने मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध कराता है । जैसे "गङ्गायां घोषः प्रतिवसति" प्रयोग में गङ्गा शब्द का मुख्यार्थ विशिष्ट उदकप्रवाह है, यह प्रवाह घोषकर्तृक प्रतिवसन क्रिया का अधिकरण नहीं बन सकता अतः मुख्यार्थ प्रवाह से सम्बद्ध तट रूप अर्थ का लक्षणा वृत्ति द्वारा बोध कराता है ।

लक्षणा के इन्होंने प्रथमतः दो विभाग किए हैं - 1- लक्षणा, 2- लक्षितलक्षणा ।

क्रियासिद्धि में मुख्यार्थ की साधनत्वानुपपत्ति के कारण शब्द का मुख्यार्थ स्वसम्बद्ध व्यवहित अन्य अर्थ का बोध जिसमें कराता है वह लक्षणा है । तथा इससे भिन्न लक्षितलक्षणा है ।

इन्होंने गौणी को लक्षणा से पृथक् माना है, तथा कहा है कि गम्यमानशौर्यादि गुणों के योग से व्यवहित अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति गौणी है । मम्मट आदि काव्यशास्त्री इस वृत्ति को लक्षणा का ही एक भेद

1- रूढिलक्षणा त्वभिधातुल्यैव तेनात्र नोदाह्रियते । अल० महो० पृ०-33

स्वीकार करते हैं क्योंकि लक्षणा में जो निमित्त अपेक्षित होते हैं वही निमित्त इसमें भी अपेक्षित हैं ।[1]

अर्थव्यापाररूप लक्षणा -

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में लक्षणावृत्ति की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि मुख्यार्थ का बाध हो जाने पर मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सामीप्यादि रूप में योग होने पर रूढि अथवा प्रयोजन के कारण जिसके द्वारा मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ लक्षित होता है वह आरोपिता क्रिया लक्षणा है ।[2] इस लक्षण में मम्मट लक्षणा को आरोपिता क्रिया कहते हैं । आरोपिता क्रिया का अर्थ है अन्य में अन्य के धर्मों का आरोप रूप व्यापार । यह व्यापार अर्थनिष्ठ होता है, क्योंकि सदा शक्यार्थ के व्यवधान से ही लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है । लक्ष गङ्गा आदि शब्द के द्वारा तटादिरूप लक्ष्य अर्थ हमेशा शक्यार्थ के बोध के अनन्तर ही प्रतीत होता है, किसी भी स्थिति में अभिधेयार्थ के समान साक्षात् लक्ष्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती ।

इसीलिए आचार्य मम्मट - "स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा"[3] कहकर लक्षणा अर्थव्यापार रूप है ऐसा अपना अभिमत अभिव्यक्त करते हैं । मम्मट के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए "बालबोधिनीकार ने कहा है कि मम्मट द्वारा प्रयुक्त "सान्तरार्थनिष्ठ" शब्द व्यापार का

1- शृङ्गार प्रकाश सप्तमः केवल शब्दशक्तिप्रकाशः ।

2- मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथप्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ।। का0प्र0,सू0-12

3- वही, सू0-12 की वृत्ति । वही बा0 बो0 पृ0-43

विशेषण है । अनन्तर अर्थात् मुख्यार्थबाध आदि के व्यवधान से युक्त जो लक्ष्यरूप अर्थ तन्निष्ठ व्यापार लक्षणा है । लक्षणा व्यापार को अर्थनिष्ठ स्वीकार करने पर भी मम्मट के द्वारा इसको "शब्दव्यापार" कह देने से आपतित विरोध का निवारण करते हुए झलकीकर ने व्याख्या में स्वीकार किया है कि "गङ्गायां घोषः" इस उदाहरण में गङ्गा शब्द से अभिहित प्रवाह रूप अर्थ स्वसम्बद्ध तीर अर्थ को लक्षित करता है । अतः लक्षणा अर्थव्यापाररूप है शब्दव्यापाररूप नहीं । तथापि मम्मट ने जो इसको "शब्दव्यापार" कह दिया है वह लक्षणया उपपन्न हो जाता है । वाच्यधर्म वाचकशब्द में भी आरोपित होता है अतः शब्द भी लाक्षणिक है अर्थात् अर्थव्यापार को शब्दव्यापार कहना लाक्षणिक प्रयोग है ।[1]

आचार्य महिमभट्ट अभिधा के अतिरिक्त अन्य शक्तियों को मान्यता नहीं देते । इन्होंने अभिधेयार्थ के अतिरिक्त समस्त लक्ष्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ आदि का अनुमेयार्थ में अन्तर्भाव प्रतिपादित किया है अर्थात् लक्षणा आदि समस्त शक्तियाँ अनुमिति रूप हैं । इनसे जिस अर्थबोध की अपेक्षा की गई है उस समस्त अर्थ का बोध अनुमिति के द्वारा हो जायेगा । इसी प्रसङ्ग में इन्होंने लक्षणा को अर्थव्यापार रूप मानकर उसका अनुमिति में अन्तर्भाव करना चाहा है ।[2]

1- सान्तरार्थनिष्ठ इति पदं व्यापारविशेषणम् ।-----
यद्यपि "गङ्गायां घोषः" इत्यत्र गङ्गाशब्देन प्रत्यायितं स्रोतः तीरं लक्षयतीत्यर्थव्यापारो लक्षणा, न तु शब्द व्यापारः तथापि वाच्यधर्मो वाच्यतावच्छेदके वाचके शब्दे आरोप्यते । वही बा०बो० पृ०-43

2- यः स तत्त्वक्षमारोपस्तत्सम्बन्धनिबन्धनः ।
मुख्यार्थबाधे सोऽप्यर्थं सम्बन्धमनुमापयेत् ।।
तत्साम्यसम्बन्धौ हि तत्त्वारोपैककारणम् ।
गुणवृत्तेर्द्विरूपायास्तत् प्रतीतिरतोऽनुमा ।। व्य० वि०, का०-122

"गङ्गायां घोषः" इत्यादि में गङ्गापदवाच्य प्रवाह रूप अभिधेयार्थ साक्षात् गङ्गा शब्द से प्रतीत होता है अतः यहाँ प्रयुज्यमान अभिधा व्यापार शब्दनिष्ठ होता है, किन्तु प्रवाह रूपशक्यार्थ से बोध्य तट रूप अर्थ साक्षात् शब्द से नहीं प्रतीत होता, अतः प्रवाह रूप अर्थ को निमित्त बनाकर उसके द्वारा अमुख्य तीररूप अर्थ को लक्षित करता हुआ व्यापार अर्थनिष्ठ ही होता है ।

आचार्य आनन्दवर्धन, मुकुलभट्ट तथा विश्वनाथ ने भी लक्षणा को अर्थव्यापार मानते हुए इसी तथ्य को स्पष्ट किया है । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कहा है कि गुणवृत्ति में अर्थ अन्य अर्थ को उपलक्षित करता है ।[1]

मुकुलभट्ट ने अभिधा के साथ ही लक्षणा का भी विवेचन किया है । इनके अनुसार शब्दव्यापार से साक्षात् जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह मुख्य अर्थ है तथा जिस अर्थ की प्रतीति मुख्य अर्थ का बोध हो जाने के अनन्तर होती है वह लक्ष्यमाण अर्थ कहलाता है ।[2] इसीलिए इन्होंने लक्षणा को सान्तरार्थनिष्ठ शब्दव्यापार कहा है । मम्मट के समान ही लक्षणा के अर्थव्यापार होने पर भी उसको शब्दव्यापार कहना लाक्षणिक ही है ।

इस प्रकार मुख्यार्थ के व्यवधान होने पर अर्थ की प्रतीति कराने वाला लक्षणा व्यापार अर्थनिष्ठ माना जाता है ।

1- गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति । ध्वन्या० पृ०-424

2- शब्दव्यापारतोयस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता ।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते । अ०वृ०मा०, का-1

आचार्य विश्वनाथ ने भी लक्षणा में तीनों हेतुओं को आवश्यक मानते हुए लक्षणा को अर्पिता शक्ति कहा है । "अर्पिता शक्ति" शब्द की इन्होंने लक्षणा शक्ति को स्वाभाविकेतरा अथवा ईश्वरानुद्भाविता कहकर व्याख्या की है ।[1] इनका अभिप्राय यह है कि अभिधा स्वाभाविक तथा ईश्वरानुद्भावित शक्ति है जबकि लक्षणा अस्वाभाविक तथा ईश्वरानुद्भावित शक्ति है । आचार्य के इस मन्तव्य से यह नहीं सिद्ध होता कि इन्हें लक्षणा का शब्दनिष्ठत्व अभीष्ट है । वस्तुत: जिस प्रकार प्राचीन आचार्य लक्षणा को अर्थनिष्ठव्यापार मानकर शब्द में उसका आरोप स्वीकार करते हैं उसी प्रकार इन्हें भी लक्षणा का अर्थनिष्ठत्व अभिप्रेत है । यह निष्कर्ष इनके द्वारा प्रस्तुत लक्षणा के लक्षण से ही स्पष्ट हो जाता है ।

"गङ्गायां घोष:" आदि में वक्ता के अभिप्राय की अनुपपत्ति अर्थ में ही होती है शब्द में नहीं, सामीप्यादि लक्षणाप्रयोजक निमित्त भी अर्थनिष्ठ होते हैं तथा प्रवाहरूप मुख्यार्थ ही सामीप्य सम्बन्ध के द्वारा तट रूप अर्थ को उपस्थापित करता है अत: लक्षणा आरोपरूप अर्थनिष्ठव्यापार है ।

काव्यशास्त्रियों द्वारा लक्षणा को अर्थनिष्ठव्यापार रूप मानने का आधार महाभाष्य एवं वाक्यपदीय आदि में पर्याप्त रूप से विद्यमान है । महाभाष्यकार अन्य में अन्य के धर्मों के आरोप में निमित्तभूत सामीप्यादि के सोदाहरण विवेचन में स्पष्ट रूप से मुख्यार्थबाधादि के अनन्तर प्रवृत्त होने

1- मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थ: प्रतीयते ।
रूढे: प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता ।। सा0द0-2/5

वाले आरोप रूप लक्षणा व्यापार को अर्थनिष्ठ मानते हैं । शब्द को अपने स्वरूप में स्थिर मानने वाले भर्तृहरि भी पतञ्जलि से सहमत हैं । पुण्यराज ने तो इसे बाह्यार्थोपचार कहा ही है । इसके अतिरिक्त समस्त काव्यशास्त्री लक्षणा के प्रयोजक मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के बीच विद्यमान सम्बन्ध की व्याख्या में वैयाकरणों से पूर्णतः प्रभावित ही नहीं उनके ऋणी हैं । भाष्यकार द्वारा विवेचित तात्स्थ्यादि सम्बन्धों को इन्होंने समासतः स्वीकार कर लिया है । इनके द्वारा परिगणित कुछ अन्य कार्यकारणभाव, स्वस्वाभिभावादि लक्षणाप्रयोजक निमित्त भी भर्तृहरि आदि द्वारा विवेचित लक्षणा निमित्तों से पृथक नहीं है ।

लक्षणा को विभाजित करने की दृष्टि से इन्होंने भाष्यकार द्वारा व्याख्यात सामीप्यादि को दो रूपों में विभाजित किया है - 1-सादृश्य तथा 2- सादृश्येतर । इनके अनुसार सादृश्य सम्बन्ध से "गौर्वाहीकः" आदि स्थलों में प्रयुज्यमान लक्षणा गौणी है, क्योंकि इसमें गुणों के सादृश्य के आधार पर गोत्वादि का वाहीक में आरोप किया जाता है तथा च सादृश्येतर सम्मीप्यादि सम्बन्धों पर आश्रित लक्षणा शुद्धा है । वैयाकरणों का इस संदर्भ में इतना ही प्रभाव है कि लक्षणाप्रयोजक निमित्तों की व्याख्या कर उन्होंने काव्यशास्त्रियों को भेदों के विवेचन में आधार प्रदान किया है अन्य समस्त लक्षणाप्रभेदों के विवेचन में इन्होंने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है ।

व्यञ्जनाशक्ति -

अभिधा एवं लक्षणा के समान आचार्यों ने व्यञ्जना वृत्ति का भी विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है । इस वृत्ति के द्वारा मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से इतर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है अभिधा आदि व्यापारों के विरत हो जाने पर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति जिस व्यापार से होती है वह व्यञ्जना व्यापार ही है । इस व्यापार के द्वारा बोधित अर्थ का

काव्य में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है । वस्तुतः तो काव्यत्व ही इसी अर्थ के कारण होता है । अन्यथा सीधे सीधे किसी बात को कह देने में कौन चमत्कार होगा ? इतना अवश्य है कि अर्थबोधक शक्ति के रूप में व्यञ्जना को काव्यशास्त्रियों ने जितना महत्त्व दिया है उतना किसी अन्य शास्त्र के आचार्यों ने नहीं दिया ।

व्यञ्जना शक्ति का किसी न किसी रूप में वेद निरुक्त, व्याकरण तथा दर्शनों में उल्लेख होने लगा था । व्याकरण को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने वाले आचार्य पाणिनि ने अनेक सूत्रों से द्योत्य अर्थों में विशिष्ट कार्यों का विधान किया है । इनके द्वारा "परेर्वर्जने" {पा०सू० 8/1/5} इस नियम से वर्जन अर्थ के द्योत्य रहने पर "परि" शब्द के द्वित्व का विधान कर व्यञ्जना-शक्ति को मान्यता दी गयी है । वर्जन अर्थ यहाँ किसी शब्द का वाच्य नहीं माना जा सकता । "परि परि वङ्गान् वृष्टो देवः" में वर्जन अर्थ के द्योत्य होने के कारण ही द्वित्व का विधान किया गया है । इसी प्रकार पाणिनि के सूत्रों से वर्णादिव्यञ्जकता का भी प्रतिपादन होता है, इस तथ्य को आगे स्पष्ट किया जायेगा । भगवान् पतञ्जलि ने भी अभिव्यक्ति के अर्थ में व्यञ्जन पद का बहुशः प्रयोग किया है । इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि तिङभिहित भाव से काल, पुरुष एवं उपग्रह अभिव्यक्त होते हैं, कृदभिहित भाव से नहीं । अथवा क्रिया के बिना भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान काल अभिव्यक्त नहीं होते हैं ।[1] इसी प्रकार भर्तृहरि भी नानात्ववाद के प्रसङ्ग में प्रतीयमान शब्द एवं प्रतीयमान अर्थ का सङ्केत कर व्यञ्जना को अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं । इसी प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि सिद्धान्त का आधार माना गया है, इस अर्थ का प्रतिपादन व्यञ्जनाशक्ति

1- तिङभिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते, कृदभिहितेन पुनर्न व्यज्यन्ते । अथवा नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्तमानाः कालाः व्यज्यन्ते । म०भा०-1/1/67

द्वारा ही होती है । वैयाकरण निपातों की द्योतकता का उपपादन कर भी व्यञ्जना का समर्थन करते हैं ।

यद्यपि साहित्यशास्त्रियों को व्यञ्जनाशक्ति का व्यापक स्वरूप अभिप्रेत था अतः उन्होंने उसकी व्याख्या अपने लक्ष्यग्रन्थों को आधार बनाकर की तथापि व्यञ्जना के मूलतथ्यों का जो स्वरूप वैयाकरणों ने ही स्पष्ट कर दिया था वही इनकी व्याख्या का आधार बना । इस तथ्य को प्रतीयमानार्थ को काव्य का आत्मतत्त्व स्वीकार करने वाले आनन्दवर्धन ने स्वतः स्पष्ट किया है । समस्त ध्वनि सिद्धान्त ही वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त पर आधारित है इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा ।

आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती काव्यशास्त्री व्यञ्जना का वैयाकरणों को अभिमत प्रारम्भिक स्वरूप ही अभिव्यक्त कर सके थे । किन्तु प्रतीयमानार्थ के सौन्दर्य से अभिभूत आनन्दवर्धन ने इसके समस्त सम्भावित पक्षों का विधिवत् विवेचन किया । तथा व्यञ्जनावृत्ति को आधार बनाकर काव्य में ध्वनितत्त्व की प्रतिष्ठा स्वीकार की । मीमांसक तथा नैयायिक व्यञ्जना वृत्ति को मान्यता नहीं प्रदान करते । इस वृत्ति का कुछ आचार्य अभिधा या लक्षणा में अथवा कुछ आचार्य तात्पर्य वृत्ति में अन्तर्भाव प्रतिपादित करते थे । आनन्दवर्धन ने इनके तर्कों का खण्डन कर व्यञ्जना की एक स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में प्रतिष्ठा की तथा इसे ध्वनितत्त्व का प्राण माना । इनके इस सिद्धान्त के प्रति किए गये आक्षेपों का निराकरण करते हुए अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र तथा विद्याधर आदि आचार्यों ने इसको दृढता प्रदान कर समस्त शास्त्रों में शास्त्रप्रक्रिया निर्वाहार्थ इसकी आवश्यकता का बहुशः प्रतिपादन किया है ।

परवर्ती वैयाकरण नागेश ने भी अपने सम्प्रदाय के अनुरूप अभिधा एवं लक्षणा का विवेचन करने के अनन्तर व्यञ्जना का स्वरूप स्पष्ट किया है । इनके अनुसार मुख्यार्थबाध आदि की अपेक्षा के बिना मुख्यार्थ से सम्बद्धासम्बद्धसाधारण

प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध अर्थ विषयक वक्ता, बोद्धा आदि के वैशिष्ट्य के कारण प्रतिभा आदि के द्वारा उद्बुद्ध संस्कार विशेष व्यञ्जना है । व्यञ्जना को स्वीकार करने के कारण ही भर्तृहरि आदि आचार्यों ने निपातों के द्योतकत्व का तथा स्फोट के व्यञ्जकत्व का प्रतिपादन किया है । निपातों का अकेले प्रयोग नहीं हो सकता अत: उनमें मुख्यार्थ के न होने के कारण लक्षणा से उनके अर्थ का बोध नहीं हो सकता । इस स्थिति में उनमें द्योतकता ही स्वीकार करनी पड़ती है । द्योतकत्व का अर्थ ही व्यञ्जना शक्ति द्वारा बोध्यत्व है । इस प्रकार वैयाकरणों को भी व्यञ्जना शक्ति अभिप्रेत है । यह व्यञ्जना शब्द, तदर्थ, पद, पदेकदेश, वर्ण, रचना, चेष्टा आदि में व्यापारवती होती है क्योंकि ऐसा सहृदयों के अनुभव से स्वत: सिद्ध है । काव्यप्रकाश आदि में प्रतिपादितवक्ता, बोद्धा, आदि के वैशिष्ट्यादि का ज्ञान विशेष व्यङ्ग्यार्थ के ही बोध में उपकारक होता है अत: उसकी सर्वत्र अपेक्षा नहीं होती ।[1] इस प्रकार वैयाकरणों ने तथा साहित्यशास्त्रियों ने व्यञ्जना को अभिधा एवं लक्षणा से पृथक् शक्ति माना है तथा इससे प्रतीयमानार्थ की प्रतीति स्वीकार की है ।

1- मुख्यार्थबाधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बद्धासम्बद्धसाधारणप्रसिद्धाप्रसिद्धार्थ-विषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्ध: संस्कारविशेषो व्यञ्जना । अत एवं निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य च व्यङ्ग्यता च हर्यादिभिरुक्ता । ------ एषा च शब्द-तदर्थ-पद-पदेकदेश-वर्ण-रचना-चेष्टादिषु सर्वत्र तथैवानुभवात् । वक्त्रादिवैशिष्ट्यादिज्ञानं व्यङ्ग्यविशेषबोधे सहकारीति न सर्वत्र तदपेक्षेत्यन्यत्र विस्तर: । वै०सि० ल०म० पृ०-133

चतुर्थ अध्याय

स्फोटवाद से प्रभावित ध्वनिसिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना के मूलकारण -

काव्यतत्त्व के भारतीय समीक्षकों ने वाल्मीकि व्यास आदि महाकवियों की रचनाओं को लक्ष्य बनाकर आवश्यक तथा सामान्य तत्त्वों के विश्लेषण के प्रसङ्•ग में किसी एकतत्त्व की प्रधानता के आधार पर एक सिद्धान्त को दृढ़ता प्रदान करने का समुचित प्रयास किया है । प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीनतम साहित्यशास्त्री आचार्य अपने अपने निबन्धों में यह विचार करते हुए देखे गए हैं कि रुचिरार्थक शब्दों का समुचित सन्निवेश रूपकाव्य किन किन साधनों से सहृदयों के हृदयावर्जन में अधिक समर्थ हो सकेगा । इस दृष्टि से विचार करते हुए कुछ आलङ्•कारिक आचार्य काव्य के शरीरस्थानीय शब्द तथा अर्थ के उत्कर्ष के द्वारा गुण अलङ्•कार आदि बाह्यतत्त्वों को ही काव्य के चमत्कार का कारण मानते थे । इन आचार्यों में भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, उद्भट आदि प्रमुख थे । इनके अनुसार जिस प्रकार कामिनी का अतीव सुन्दर मुख भी आभूषणों के बिना नहीं सुशोभित होता उसी प्रकार कविता कामिनी के शरीरतत्त्व शब्द एवं अर्थ की शोभा अलङ्•कारों के बिना नहीं हो सकती ।[1] इन आचार्यों ने यद्यपि काव्य के शरीर-तत्त्व के सौन्दर्य के लिए गुण, रीति तथा वृत्ति का भी पर्याप्त विवेचन किया है तथापि इन सबमें अलङ्•कार तत्त्व की ही प्रधानता के कारण इनका समस्त विश्लेषण "अलङ्•कार सम्प्रदाय" के रूप में अभिव्यक्त हुआ । सम्पूर्ण अलङ्•कारवादी आचार्यों के प्रबन्धों में ध्वन्यमान अर्थ को वाच्योपकारक मानकर उसको

1- रूपकादिरलङ्•कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।। भामह,का० अ० 1/13

अलङ्कार कोटि में ही समाविष्ट कर लिया गया था । जिस प्रकार चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात होने वाले स्थूलतत्त्वों के अतिरिक्त सूक्ष्म-तत्त्वों के प्रति अनास्था व्यक्त करते हैं उसी प्रकार भामह आदि प्राचीन आलङ्कारिक आचार्य वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमानार्थ को पृथक् न मानकर उसे वाच्यार्थ का उपकारक मान लेते हैं । आचार्यों की इस मान्यता का कारण सम्भवतः यह था कि काव्य का वह जीवितभूत आत्म-तत्त्व उस समय अनालोचित अर्थात् अस्पष्ट था जिसके कारण कविताओं में स्वाभाविक सौन्दर्य स्वतः प्रवाहित होने लगता है तथा उनमें सजीवता आ जाती है । ध्वन्यालोक में आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्यात्मतत्त्व के रूप में जिस व्यङ्ग्य अर्थ की महान संरम्भ के साथ मौलिक प्रतिष्ठापना आगे चलकर की थी उस अर्थ का यद्यपि उन आचार्यों को यत्किञ्चित् आभासमात्र मिल चुका था तथापि वे उसे काव्य के चारुत्व का हेतु मानने के लिए कथमपि प्रस्तुत न थे । भामह आदि विद्वानों की दृष्टि व्यङ्ग्यार्थ को समझने में समर्थ होकर भी उसको वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त तथा कविता के सौन्दर्य हेतु के रूप में न देख सकी । उन आचार्यों ने व्यङ्ग्य को भी वाच्य का ही पोषक स्वीकार किया, इसीलिए व्यङ्ग्य अर्थ भी इनके द्वारा अलङ्कार की ही श्रेणी में परिगणित हुआ । रुद्रट आदि आचार्य यद्यपि वाच्यता के संस्पर्शलेश से भी रहित रस-भाव आदि पदार्थों को पहचान लिया था तथापि पूर्वाचार्यों का संस्कार इनमें इतना दृढ था कि उन्होंने रसभाव आदि को वाच्यार्थ का पोषक मानकर "रसवद्" "प्रेय" आदि अलङ्कार ही कहा । वे चाहते हुए भी क्रान्ति न कर सके क्योंकि उनमें वह सूक्ष्म प्रतिभा ही नहीं थी जिस प्रतिभा के द्वारा आनन्दवर्धन ने अपनी रुचि के अनुसार परम्परा से हटकर एक नूतन सिद्धान्त को प्रतिपादित किया । इस प्रकार प्राचीन आचार्य कविता कामिनी के

बाह्यसौन्दर्य का ही विश्लेषण कर आनन्द प्राप्त करते रहे, किन्तु एक काव्यशास्त्रीय युग की समाप्ति वेला में ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने वाले एक ऐसे आचार्य का आविर्भाव हुआ जिन्हें कविता कामिनी का वह बाह्यालङ्करण शोभा वह नहीं लगा जो अन्य प्राचीन आचार्यों को स्वीकृत था । इसके विपरीत काव्य के स्वाभाविक अन्तःसौन्दर्य ने इन्हें इतना अधिक प्रभावित किया कि काव्य के बाह्यालङ्करण को ही महत्त्व देने वाले उन पूर्वाचार्यों के विरुद्ध उसी प्रकार इन्हें विद्रोह करना पड़ा जिस प्रकार चार्वाकसम्प्रदाय के विरुद्ध शङ्कराचार्य ने किया था ।

इनकी दृष्टि सूक्ष्म तत्त्व का बिना विश्लेषण किए कविता-कामिनी के बाह्यालङ्करणों में विश्रान्ति न पा सकी, वह एक ऐसे तत्त्व को खोज निकालना चाहती थी जो सहृदयों के भी हृदय का विश्रान्तिधाम बन सकता । इसी प्रेरणा से आनन्दवर्धन ने काव्य के अन्तस्तल में प्रवेश कर उसके चारुत्व हेतु के रूप में वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त उस प्रतीयमानार्थ को खोज ही लिया जो कामनियों के अङ्ग अङ्ग में व्याप्त किन्तु उन अङ्गों से सर्वथा पृथक् स्वाभाविक लावण्य नामक तत्त्व के समान था ।[1] इनकी धारणा थी कि जिस प्रकार बाह्यालङ्करणों से लदी हुई भी नायिका वास्तविक लावण्य के अभाव में लावण्यतत्त्व के पारखी सहृदयों के लिए आकर्षण का केन्द्र नहीं बन सकती उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ से रहित अतिशय अलङ्कृत भी काव्य सहृदयों के मन को आह्लादित करने में समर्थ नहीं हो सकता, उन्हें तो उसी कविता में आनन्द की अनुभूति होती है जिसमें प्रतीयमानार्थ की प्रधानता रहती है ।

1- प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।ध्वन्या0 1/4

आद्यसौन्दर्य का ही विश्लेषण कर आनन्द प्राप्त करते रहे, किन्तु एक काव्यशास्त्रीय युग की समाप्ति वेला में ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने वाले एक ऐसे आचार्य का आविर्भाव हुआ जिन्हें कविता कामिनी का वह बाह्यालङ्करण शोभा वह नहीं लगा जो अन्य प्राचीन आचार्यों को स्वीकृत था। इसके विपरीत काव्य के स्वाभाविक अन्तःसौन्दर्य ने इन्हें इतना अधिक प्रभावित किया कि काव्य के बाह्यालङ्करण को ही महत्त्व देने वाले उन पूर्वाचार्यों के विरुद्ध उसी प्रकार इन्हें विद्रोह करना पड़ा जिस प्रकार चार्वाकसम्प्रदाय के विरुद्ध शङ्कराचार्य ने किया था।

इनकी दृष्टि सूक्ष्म तत्त्व का बिना विश्लेषण किए कविता-कामिनी के बाह्यालङ्करणों में विश्रान्ति न पा सकी, वह एक ऐसे तत्त्व की खोज निकालना चाहती थी जो सहृदयों के भी हृदय का विश्रान्तिधाम बन सकता। इसी प्रेरणा से आनन्दवर्धन ने काव्य के अन्तस्तल में प्रवेश कर उसके चारुत्व हेतु के रूप में वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त उस प्रतीयमानार्थ को खोज ही लिया जो कामनियों के अङ्ग अङ्ग में व्याप्त किन्तु उन अङ्गों से सर्वथा पृथक् स्वाभाविक लावण्य नामक तत्त्व के समान था।[1] इनकी धारणा थी कि जिस प्रकार बाह्यालङ्करणों से लदी हुई भी नायिका वास्तविक लावण्य के अभाव में लावण्यतत्त्व के पारखी सहृदयों के लिए आकर्षण का केन्द्र नहीं बन सकती उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ से रहित अतिशय अलङ्कृत भी काव्य सहृदयों के मन को आह्लादित करने में समर्थ नहीं हो सकता, उन्हें तो उसी कविता में आनन्द की अनुभूति होती है जिसमें प्रतीयमानार्थ की प्रधानता रहती है।

1- प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।ध्वन्या0 1/4

कामिनियों के लावण्य के समान प्रतीयमानार्थ सहृदय संवेद्य ही होता है । बाह्यालङ्करणों के बिना भी फटे पुराने कपड़ों में लिपटी हुई वास्तविक सौन्दर्य से युक्त आभीरकन्या जिस तरह से रसिक जनों के मन को अपनी ओर हठात् आकृष्ट कर लेती है उसी तरह अन्त:सौन्दर्य से युक्त कविता-कामिनी बाह्यालङ्करणों के बिना भी सहृदयों के हृदय को अवश्य आकर्षित करती है ।

आनन्दवर्धन सहृदय सम्राट थे, उनको कविता के चारुत्वहेतु अन्तस्तत्त्व को पहचानने की सूक्ष्म प्रतिभा प्राप्त थी । इसी लिए सत्कवियों द्वारा उपनिबद्ध अन्त:सौन्दर्यप्रधान काव्यों का समालोचन कर उनमें सर्वथा देदीप्यमान प्रतीयमानार्थ का इन्होंने अनुभव किया तथा इसी अनुभव के आधार पर अपनी सूक्ष्म प्रतिभा के द्वारा अपूर्वप्रतिपादित नूतन समीक्षा सिद्धान्तकी अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचना कर काव्य के समीक्षा जगत् को एक नयी दिशा प्रदान की । इनकी दृढ़ धारणा थी कि अन्त:सौन्दर्य प्रधान काव्य में विद्यमान प्रतीयमानार्थ तत्त्व से काव्य-लक्षणकार सर्वथा अनभिज्ञ थे तथापि काव्यतत्त्वविद् सहृदय समाज ने उसे अच्छी तरह से पहचान लिया था तभी तो उन्होंने प्रतीयमानार्थ को काव्य का जीवितभूत तत्त्व मानकर ही उसका प्रणयन किया । लक्ष्यग्रन्थों को आधार बनाकर सहृदयैकसंवेद्य ध्वनितत्त्व को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित करते समय आनन्दवर्धन ने सम्भावित विप्रतिपत्तियों का निराकरण कर उसका इतना वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है कि अनन्तर-कालीन अनेक आचार्यों के द्वारा उसके विरुद्ध अनेक आक्षेप किए जाने पर भी ध्वनिसिद्धान्त दृढ़ता को ही प्राप्त होता गया तथा च अलङ्कार आदि सम्प्रदाय उसी का एक पक्ष मात्र बनकर रह गये । अभिधा लक्षणा एवं तात्पर्य इन तीनों वृत्तियों के अतिरिक्त व्यञ्जना वृत्ति के दृढ़ आधार प्रदान करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूप

स्पष्ट कर देने के अनन्तर यही अर्थ विश्रान्तिधाम होने के कारण सर्वप्रधान माना गया । काव्य की उत्तमता का इसको निर्धारक भी कहा गया अर्थात् वही काव्य उत्तम काव्य है जिसमें प्रतीयमानार्थ की प्रधानता हो ।

आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रथम कारिका में ही कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर स्पष्ट निर्देश किया है । इनके अनुसार काव्यतत्त्व के मर्मज्ञ प्राचीन आचार्यों के द्वारा ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व मानकर बहुश: व्यवहार किया गया था इतना अवश्य है कि किसी आचार्य ने उसको व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित करने की आवश्यकता नहीं समझी थी । फिर भी ध्वनिकार को ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिपादन में प्राचीन आचार्यों से कई रूपों में सहयोग मिला है । प्रथमत: तो लक्ष्य ग्रन्थों में ध्वनि तत्त्व का स्वरूप स्पष्ट रूप से विवेचित हुआ था उन काव्यतत्त्ववेत्ताओं ने इनसे बहुत पहले ही काव्य की चारुता के लिए प्रतीयमानार्थ को स्वीकार कर लिया था अत: ध्वनिकार को लक्ष्य ग्रन्थों को आधार बनाकर ध्वनितत्त्व का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण करने में पर्याप्त सहायता मिली है । द्वितीयत: काव्यशास्त्री भी व्यञ्जना का स्वरूप पहचान कर उसको कई स्थलों पर आवश्यक मानने लगे थे । काव्यशास्त्र के लक्षणकारों में भरत ने ही सर्वप्रथम रसप्रकरण में अनेक प्रकार के भावों के अभिनयों द्वारा स्थायी भाव की व्यञ्जना स्वीकार कर व्यञ्जनावृत्ति को मान्यता दे दी थी । इतना अवश्य है कि भरत व्यञ्जना का वह स्वरूप नहीं अभिव्यक्त कर सके जो आनन्दवर्धन को अभिप्रेत था क्योंकि इन्होंने "रसा उत्पद्यन्ते" "रसा निष्पद्यन्ते" आदि रूप में "उत्पत्ति, "निष्पत्ति" और अभिव्यक्ति को समानार्थक मानकर व्यवहार किया है ।

भामह समान विशेषणों के द्वारा अन्य अर्थ की गम्यता को समासोक्ति अलङ्कार कहकर वाच्यार्थ से भिन्न गम्यमान अर्थ का जहाँ

स्पष्ट सङ्केत करते हैं वहाँ पर्यायोक्त अप्रस्तुत प्रशंसा तथा शुद्धदृष्टान्त अलङ्कारों में भी क्रमशः अन्य प्रकार से अर्थ का अभिधान मानकर, अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा प्रस्तुत की गम्यमानता स्वीकार कर तथा साध्य-साधन की व्यङ्ग्यता का स्पष्ट निर्देश कर[1] इन्होंने आनन्दवर्धन का मार्ग प्रशस्त किया है ।

इसी प्रकार दण्डी तथा उद्भट आदि आचार्यों ने पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों में व्यञ्जना को स्वरूपतः स्वीकार किया था ।[2] आचार्य रुद्रट भी भाव नामक अलङ्कार के लक्षण में व्यङ्ग्य अर्थ का स्पष्ट सङ्केत करते हैं ।[3] इस प्रकार इन आचार्यों के विवेचन ने आनन्दवर्धन को ध्वनितत्त्व के प्रतिपादन में अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य प्रभावित किया होगा । किन्तु आनन्दवर्धन को ध्वनिसिद्धान्त की प्रामाणिकता के लिए सबसे अधिक आश्रित रहना पड़ा है वैयाकरणों के विचारों पर । ध्वनिकार ने स्वतः स्वीकार किया है कि मेरा यह ध्वनिव्यवहार वैयाकरण आचार्यों के मत का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त हुआ है । ध्वनिसिद्धान्त व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव पर आधारित होता है । वैयाकरण स्फोटसिद्धान्त के प्रतिपादन में स्पष्ट रूप से व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव को स्वीकार करते थे । इतना ही नहीं वर्ण, पद आदि की भी द्योतकता वैयाकरणों को स्वीकृत थी । वैयाकरणों ने आनन्दवर्धन को कहाँ तक प्रभावित किया है इसी तथ्य को यहाँ स्पष्ट किया जायेगा ।

1- भामह, काव्यालङ्कार 2/79, 3/8, 3/19, 5/28

2- (क) यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते । काव्यादर्श 2/295

(ख) पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ।। का०सा०सं० 4/6

3- रुद्रट, काव्यालङ्कार पृ० 83

वैयाकरणों को अभिमत स्फोटसिद्धान्त -

वैयाकरण आचार्य शब्द की नित्यता तथा व्यापकता का प्रतिपादन करते समय स्फोटसिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या करते हैं । इस सिद्धान्त का प्रारम्भ कब से हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । पाणिनि ने "अवङ् स्फोटायनस्य" {पा०सू० 6/1/123} सूत्र में "स्फोटायन" नामक आचार्य का निर्देश किया है, इसी आधार पर आचार्य हरदत्त तथा नागेश इस सिद्धान्त का सम्बन्ध स्फोटायन ऋषि से जोड़ते हैं[1] किन्तु इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है । हाँ पाणिनि के विवेचन में स्फोट का स्वरूप बीज रूप में अवश्य विद्यमान है ।

पाणिनि का मत -

पाणिनि ने "सर्वत्र विभाषा: गो:", "अवङ् स्फोटायनस्य" तथा "इन्द्रे च नित्यम्" {पा०सू०6/1/122-124} तीनों नियमों का विधान कर स्फोट का स्वरूप स्पष्ट करना चाहा है । प्रथम सूत्र से "गो अग्रम्" तथा "गोऽग्रम्" के साधुत्व की व्यवस्था कर यद्यपि वर्णस्फोट तथा पदस्फोट को मान्यता मिली है किन्तु सिद्धान्तत: इन्होंने "गवाग्रम्" तथा "गवेन्द्र:" के साधुत्व के द्वारा वाक्य को ही सार्थक मानकर वाक्यस्फोट का प्रतिपादन किया है । इनके द्वारा "ओ" के स्थान पर अवङ् का विधान कर स्फोट एवं ध्वनि दोनों की व्याख्या की गयी है । अवङ् में अव् अंश स्फोट रूप है, वह नित्य है तथा अङ् ध्वनि रूप है, अनित्य है । व्याडि ने भी शब्द की नित्यता एवं अनित्यता के विवेचन में महाभाष्कार के अनुसार निष्कर्षत: शब्द को स्फोट रूप में नित्य तथा ध्वनिरूप में अनित्य माना है ।

1- {क} स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायन:, स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्य: । पदमञ्जरी, काशिका 6/1/123

{ख} वैयाकरणनागेश: स्फोटायनऋषेर्मतम् ।
परिष्कृत्योक्तवांस्तेन प्रीयतां जगदीश्वर: ।। वै०सि०ल०म० पृ०573

व्याडि के विचार -

वैयाकरण आचार्य व्याडि स्फोटवाद की व्याख्या में शब्द को एक नित्य तथा अखण्ड मानते हैं । इनके अनुसार शब्द एवं अर्थ में परमार्थतः कोई भेद नहीं होता व्यवहार में इन्हें पृथक् कर लिया जाता है । वस्तुतः शब्द एवं अर्थ में मूलभूत तत्त्व एक ही है वह एक और नित्य है ।[1] शब्द में किसी प्रकार के विभाग की सम्भावना नहीं होती । इस अविभक्त शब्द की वैखरी ध्वनिरूप विभागयुक्त वर्णों से अभिव्यक्ति होती है, जिससे शब्द अर्थ का वाचक बनता है । उच्चरित शब्द बुद्धिस्थ शब्द से तादात्म्य स्थापित करता है यही उसकी वाचकता का मूल कारण है क्योंकि बुद्धिस्थ शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है ।[2] व्याडि ने यह भी स्पष्ट किया था कि ध्वनियाँ दो तरह की होती हैं -﴾1﴿ प्राकृत तथा ﴾2﴿ वैकृत । प्राकृत ध्वनि से स्फोट की उपलब्धि या अभिव्यक्ति होती है, जबकि वैकृत ध्वनि वृत्तिभेद अर्थात् द्रुत, मध्यम, विलम्बित आदि स्थितिभेद में निमित्त बनती है ।[3]

पतञ्जलि तथा भर्तृहरि -

पाणिनि तथा व्याडि आदि वैयाकरण आचार्यों के इस विवेचन को आधार बनाकर महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा भर्तृहरि ने अतीव महत्त्वपूर्ण तथा वैज्ञानिक विवेचन कर स्फोट सिद्धान्त को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने की उत्तम भूमिका निभायी है । पाणिनि आदि प्राचीन वैयाकरणों को स्वीकृत शब्द की नित्यता के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए भाष्यकार

1- शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक्क्रिया ।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम् ।। वा०प० 1/26 की टीका में

2- अविभक्तो विभक्तेभ्यः जायतेऽर्थस्य वाचकः ।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति ।। वही 1/45 की टीका में

3- स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ।। वही 1/76 की टीका में

पतञ्जलि ने शब्दों में आगम विकार आदि के द्वारा उसके अनित्यत्व की आशङ्का का निवारण किया है । इनकी मान्यता है कि आगमरहित के स्थान पर आगमयुक्त तथा विकाररहित के स्थान पर विकार-युक्त आदेश का विधान कर शब्द के नित्यत्व की रक्षा की जाती है । ऐसे स्थलों में सम्पूर्णपद के स्थान पर दूसरा नया पद आ जाता है ।[1] नित्य शब्दों में प्रत्येक वर्ण कूटस्थ एवं अचल होते हैं, उसमें किसी प्रकार का वृद्धि, क्षय या विकार नहीं होता ।[2]

पतञ्जलि शब्द का स्वरूप स्पष्ट करते समय शब्द उसको मानते हैं जो उच्चारण करने पर सास्नालाङ्गूलादिमान् पदार्थों का बोध कराते हैं ।[3] इसी बात को इस रूप में भी कहा जा सकता है कि लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि शब्द है । जैसा कि व्यवहार में ध्वनि करने वाले व्यक्ति के लिए "शब्द करो", "शब्द मत करो" "यह बालक शब्द करने वाला है" इत्यादि कहा जाता है, अतः ध्वनि ही शब्द है ।[4] इसी तथ्य को और स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने माना है कि जिसकी श्रोत्र से उपलब्धि होती है, जो बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है, जो उच्चारण करने पर अभिव्यक्त होता है और आकाश जिसका स्थानहै उस तत्त्व को शब्द कहते हैं ।[5] पतञ्जलि के द्वारा स्फोटरूपी शब्द की यह व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

1- सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ।। महाभाष्य 7/1/27

2- नित्याश्चशब्दाः, नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः । महाभाष्य, द्वि0आ0 पृ0-8।

3- येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः ।
महाभाष्य, पस्पशा0

4- अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते ।
तद्यथा शब्दं कुरु शब्दं मा कार्षीः शब्दकार्ययं माणवकः । तस्माद् ध्वनिः शब्दः ।
वही

5- श्रोत्रोपलब्धिबुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ।
महाभाष्य द्वि0आ0 पृ0-82

सम्पूर्ण शब्द वर्णों से निष्पन्न होते हैं, वर्ण उच्चारण करने के तुरन्त बाद नष्ट हो जाने वाले हैं, अतः उच्चरितप्रध्वंसी वर्णों से निष्पन्न शब्दों का ग्रहण अशक्य है, इस शङ्का का समाधान करने के लिए भाष्यकार ने शब्दों को बुद्धिनिर्ग्राह्य अर्थात् बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य बताया है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्व ध्वनि से उत्पन्न की गई अभिव्यक्ति से बुद्धि में संस्कार परम्परा का जन्म होता है, इस संस्कार के दृढ़ हो जाने पर अन्तिमवर्ण के ज्ञान से शब्द का ग्रहण बुद्धि में ही होता है। अन्तिम वर्ण के ज्ञात होने पर ही शब्दों का ज्ञान हो पाता है पूर्व पूर्व वर्णों की ध्वनियाँ केवल शब्द की अभिव्यक्ति मात्र करती हैं। ये संस्कारों को उत्पन्न कर उन संस्कारों से युक्त अन्तिम वर्ण के ज्ञान के द्वारा शब्द के ज्ञान में सहायता करती हैं। इससे महाभाष्यकार की यह धारणा भी स्पष्ट हो जाती है कि स्फोट ज्यों का त्यों रहता है परिवर्तन केवल ध्वनियों में होता है। इनके अनुसार जिससे अर्थबोध होता है वह स्फोट रूप शब्द है तथा उच्चरित होने वाली ध्वनि दूसरी ही है। श्रूयमाण ध्वनि ही शब्द नहीं है क्योंकि ध्वनि का उच्चारण करने वाले व्यक्ति के भेद से ध्वनि में उपचय एवं अपचय भी देखे जाते हैं। स्पष्ट है कि तेज बोलने वाला व्यक्ति वर्णों का शीघ्र उच्चारण करता है जबकि धीरे बोलने वाला विलम्ब से। इस स्थिति में यदि ध्वनि को ही शब्द मानेंगे तो उपचयापचयरूप ध्वनिभेद से शब्दभेद भी स्वीकार करना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि यदि ध्वनि से ही अर्थ का साक्षात् प्रतिपादन होना होता तो तेज आवाज से उच्चरित "गौः" ध्वनि का अर्थ एक बड़ा गौ पदार्थ होना चाहिए था तथा मन्द आवाज से उच्चरित "गौः" ध्वनि का का छोटा गौ पदार्थ। किन्तु ऐसा कभी होता नहीं, "गौः" ध्वनि के तेज या मन्द किसी भी रूप में उच्चरित होने पर श्रोता को एक ही प्रकार के गौ पदार्थ रूप अर्थ का बोध होता है अनेक प्रकार के अर्थ का नहीं।

अत: यह स्वीकार करना पड़ता है कि गो पदार्थ का प्रत्यायक गौ: शब्द गो ध्वनि से भिन्न होता है । दोनों को भिन्न मानते हुए "तपरस्तत्कालस्य" {पा०सू० 1/1/70} सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द स्फोटरूप का होता है तथा उच्चरित ध्वनि से प्रतीत होने वाला शब्द शब्दगुण होता है । शब्द में स्फोट एवं ध्वनि दोनों तत्त्व रहते हैं अर्थात् शब्द दो रूपों का होता है - एक स्फोटरूप का तथा दूसरा ध्वनिरूप का । इनमें से ध्वनिरूप शब्द का प्रत्यक्ष होता है इसी शब्द में वृद्धि एवं ह्रास भी होते हैं । मनुष्य की व्यक्त ध्वनि में दोनों का ज्ञान होता है जबकि अव्यक्त ध्वनि में केवल ध्वनि का ही ज्ञान होता है, स्फोट-तत्त्व का नहीं क्योंकि इन ध्वनियों से अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती । स्फोट एवं ध्वनि अर्थबोधक शब्दों में सर्वत्र स्वाभाविक रूप से रहते हैं । ध्वनि में यद्यपि उपचय एवं अपचय होते हैं किन्तु स्फोट में कोई परिवर्तन नहीं होता उसका स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है । इनके द्वारा इस प्रसङ्ग में "भेर्याघात" शब्द का उदाहरण के रूप में उपादान किया गया है । भेरी की आवाज अर्थात् ध्वनिशब्द कोई तो बीस कदम तक जाती है, कोई तीस तथा कोई चालीस, किन्तु इनमें स्फोट उतना ही रहता है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता । परिवर्तन केवल ध्वनि में होता है । वृद्धि या ह्रास ध्वनि के कारण ही होता है ।[1]

1- वक्ता कश्चिदाश्वभिधायी भवति कश्चिच्चिरेण कश्चिच्चिरतरेण । तद्यथा तमेवाध्वानं कश्चिदाशु गच्छति । कश्चिच्चिरेण गच्छति कश्चिच्चिरतरेण गच्छति । विषम उपन्यास: । अधिकरणमत्र अध्वा व्रजतिक्रियाया: । तत्रायुक्तं यदधिकरणस्य वृद्धिह्रासौ स्याताम् । एवं तर्हि स्फोट: शब्दो ध्वनि: शब्दगुण: । कथम् ? भेर्याघातवत् । तद्यथा भेर्याघातो भेरीमाहत्य कश्चिद्विंशतिपदानि गच्छति कश्चित् त्रिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत् स्फोटश्च तावानेव भवति ध्वनिकृता वृद्धि: ।

ध्वनि: स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते
अल्पो महाँश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावत: ।। म०भा० 1/1/70

महाभाष्यकार के इस विचार से स्पष्ट हो जाता है कि शब्द के दो रूप हैं - पहला स्फोटरूप तथा दूसरा ध्वनिरूप । ध्वनिशब्द एवं स्फोटशब्द में परस्पर व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध है, ध्वनिशब्द स्फोट शब्द का व्यञ्जक है तथा स्फोट शब्द उससे व्यङ्ग्य है । कालादिकृतभेदाभाव के कारण स्फोट में कोई परिवर्तन नहीं होता । वृद्धि एवं ह्रास आदि धर्म केवल ध्वनि के हैं, स्फोट का उपकारक होने के कारण इसे शब्दगुण कहा जाता है ध्वनि स्फोट को अभिव्यक्त कर उसका उपकार करती है ।

कुछ अर्वाचीन आचार्यों ने स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा समुपलब्ध अर्थ से महाभाष्यकार के अभिप्राय का समर्थन किया है । भट्टोजिदीक्षित ने स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति में "स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः"[1] लिखा है । जिस शब्दतत्त्व से अर्थ प्रस्फुटित होता है वह स्फोट है ।

आचार्य श्रीकृष्ण का एतद्विषयक विचार अधिक स्पष्ट है उन्होंने स्फोट शब्द को योगरूढ शब्द मानकर उसका अर्थ निर्धारित किया है । इनके मत से वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य अर्थ के प्रतिपादक वाचक, लाक्षणिक एवं व्यञ्जक शब्दों को अथवा इन शब्दों में रहने वाली जाति को स्फोट कहते हैं ।[2] ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में भी स्पष्ट किया गया है कि जिससे अर्थ प्रस्फुटित होता है वह स्फोट है, अथवा जो अर्थ का प्रकाशक है वह स्फोट है । यह

1- शब्दकौस्तुभ पृष्ठ-12

2- शाब्दिकानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थप्रतिपादकानां वाचकलाक्षणिक-व्यञ्जकानां शब्दानां तन्निष्ठजातेर्वा स्फोट इति व्यवहारः । स्फुटति अर्थो यस्मादिति व्युत्पत्त्या पङ्कजादिवद् योगरूढः स्फोटशब्दः । स्फोटचन्द्रिका पृ0-1

स्फोट वर्णव्यङ्ग्य है, अर्थात् वर्णों से इसकी अभिव्यक्ति होती है तथा यह शब्दस्फोट गो आदि अर्थों का व्यञ्जक है ।[1]

भाष्यकार पतञ्जलि के स्फोट विषयक विचारों की पूर्णता भर्तृहरि के वाक्यपदीय पर निर्भर है । भर्तृहरि ने इस ग्रन्थ में स्फोट के समस्त पक्षों पर विस्तृत विचार किया है । इनकी भी मान्यता है कि उपादान शब्द दो प्रकार के होते हैं एक स्फोटरूप तथा दूसरे ध्वनिरूप । ध्वनिरूप शब्द शब्दतत्त्व के निमित्त अर्थात् व्यञ्जक होते हैं जबकि ध्वनिशब्दों से व्यङ्ग्य स्फोटरूप शब्द अर्थ का बोध कराते हैं ।[2]

इस प्रसङ्ग में भर्तृहरि द्वारा प्रयुक्त उपादान शब्द महत्त्वपूर्ण है । इसकी दो प्रकार से व्युत्पत्ति सम्भव है - प्रथम व्युत्पत्ति है "उपादीयते येनार्थः" तथा द्वितीय है "उपादेयः समुदायः ।[3] प्रथम व्युत्पत्ति का अभिप्राय यह है कि प्रथमतः अर्थ का ज्ञान करा देने के कारण स्फोट उपादान शब्द है । यह उच्चार्यमाण ध्वनिरूप शब्दों का उपादान कारण है क्योंकि हृदय में स्फोट रूप में विद्यमान शब्दतत्त्व की ही ध्वनि से बाहर अभिव्यक्ति होती है । द्वितीयतः ध्वनिरूप शब्दों का अर्थों में प्रयोग किया जाता है । ध्वनि शब्द से स्फोट रूप शब्द अभिव्यक्त होकर सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान करा देता है । स्फोट जब तक अभिव्यक्त नहीं हो जाता तब तक अर्थबोध नहीं हो सकता । द्वितीय व्युत्पत्ति में उपादान शब्द का अर्थ होगा वह शब्द समुदाय जो प्रयुक्त होता है । ध्वनिशब्द का ही हमेशा प्रयोग होता है अतः उपादान का अर्थ होगा ध्वनिरूप शब्द । इस प्रकार ध्वनिशब्द स्फोट

1- स्फुटति अर्थोऽस्मादिति स्फोटः, स्फुटयति अर्थं प्रकाशयति इतिवा ।
स्फुट्यते वर्णैर्व्यज्यते इति स्फोटो वर्णव्यङ्ग्योऽर्थस्य व्यञ्जको गवादिशब्दः ।
शा० भा० रत्नप्रभाः ब्रह्मसूत्र 1/3/2

2- द्वावुपादान-शब्देषु शब्दो शब्दविदो विदुः ।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ।। वा० प० 1/44

3- वा० प० 1/44 की स्वोपज्ञवृत्ति टीका ।

शब्द का निमित्त बनता है । यहाँ निमित्त का अर्थ है व्यञ्जक होना । ध्वनि स्फोट का व्यञ्जक है तथा स्फोट व्यङ्ग्य है । व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव-सम्बन्ध के आधार पर ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है इस रूप में ध्वनि को भी कारण कहा जाता है । दूसरे स्फोट का अर्थबोध में प्रयोग किया जाता है । श्रोता ध्वनि को प्रथमत: कानों से ग्रहण करता है तब ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है इसी अभिव्यक्त स्फोट से अर्थबोध होता है । ध्वनि का श्रोत्र से ग्रहण होता है स्फोट का नहीं क्योंकि स्फोट सूक्ष्म है । स्फोट का ग्रहण बुद्धि से होता है, ध्वनि का नहीं अत: अर्थबोध में ध्वनि का श्रोत्र से गृहीत होना तथा स्फोट का बुद्धि से गृहीत होना दोनों आवश्यक हैं । ध्वनि स्फोट का व्यञ्जक है, स्फोट ध्वनिव्यङ्ग्य है । श्रोता की बुद्धि में स्थित क्रमरहित स्फोट ध्वनि शब्द के सुनते ही अभिव्यक्त होकर ही अर्थ का बोध कराता है अनभिव्यक्त स्फोट से सुस्पष्ट अर्थ का बोध नहीं हो सकता अत: ध्वनिशब्द का अर्थबोध के लिए आश्रय लिया जाता है ।

जिस प्रकार कारण एवं कार्य को कुछ दार्शनिक भिन्न मानते हैं तथा कुछ अभिन्न उसी प्रकार ध्वनि एवं स्फोट के विषय में भी मतभेद है ।

दोनों को भिन्न मानने वालों का तर्क यह है कि स्फोट नित्य है, जबकि ध्वनि अनित्य, इस रूप में दोनों के स्वभाव में भेद है अत: दोनों को एक नहीं माना जा सकता । तथा स्फोट एवं ध्वनि के अभिन्न मानने वालों का तर्क है कि शब्द से ही ध्वनि होती है ध्वनि का मौलिक कारण शब्द ही है पदार्थ या तत्त्व की दृष्टि से दोनों एक है अत: इनमें अभेद मानना चाहिए । स्फोट का ग्रहण बुद्धि से होता है तथा ध्वनि का श्रोत्र से अत: अभिन्न में भिन्नता की कल्पना मात्र कर ली जाती है ।[1] इनमें भेद व्यावहारिक दृष्टि-कोण अपना कर किया जाता है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो सब कुछ एक ही

1- आत्मभेदस्तयो: केचिदस्तीत्याहु: पुराणगा: ।
बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते ।। वा० प० 1/45

है, वह है शब्दतत्त्व, उसके अतिरिक्त किसी की स्थिति नहीं मानी जा सकती। वैयाकरणों का दृष्टिकोण अत्यन्त वैज्ञानिक है । व्यावहारिक दृष्टि से तो वे स्फोट से भिन्न ध्वनि की सत्ता स्वीकार कर उसे अनित्य कहते हैं तथा स्फोट की वर्णरूपता एवं पदरूपता की भी कल्पना करते हैं, इनसे वाक्यों की निष्पत्ति भी स्वीकार करते हैं, किन्तु वह पारमार्थिक सत् है तथा उसी से अर्थबोध होता है । उसमें ध्वनि की भी वास्तविक स्थिति नहीं स्वीकार की गयी, वास्तविक नित्य सत् केवल स्फोट है वह भी अखण्ड वाक्य स्फोट ।[1] केवल व्यावहारिक दृष्टि से उसमें वर्ण, पद आदि की सत्ता स्वीकार की गयी है, वर्णों, पदों तथा विभिन्न प्रकृति प्रत्ययादि की सार्थकता भी व्यावहारिक दृष्टि से ही सम्भव है इस रूप में वैयाकरणों ने स्पष्ट रूप से ध्वनि को स्फोट से भिन्न माना है, ध्वनि स्फोट का पर्यायवाची नहीं है, ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है । अतः ध्वनि स्फोट का व्यञ्जक है। जिस प्रकार शब्द एवं अर्थ में तादात्म्य स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार स्फोट एवं ध्वनि में भी तादात्म्य मानकर व्यवस्था की जाती है । यदि स्फोट एवं ध्वनि में तादात्म्य न हो तो किसी भी ध्वनि से किसी भी अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। बुद्धि शब्द का अर्थविशेष में निर्देश करती है । बुद्धि में शब्द एवं अर्थ का जो सम्बन्ध निर्धारित होता है वह कण्ठ तालु आदि से निकली हुई दीर्घत्व ह्रस्व आदि ध्वनि के धर्मों से अभिव्यक्त होता है ।[2] इस प्रकार वैयाकरण स्फोट तथा ध्वनि को भिन्न मानते हैं । ये दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं । किन्तु कुछ

1- व्यवहाराय मन्यन्ते शास्त्रार्थप्रक्रिया यतः ।।
शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैर विद्यैवोपवर्ण्यते ।
अनागमविकल्पान्तु स्वयं विद्योपवर्तते ।। वा० 2/234-5

2- वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः ।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ।। वही 1/47.

है, वह है शब्दतत्त्व, उसके अतिरिक्त किसी की स्थिति नहीं मानी जा सकती। वैयाकरणों का दृष्टिकोण अत्यन्त वैज्ञानिक है । व्यावहारिक दृष्टि से तो वे स्फोट से भिन्न ध्वनि की सत्ता स्वीकार कर उसे अनित्य कहते हैं तथा स्फोट की वर्णरूपता एवं पदरूपता की भी कल्पना करते हैं, इनसे वाक्यों की निष्पत्ति भी स्वीकार करते हैं, किन्तु वह पारमार्थिक सत् है तथा उसी से अर्थबोध होता है । उसमें ध्वनि की भी वास्तविक स्थिति नहीं स्वीकार की गयी, वास्तविक नित्य सत् केवल स्फोट है वह भी अखण्ड वाक्य स्फोट ।[1] केवल व्यावहारिक दृष्टि से उसमें वर्ण, पद आदि की सत्ता स्वीकार की गयी है, वर्णों, पदों तथा विभिन्न प्रकृति प्रत्ययादि की सार्थकता भी व्यावहारिक दृष्टि से ही सम्भव है इस रूप में वैयाकरणों ने स्पष्ट रूप से ध्वनि को स्फोट से भिन्न माना है, ध्वनि स्फोट का पर्यायवाची नहीं है, ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है । अतः ध्वनि स्फोट का व्यञ्जक है। जिस प्रकार शब्द एवं अर्थ में तादात्म्य स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार स्फोट एवं ध्वनि में भी तादात्म्य मानकर व्यवस्था की जाती है । यदि स्फोट एवं ध्वनि में तादात्म्य न हो तो किसी भी ध्वनि से किसी भी अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। बुद्धि शब्द का अर्थविशेष में निर्देश करती है । बुद्धि में शब्द एवं अर्थ का जो सम्बन्ध निर्धारित होता है वह कण्ठ तालु आदि से निकली हुई दीर्घत्व ह्रस्व आदि ध्वनि के धर्मों से अभिव्यक्त होता है ।[2] इस प्रकार वैयाकरण स्फोट तथा ध्वनि को भिन्न मानते हैं । ये दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं । किन्तु कुछ

1- व्यवहाराय मन्यन्ते शास्त्रार्थप्रक्रिया यतः ।।
शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैर विद्यैवोपवर्ण्यते ।
अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्तते ।। वा० 2/234-5

2- वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः ।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ।। वही 1/47.

आधुनिक समालोचक भ्रम से दोनों को एक ही मान बैठे हैं ।[1] इनके भ्रम का कारण महाभाष्य का वाक्य "तस्माद्ध्वनि: शब्द:" हो सकता है किन्तु भाष्यकार ने ध्वनि के विशेषण "प्रतीतपदार्थक" का उपादान कर स्पष्ट कर दिया है कि अर्थ का प्रतिपादक ध्वनि शब्द है अर्थात् स्फोट रूप है तथा ध्वनि जिससे अर्थ की प्रतीति नहीं होती अर्थात् स्फोट से तादात्म्य नहीं होता वह स्फोट से भिन्न है अर्थ का प्रतिपादन स्फोट करता है ध्वनियाँ मात्र उसको अभिव्यक्त करती है अत: स्फोट एवं ध्वनि को एक नहीं माना जा सकता ।

भर्तृहरि ने यह भी स्पष्ट किया है कि स्फोट जब कण्ठ तालु आदि--करणों के आश्रय से विवर्त की स्थिति में आता है तब ध्वनि रूप में उसका ज्ञान होता है, व्यञ्जक ध्वनि के भेद से उसमें भी भेद प्रतीत होने लगता है । वस्तुत: उसमें कोई क्रम या भेद नहीं होता । जिस प्रकार चन्द्रमा में चञ्चलता के न होने पर भी तरल जल में उस के प्रतिबिम्ब को देखकर उसमें भी चञ्चलता का आरोप किया जाता है उसी प्रकार स्फोट में भी क्रमादि आरोपित मात्र हैं

1- (क) डॉ० नगेन्द्र: "स्फोट का दूसरानाम ध्वनि भी है ।
भूमिका : हिन्दी ध्वन्या० पृ० 27

(ख) डॉ० भोला शङ्कर व्यास : "योगी को मध्यमा तथा पश्यन्ती का का भी प्रत्यक्ष हो जाता है किन्तु परा तो स्वयं नाद ब्रह्म है यही परा ध्वन्यात्मक वर्ण या स्फोट है ।
ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त,पृ०-65

(ग) श्री विष्णुपद भट्टाचार्य: "This sphota is termed Dhvani by the वैयाकरण" "Dhvanyaloka Udyota IP.125 (Calcutta)

(घ) डॉ शंकरन् " Sphota otherwise called Dhvani is the one permanent seat of the significative capacity"
"Some Aspects of Literary Criticisms", p.67.

(ङ) के०एस० रामस्वामी शास्त्री : 'The principles of this theory were derived from the sphota vada of the grammarians, who held that the sphota or the Dhvani is the permanent capacity of the word to signify their imports".
Introduction to the Bhavaprakashan, p. 23.

वास्तविक नहीं ।[1] स्फोट तत्त्व बुद्धि में उसी प्रकार अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है जिस प्रकार अरणि नामक काष्ठ में स्थित अग्नि । स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अग्नि घटादि वस्तुओं का भी प्रकाशन करने में जैसे समर्थ होता है वैसे ही ध्वनि द्वारा अभिव्यक्त स्फोट भी अपने स्वरूप को तथा अर्थ को प्रकाशित करता है ।[2] इसी बात को ज्ञान के उदाहरण से भी स्पष्ट किया गया है । ज्ञान अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है तथा ज्ञेय वस्तु का भी ज्ञान करा देता है, स्फोट भी अपने स्वरूप के साथ शब्द के अर्थ का भी प्रत्यायक होता है ।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि ध्वनि से अभिव्यक्त बुद्धिस्थ स्फोट अर्थ का बोधक है । अर्थ की प्रतीति में स्फोट तत्त्व के साथ ध्वनितत्त्व की भी आवश्यकता होती है अन्यथा अनभिव्यक्त स्फोट स्पष्ट एवं उचित अर्थ का बोध नहीं करा सकता, श्रोत्रग्राह्य ध्वनि ही ऐसा तत्त्व है जो उस बुद्धिस्थ स्फोट को अभिव्यक्त कर अर्थ की अभिव्यक्ति में उसको प्रवृत्त करता है ।

स्फोट के विरुद्ध आक्षेप एवं उनका समाधान :

वैयाकरणों के इस व्यवस्थित सिद्धान्त की भर्तृहरि से पूर्व ही कुछ

1- नादस्य क्रमजन्मत्वान्न पूर्वो नापरश्च सः ।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते ।।
प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात् ।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः ।। वा० प० 1/48-49

2- अरणिस्थं यथा ज्योतिः श्रुतीनां कारणं पृथक् ।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् ।। वही 1/46

3- आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते ।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ।। वही 1/50

आचार्य समालोचना करने लगे थे । इनका कहना था कि शब्द की अभिव्यक्ति को नहीं माना जा सकता । इस रूप में वे स्फोट के अभाव का प्रतिपादन करना चाहते थे । भर्तृहरि के विवेचन में ही इस अभाववाद का स्वरूप स्पष्ट हो गया है । भर्तृहरि अभाववादियों के तीन विकल्पों को स्वीकार करते हैं। इन तीनों विकल्पों को स्पष्ट कर उनका आचार्य ने समुचित समाधान भी प्रस्तुत किया है।

प्रथम अभाववाद के अनुसार शब्द की अभिव्यक्ति ध्वनि से सम्भव नहीं है, क्योंकि अभिव्यक्ति के लिए समान देश का होना आवश्यक है । दीपक से घटादि पदार्थों की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब अभिव्यञ्जक दीपक तथा अभिव्यङ्ग्य घटादि एक ही देश में स्थित हों । दीपक अन्यत्र हो तथा घटादि अन्यत्र तो कथमपि घटादि का ज्ञान नहीं हो सकता । शब्द के विषय में समानदेशता नहीं होती क्योंकि शब्द की उपलब्धि आकाश में होती है अर्थात् वह आकाशदेशस्थ है जबकि ध्वनियाँ कण्ठ तालु आदि के अभिघात से उत्पन्न हैं तथा इनकी उपलब्धि श्रोत्र में होती है । अत: देशभेद के स्पष्ट होने से ध्वनियों से शब्द की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है ।[1] भर्तृहरि इस आक्षेप का समाधान करते हुए स्पष्ट करते हैं कि अभिव्यक्ति के लिए देश की एकता का नियम केवल मूर्तपदार्थों के सम्बन्ध में ही लागू होता है । देश का एकत्व अथवा नानात्व धर्म मूर्त पदार्थों में ही सम्भव है । अमूर्तपदार्थों के लिए अभिव्यक्ति के प्रयोजक देशैकत्व नियम की उपयोगिता नहीं रह जाती, अमूर्त पदार्थों में देशभेद के आधार पर भेद की कल्पना अशक्य है शब्द एवं ध्वनि भी अमूर्त पदार्थ हैं जिससे शब्द की अभिव्यक्ति के लिए देश की एकता

1- देशभेदान्नाभिव्यज्यते शब्द: । समानदेशस्था हि घटादय: प्रदीपादिभिर्व्यज्यन्ते । करणसंयोगविभागाभ्यां तु व्यञ्जकाभ्यामन्यत्र शब्दोपलब्धिरिति। स चायं ध्वनिषु व्यञ्जकेष्वप्रसङ्ग: । तत्रापि ब्रुवते - कथमेकदेशस्थ: शब्दो नानादेशस्थैरतिविप्रकृष्टैर्ध्वनिभिर्व्यज्यत इति ।
स्वो०वृ०वा०प० 1/96.

का नियम नहीं प्रवृत्त होता अत: ध्वनि से शब्द की अभिव्यक्ति सिद्ध हो जाती है । इसके अलावा आदित्य आदि मूर्त पदार्थ एक देश में स्थित होते हुए भी परिच्छिन्न रूप में अनेक देशों में भी उपलब्ध होते हैं अत: नाना अधिकरणों में स्थित होने पर भी इनकी उपलब्धि सम्भव होने के कारण देश भेद के आधार पर अभिव्यक्ति का अभाव नहीं प्रतिपादित किया जा सकता ।[1]

शब्द की अभिव्यक्ति का अभाव प्रतिपादित करने वाले दूसरे सम्प्रदाय का विचार है कि अभिव्यक्ति वहीं होती है जहाँ अभिव्यङ्ग्यवस्तु के लिए नियत अभिव्यंजकों की अपेक्षा नहीं रहती, एक ही अभिव्यङ्ग्य के अनेक -- अभिव्यंजक हो सकते हैं । घटादि की अभिव्यक्ति प्रदीप, मणि, आकाशज्योति आदि अनेक अभिव्यंजकों से होती है, किसी एक नियत अभिव्यंजक से नहीं । अत: इन वस्तुओं की अभिव्यक्ति तो सम्भव है, किन्तु शब्द की अभिव्यक्ति नियत रूप नाद से ही होती है । अन्य वर्णों की अभिव्यक्ति के हेतु नाद अन्य वर्णों की कथमपि अभिव्यक्ति नहीं कर सकते विशेष नाद से विशिष्ट वर्णों की ही नियत अभिव्यक्ति होती है । जिस ध्वनि से गो शब्द अभिव्यक्त होता है उससे ही अश्व शब्द अभिव्यक्त नहीं हो सकता अत: विशिष्ट ध्वनि से ही विशिष्ट शब्द की अभिव्यक्ति रूप नियत नियम के कारण शब्द की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है ।[2] पूर्वपक्षियों के इस प्रश्न के उत्तर में भर्तृहरि के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि नियत नियम भी वस्तुओं की अभिव्यक्ति-कारण के रूप में स्वीकृत तथा अनुभवसिद्ध हैं। उदाहरण के रूप में चक्षु:-समवेत रूप को लिया जा सकता है । बाह्यरूप

1- देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्ट: कायवतामपि ।
देशभेदविकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयो: ।। वा०प० 1/96

2- अथापर: पूर्वपक्ष: - अभिव्यंजकनियमान्नाभिव्यज्यते शब्द: । इहाभिव्यङ्क्तव्यं नाभिव्यंजकं नियतमपेक्षते । घटादीनां हि मणिप्रदीपौषधिग्रहनक्षत्र: सर्वै: सर्वेषामभिव्यक्ति: क्रियते । नियतनादाभिव्यङ्ग्याश्चाभ्युगम्यन्ते शब्दा:, वर्णान्तराभिव्यक्तिहेतुभिनादैर्वर्णान्तराणामनभिव्यक्ते: । तस्मान्नाभिव्यज्यन्त इति । स्वो०वृ०,वा०प० 1/97·

की अभिव्यक्ति नियत रूप से नेत्रेन्द्रियसमवेत रूप के द्वारा ही होती है। इसके अतिरिक्त कोई भी दूसरा गुण, इन्द्रिय अथवा अन्य इन्द्रियगुण बाह्यार्थ की अभिव्यक्ति में हेतु नहीं होता। सजातीय इन्द्रियग्राह्य विषय में भी यह नियम देखा जाता है। तुल्येन्द्रियग्राह्य गन्धादि का प्रकाशकत्व लोक में प्रत्येक द्रव्य में नियत रूप से व्यवस्थित देखा जाता है। गन्धतैलिय जैसे द्रव्य द्रव्यविशेष से संयुक्त होकर गन्धविशेष की अभिव्यक्ति करते हैं अतः जिस प्रकार नियत नियम से इन वस्तुओं का प्रकाशन सम्भव होता है उसी प्रकार नाद से नियत रूप में शब्द की अभिव्यक्ति भी सम्भव है। इस प्रकार इन दोनों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव उपपन्न माना जाता है।[1]

तीसरे अभाववादी भी शब्द की अभिव्यक्ति को नहीं मानते। इनका मत है कि अभिव्यंजक के वृद्धि एवं ह्रास के आधार पर अभिव्यङ्ग्य वस्तु के वृद्धि एवं ह्रास की सम्भावना नहीं रहती। दीप के बढ़ने या घटने से तदभिव्यङ्ग्य में वृद्धि एवं ह्रास नहीं देखे जाते। अभिव्यंजक के संख्याभेद से अभिव्यङ्ग्य में संख्याभेद भी नहीं होता, जो घट एक दीपक से अभिव्यक्त होता है वही घट अनेक दीपकों से भी अभिव्यक्त होता है उसमें कोई संख्यादिकृत भेद नहीं होता, वह एक ही रहता है। किन्तु शब्द में यह बात नहीं है। ध्वनिकृत वृद्धि एवं ह्रास उसमें भी प्रतीत हुआ करते हैं, शब्दों की संख्या भी अभिघात भेद से बढ़ती घटती रहती है, एक अभिघात से एक शब्द अभिव्यक्त होता है तथा दो अभिघातों से दो शब्द, अतः जहाँ अभिव्यंजक के भेदादि से अभिव्यङ्ग्य नहीं प्रभावित होते वहाँ अभिव्यक्ति होती है नादकृत भेदादि

1- ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा नियता योग्यता यथा।
व्यङ्ग्यव्यंजकभावेन तथैव स्फोटनादयोः॥
सदृशग्रहणानां च गन्धादीनां प्रकाशकम्।
निमित्तं नियतं लोके प्रतिद्रव्यमवस्थितम्॥
वा०प० 1/97-98

से शब्द के प्रभावित होने के कारण इसकी अभिव्यक्ति अनुपपन्न मानी गयी है ।[1] भर्तृहरि ने इस आक्षेप का उत्तर भी अभाववादियों के तर्कों को असङ्गत मानते हुए दिया है । अभिव्यंजक के भेद का अभिव्यङ्ग्य पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । प्रकाश्य अर्थ प्रकाशक पदार्थों के भेदादि का अनुवर्तन करता हुआ देखा जाता है । निम्न अर्थात् गहरे शीशे में प्रतिबिम्ब उन्नत दिखायी देता है जबकि उन्नत शीशे में उससे भिन्न दिखाई देता है। इसी प्रकार खड्ग, तैल तथा जल आदि आश्रयों के भेद से भी वह अनेक प्रकार का दिखाई देता है बिम्ब तो एक और अभिन्न ही रहता है केवल अभिव्यंजक के भेदादि से उसमें भिन्नता प्रतीत होती है । स्फोट भी एक ही रहता है उसमें भेदादि अभिव्यजकों के कारण प्रतीत होते हैं ।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि नाद एवं स्फोट में व्यङ्ग्यव्यंजकभाव सिद्ध है, नाद से स्फोट शब्द की अभिव्यक्ति होती है जिससे अर्थ का बोध सम्भव हो पाता है ।

इन तीनों अभावादियों के पहले एक ऐसे सम्प्रदाय का भी भर्तृहरि के द्वारा उल्लेख किया गया है जो शब्द की अभिव्यक्ति तो स्वीकार करता था किन्तु जो भी अभिव्यङ्ग्य है उसको अनित्य मानकर शब्द की भी अनित्यता का प्रतिपादन करना चाहता था । इनका मन्तव्य था कि प्रदीपादि से अनित्य घटादि पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है, शब्द भी नाद से अभिव्यक्त होता है अतः वह भी अनित्य है तथा च यदि अभिव्यक्ति न मानेंगे तो उसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी तब तो अनित्यता और सुस्पष्ट

1- नाभिव्यज्यते शब्दः वृद्धिह्राससंख्याभेदेषु अभिव्यञ्जकानामभिव्यङ्ग्यस्य तद्धर्मसमन्वयात् । नह्यभिव्यञ्जकानां वृद्धिह्रासयोरभिव्यङ्ग्यानामर्थानां वृद्धिह्रासावुपलभ्येते । --- शब्दस्य त्वभिघातभेदे दृश्यते संख्यापरिमाणभेदः तस्मान्नाभिव्यज्यत इति । स्वो०वृ०,वा०प० 1/99

2- प्रकाशकानां भेदांश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते ।
तैलोदकादिभेदे तत्प्रत्यक्षं प्रतिबिम्बके ।। वा०प० 1/99

हो जाती है ।[1] किन्तु जिस प्रकार पूर्व विवेचित तीनों अभाववाद उथले एवं असङ्गत हैं उसी प्रकार इस विचारधारा की भी असङ्गति को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि जाति यद्यपि व्यक्तियों के द्वारा अभिव्यङ्ग्य है तथापि उसको नित्य ही माना जाता है अनित्य नहीं, अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि जो अभिव्यङ्ग्य है उसको अनित्य ही मानना चाहिए । इस प्रकार शब्द की अभिव्यङ्ग्यता में भी उसका नित्यत्व अक्षत रहता है ।[2]

अपने सिद्धान्त के प्रति पूर्वपक्षियों द्वारा किए गये आक्षेपों का समुचित समाधान प्रस्तुत करना किसी भी सिद्धान्त की दृढ़ता के लिए नितान्त आवश्यक माना गया है यही कारण है कि भर्तृहरि अभाववादियों को तर्कों से शान्त कर देना चाहते थे । आचार्य आनन्दवर्धन भी ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठापना के लिए प्रतीयमानार्थ के प्रति किए गये आक्षेपों का निराकरण करने में सावधान दिखाई देते हैं । कुछ विद्वान् मानते हैं कि आनन्दवर्धन द्वारा ध्वन्यभाववादियों के तीन विकल्पों के प्रतिपादन में भर्तृहरि द्वारा शब्दाभिव्यक्ति के विषय में तीन प्रकार के अभाववादों के व्याख्यान का प्रभाव है । दोनों सिद्धान्तों के अभाववादियों का साम्य इस दृष्टि से है कि दोनों ही अभिव्यंजना का अभाव प्रतिपादित करना चाहते हैं, हाँ मार्ग दोनों के भिन्न भिन्न हैं अतः पूर्वपक्षियों की धारणा को स्पष्ट करने में हो सकता है आनन्दवर्धन भर्तृहरि से प्रभावित हों किन्तु ध्वन्यभाववादियों के तर्कों को प्रस्तुत कर उनके खण्डन में उन्होंने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है ।

1- इहकेचिदभिव्यक्तिमेवानित्यत्वसमधिगमहेतुत्वेनापदिशन्ति । अनित्यः शब्दोऽभिव्यङ्ग्यत्वाद् घटवद् । इहानित्यानां घटादीनां प्रदीपादिभिरभिव्यक्तिर्दृष्टा, शब्दश्चायं ध्वनिभिरभिव्यज्यत इत्यभ्युपगम्यते, तस्मादनित्यः । अथ नाभिव्यज्यते प्राप्तमिदमुत्पद्यत इति । अतोऽप्य - नित्य एव । स्वो० वृ० वा० प० 1/95६

2- न चानित्येष्वभिव्यक्तिर्नियमेन व्यवस्थिता ।
आश्रयैरपि नित्यानां जातीनां व्यक्तिरिष्यते ।। वा०प० 1/95

स्फोटतत्त्व के प्रतिपादन की आवश्यकता -

वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त के सन्दर्भ में एक सीधा सा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर इन्हें स्फोट नामक तत्त्व को मानने की क्या आवश्यकता पड़ गयी ? स्पष्ट है "गौ:" का उच्चारण करते ही अर्थबोध हो जाता है, अर्थबोध में प्रयोजकत्वेन स्फोट नामक काल्पनिक तत्त्व का किसी को प्रत्यक्ष तो होता नहीं । वर्णों से ही अर्थबोध के हो जाने के कारण स्फोट की कल्पना करना गौरवदोषपराहत हैं । भगवान उपवर्ष[1] तथा कुमारिल भट्ट[2] आदि मीमांसकों का यही विचार है । उनके अनुसार वर्णों के अतिरिक्त पद आदि की कोई सत्ता नहीं है । वर्णों के द्वारा ही अर्थबोध सम्भव होने के कारण स्फोट को नहीं स्वीकार करना चाहिए । इनके मत में "गौ:" में गकार, उकार और विसर्जनीय के अतिरिक्त अन्य कोई भी वर्णग्राहक धर्म को मान्यता नहीं दी जा सकती और इसमें निभार्ग या अखण्ड जैसा कोई दर्शन भी नहीं माना जा सकता । स्फोटवादी यह मानता है कि क्रमश: गृह्यमाण ये वर्ण स्फोट को अभिव्यक्त करते हैं, अभिव्यक्त इस स्फोट से अर्थबोध होता है यही गौरव का बीज है ।

भर्तृहरि इस स्फोट विरोधीमत से सुपरिचित थे । उन्होंने इनके मत में विप्रतिपत्तियों का निर्देश कर उनको समाहित करने का प्रयास किया है । भर्तृहरि ने लिखा है कि जो भेदवादी आचार्य शब्द का नित्यत्व तो मानते हैं किन्तु "गौ:" में गकार, उकार तथा विसर्ग को पद मानकर उन उन वर्णों से भिन्न निभार्ग शब्दात्मा अर्थात् स्फोट स्वरूप को नहीं मानते उनके मत में पद का स्वरूप निर्धारित नहीं हो सकेगा क्योंकि क्रम से

1- "वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्ष: "। वर्णेभ्यश्च
अर्थप्रतीते: सम्भवात् स्फोटकल्पनानर्थिका ।
वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना स्फोटवादिनस्तु दृष्ट हानि: अदृष्टकल्पना
वर्णाश्च क्रमेण गृह्यमाणा: स्फोटं व्यञ्जयन्ति,स स्फोट: अर्थं व्यनक्ति इति ।
गरीयसी कल्पना स्यात् । शांकरभाष्य, ब्र०सू० 1/3/28 ~~वर्णेभ्यश्च~~

2- यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने ।
वर्णा: प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधका: ।। श्लोकवार्तिक

अभिव्यक्तिदशा में वर्णतुरीयांश की अभिव्यक्ति अव्यपदेश्य होती है । वर्णतुरीयांश की अव्यपदेश्यता उसकी सीमा के अनवधारित होने के कारण होती है । क्रमपक्ष में कौन ध्वनि अन्तिम है इसका कोई निर्धारक नहीं मिलता, इसीलिए शब्द के स्वरूप का ज्ञान भी नहीं हो पाता । यदि समस्त वर्णों की अभिव्यक्ति एक साथ मान ली जाय तब तो गवे, वेग, तेन, नते आदि शब्दों में श्रुति भेद नहीं माना जा सकता । भर्तृहरि ने इसका समाधान अर्थान्तर के आधार पर शब्दान्तर की कल्पना के द्वारा किया है । "अर्थभेदेन शब्दभेद:" यह सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है । अभिव्यञ्जक ध्वनिक्रम के आधार पर भेद की प्रतीति के लिए भर्तृहरि ने मण्डूकवसा आदि से प्रज्वलित दीप से रज्जु आदि में सर्प के ज्ञान का उदाहरण दिया है ।[1]

इस प्रकार यद्यपि भर्तृहरि ने स्फोट न मानने वालों के मत में विप्रतिपत्ति दिखायी है किन्तु शांकरभाष्य में स्फोट को बिना माने भी भर्तृहरि द्वारा प्रदर्शित विप्रतिपत्तियों का अन्य ढंग से समाधान प्रस्तुत किया गया है । वहाँ के विवेचन का अभिप्राय यह है कि वर्णों को ही पद मानने में जो विप्रतिपत्ति दिखायी गयी है कि जारा, राजा, कपि:, पिक: इत्यादि में पदविशेष अर्थात् पदभेद की प्रतीति नहीं हो सकेगी, क्योंकि एक में तथा दूसरे में वर्ण वही है, उनमें भेदक कोई तत्त्व नहीं है, इसका समाधान यों भी किया जा सकता है - जिस प्रकार क्रम से चलती हुई चींटियाँ द्रष्टा के मन में एक पंक्ति का स्वरूप स्पष्ट कर देती हैं उसी प्रकार वर्णों के अविशेष होने

1- येऽपि भेदवादिनो गौरिति गकारौकारविसर्जनीयमात्रमेव प्रतिपन्ना:, नान्यस्तद्व्यतिरिक्तो वर्णरूपग्रहणोपग्राह्यो निर्भाग: शब्दात्मा विद्यत इति मन्यन्ते नित्यत्वं च शब्दानामभ्युपगच्छन्ति तेषां क्रमेणाव्यपदेश्यवर्णतुरीयांशाभिव्यक्तौ स्वरूपानवधारणमविषयत्वं चान्त्यस्य व्यक्तरूपोपग्राहिण: परिच्छेदस्य प्रसज्यते । यौगपद्येन तु सर्वावयवाभिव्यक्तौ श्रुत्यविशेषप्रसङ्ग: गौ गवे इति च, वेग इति च, तेन इति च, ~~तेन इति च~~, न ते इति च । तत्र शब्दान्तरेऽर्थान्तरसम्बन्धिनि नैवायं दोष: । तस्मिन्नपि तु शब्दे अभिव्यञ्जकध्वनिक्रमकृता भेदेन प्रतिपत्ति: । स्वो० वृ० वा० प० 1/92

पर भी क्रमविशेष के आधार पर पदविशेष का अवधारण हो जाता है ।[1] अतः स्फोट को मानने की कष्टकल्पना नहीं करनी चाहिए ।

किन्तु स्फोट विरोधियों के तर्क स्फोट के समर्थक वैयाकरणों के सामने टिक नहीं पाते । वैयाकरण स्फोट का प्रतिपादन पूर्वपक्षियों के तर्कों के संदर्भ में करना चाहते हैं, शब्द से अर्थबोध के लिए स्फोटतत्त्व को आवश्यक मानने में इनका तर्क है कि वर्णों को उच्चरितप्रध्वंसी माना गया है, उच्चरित एक वर्ण क्षण भर रहकर दूसरे वर्ण के उच्चारण करने तक नष्ट हो गया रहता है । कोई भी व्यक्ति एक साथ कई ध्वनियों का उच्चारण नहीं कर सकता । उदाहरण के रूप में "गौः" पद को लिया जा सकता है । इसमें "ग्" "औ", तथा "विसर्ग" ये तीन ध्वनियाँ हैं इन तीनों ध्वनियों का किसी भी स्थिति में एक साथ उच्चारण सम्भव नहीं है । इनका क्रमशः ही उच्चारण हो सकता है पहले ग् का उच्चारण होगा तब औ का तदनन्तर विसर्ग का किन्तु ग् का उच्चारण करने के अनन्तर जब तक औ का उच्चारण किया जाता है तब तक वह ग् ध्वनि नष्ट हो चुकी रहती है, इसी प्रकार औ का उच्चारण करने के बाद विसर्ग का उच्चारण करते समय औ ध्वनि भी नष्ट हो जाती है, अन्त में केवल विसर्ग ध्वनि ही शेष रह जाती है ।[2] इस स्थिति में वर्णों के उच्चरितप्रध्वंसी होने के कारण वर्णसमुदाय पद नहीं बन सकता । पदों से ही अर्थप्रकाशन सम्भव होने के कारण पदों की अनुपपन्नता में अर्थप्रतीति

1- अत्राह यदि वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमाना: पदं स्युस्ततो जारा राजा कपि: पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात् । त एव वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति । अत्र वदामः - सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिका: पंक्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णा: पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति । शांकरभाष्य,ब्र०सू ।/3/28

2- एकैकवर्णवर्तिनी वाक् । न द्वौ वर्णौ युगपदुच्चारयति । तद्यथा गौरित्युक्ते यावद्गकारे वाक् प्रवर्तते, न तावदौकारे न विसर्जनीये । यावदौकारे न गकारे न विसर्जनीये । यावद् विसर्जनीये न गकारे नौकारे । उच्चरित- प्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम् उच्चरित: प्रध्वस्तश्च अथापर: प्रयुज्यते न वर्णो वर्णस्य सहाय: । म०भा० 6/3/59

अनुपपन्न ही है । वर्णों की पदरूपता के बिना वर्णों से ही अर्थप्रत्यायन सम्भव नहीं माना जा सकता अन्यथा किसी शब्द का अभिप्रेत अर्थ न होकर तद्भिन्न अर्थ आपतित होने लगेगा । "कुमार" के उच्चारण से कुत्सित कामदेव अर्थ की प्रतीति होने लगेगी जो कि वक्ता को अभीष्ट नहीं है । वक्ता का इस शब्द से विवक्षित अर्थ है - बालक, उसकी प्रतीति तभी सम्भव है जब वर्णों से अभिव्यक्त किसी ऐसे तत्त्व को स्वीकार किया जाय जो स्थायी हो तथा अर्थ की बोधकता से समन्वित हो । पदरूपावधारण ही इन स्थलों में अर्थ का बोध कराने में समर्थ हो सकता है ।[1] वर्णों के विषय में स्पष्ट धारणा है कि उनका क्रमश: एक एक का उच्चारण होता है अत: वे परस्पर असम्बद्ध रहते हैं । एक आविर्भूत होता है तो दूसरा तिरोभूत, जिससे उनमें पदरूपता की सम्भावना नहीं रह जाती, वे अपदस्वरूप ही होते हैं ।[2]

इस संदर्भ में वर्णों से ही अर्थबोध स्वीकार करने वाले वर्णवादी आचार्य यह दलील दे सकते हैं कि क्रमानुरोधी वर्णों का समुदाय ही शब्दबुद्धि का प्रादुर्भाव कर अर्थ का प्रत्यायन करने में समर्थ हो सकता है । किन्तु उनका यह कहना तो इसीलिए अनुचित है कि जो क्षण-स्थायी है, उच्चरित-प्रध्वंसी हैं उनका समुदाय कैसा ? पद में आये हुए सम्पूर्ण वर्णों के उच्चारण को समानकालिक मानकर आप उनमें समुदायत्व उपपन्न नहीं कर सकते, क्योंकि वर्णों का समानकालिक उच्चारण अनुभव विरुद्ध है । इस स्थिति में अर्थप्रतीत्य-भावापत्ति दुर्निवार है । पूर्वपक्षी अर्थात् वर्णवादी यह भी तर्क प्रस्तुत करता है कि पूर्वोच्चरितप्रध्वस्त वर्णों का बुद्धि में संस्कार मानकर पूर्वपूर्ववर्णों के संस्कार

1- अर्थस्याधिगमो नर्ते पदरूपावधारणात् । स्फो० सि० -26 तथा
गोपालिका टीका पृ०-186

2- वर्णा एकसमयासम्भवित्वात् परस्परं निरनुग्रहात्मान: ते पदमसंस्पृश्यान-पस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते । योगभाष्य,
मो० सू० 3/17

से सहकृत अन्तिम वर्ण में समुदायत्व की उपपत्ति की जा सकती है फलतः उस वर्णसमुदाय से अर्थबोध सम्भव है । स्फोटवादी इनके मत को असङ्गत बताने के लिए संस्कार शब्द पर आक्षेप करता है । संस्कार शब्द के दो अर्थ होते हैं एक है - प्राचीन अनुभवों के अवशिष्ट "स्मृतिबीज", अथवा दूसरा है - प्रोक्षणादि के द्वारा यज्ञादि में किया गया ब्रीह्यादि का संस्कार ।[1] यह दूसरे प्रकार का संस्कार तो यहाँ अनुपयुक्त है । प्रथम प्रकार के स्मृतिबीज को यदि संस्कार माना जायेगा तो स्मृति स्वतः वस्तुविशेष न होकर एक वासना है, यह वासना आत्मा की शक्ति है तब तो यह स्पष्ट ही है कि अर्थ का बोध आत्मा की शक्ति वासना के द्वारा हो रहा है संस्कार के द्वारा नहीं । स्फोटवादी के अनुसार उक्त प्रकार से संस्कार के सहयोग से समुदायत्व की उपपत्ति कर उससे अर्थबोध स्वीकार करने पर एक आपत्ति यह भी है कि "नदी" "दीन" इन दोनों पदों से एक ही रूप का अर्थबोध होने लगेगा । कोई ऐसा नियामक नहीं है जो दोनों को पृथक बताकर दोनों से विवक्षित पृथक अर्थों की प्रतीति करा दे, वर्ण संघात दोनों में एकरूप है वह एक रूप के ही अर्थ का प्रतिपादन करेगा इसी प्रकार "गवै" "वैग", "सर","रस","जरा" राज इत्यादि तमाम उदाहरण हैं जो अव्यवस्था के शिकार होंगे । इस पर वर्णवादी यह तर्क दे सकते हैं कि नदी दीन आदि पदों में वर्णों का क्रमभेद स्पष्ट प्रतीत हो रहा है नदी में न् अ द् ई हैं जबकि दीन में द् ई न् अ हैं अतः इसी क्रम भेद के आधार पर दोनों की एकार्थवाचकता रूप अव्यवस्था का निराकरण हो जाने से दोनों से पृथक पृथक अर्थबोध सम्भव है । जैसा कि इस पूर्वपक्ष को पीछे स्पष्ट किया जा चुका है उसका भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित प्रतिविधान भी वहाँ उपात्त है किन्तु वैयाकरण इस तर्क का खण्डन इस रूप में करते हैं कि समुदायबुद्धि में समुदायस्थ वर्णों के क्रमभेद से

1- कोनु खल्वयं संस्कारोऽभिमत आयुष्मतः - किं स्मृतिबीजं, अन्यो वा प्रोक्षणादिभ्य इव ब्रीह्यादेः । तत्त्वबिन्दु पृ0-25

भी भेद निर्धारित नहीं किया जा सकता ।[1] जैसे वृक्षों के समुदायरूप वन को जिस कोने से देखा जाय एक ही प्रकार का उसका स्वरूप अभिव्यक्त होगा, तन्तुसमुदायरूप पट को भी किसी तरफ से देखने पर उसका एक ही स्वरूप समझ में आता है उसी प्रकार सजातीय वर्णों के संघात वाले शब्दों में एकस्वरूपात्मिका बुद्धि का ही उदय होगा अत: व्यवस्थित अर्थबोध की प्रक्रिया वर्णों के समुदाय से सम्भव नहीं मानी जा सकती ।[2] यह भी नहीं कहा जा सकता कि पृथक् पृथक् वर्णों से एक ही वर्णश्रवण के अनन्तर पदार्थ की प्रतीति सम्भव हो जायेगी । "गौ:" में गकार के उच्चारण से ही गोत्व पदार्थ की प्रतीति मान लेने पर औकार तथा विसर्जनीय की आवश्यकता ही क्या रह जाती है, अर्थात् एक वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्णों का उच्चारण अनर्थक है । किन्तु यह कल्पना अनुभवविरुद्ध है । गकार औकार तथा विसर्ग तीनों के सम्मिलित उच्चारण करने के अनन्तर ही गोत्वरूप ~~पदार्थ की~~ पदार्थ की प्रतीति होती है, केवल ग् वर्ण के उच्चारण से नहीं । अत: न तो संहत वर्णों से अर्थप्रतीति सम्भव है न ही असंहत एक एक वर्ण से ।

इस स्थिति में वैयाकरण स्फोट नामक तत्त्व की कल्पना करके अर्थ की प्रतीति उपपादित करते हैं । इनका सिद्धान्त है कि उच्चार्यमाण ध्वनियों से स्फोटतत्त्व अभिव्यक्त होता है,अभिव्यक्त इसी स्फोट से अर्थ का प्रकाशन होता है ।

नित्यत्व तथा अनित्यत्व की दृष्टि से स्फोट का विवेचन -

शब्दशास्त्रियों ने इस संदर्भ में शब्द के नित्यत्व तथा अनित्यत्व दोनों पक्षों पर विचार किया है । नित्यत्व की दृष्टि से इनकी धारणा स्पष्ट है कि स्फोट क्रमभेद, कालभेद आदि से रहित, अखण्ड निरवयव तथा नित्य है। यह नित्यत:

1- भिन्नक्रमेऽपि विज्ञाने समूहिषु न भेदवान् ।
समूह: पदरूपं तु स्पष्टभेदं प्रतीयते ।। स्फोटसिद्धि-27

2- स्फोटसिद्धि पृ0 191-192

उसी प्रकार बुद्धि में स्थित रहता है जैसे अरणि नामक काष्ठ में अनभिव्यक्त रूप में नित्यत: आग विद्यमान रहती है ।[1] इनके मत में विभिन्न ध्वनियों का उपयोग यही है कि वे उस अन्त:स्थित निर्विभाग शब्दरूप स्फोट को अभिव्यक्त कर अर्थप्रत्यायन के योग्य बना देती हैं ।[2] इन ध्वनियों को अर्थप्रत्यय में कारण उसी प्रकार नहीं माना जा सकता जिस प्रकार इन्द्रियों को इन्द्रिय-विषयों का । इस प्रकार ध्वनि एवं स्फोट में व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव रूप सम्बन्ध ही मानना पड़ता है ।[3] वस्तुत: ध्वनि का स्फोट कारण हो सकता है क्योंकि वह तो समस्त तत्त्वों का मूल कारण है किन्तु ध्वनि किसी भी स्थिति में स्फोट तत्त्व का कारण नहीं बन सकती, वह केवल स्फोट की अभिव्यक्ति में सहायकमात्र है ।

वैयाकरणों द्वारा स्फोट से अर्थबोध स्वीकार करने पर भी एक यह समस्या तदवस्थ ही है कि वर्णों के उच्चरितप्रध्वंसी होने के कारण क्षणस्थायी वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति कैसे सम्भव हो सकती है ? इसका समाधान वैयाकरणों ने इस प्रकार किया है-'गो' शब्द में प्रथमवर्ण के ज्ञान या धारण से कुछ कुछ अभिव्यक्त तथा अन्तिमवर्णबुद्धि से नि:शेषत: गृहीत गोपदस्फोट गोत्वपदार्थ की प्रतीति करा देता है । "गो" का उच्चारण करने पर प्रथम वर्ण ग् का संस्कार उत्तरोत्तर औ तथा विसर्ग वर्णों में संक्रान्त होता हुआ अन्तिम वर्ण विसर्ग के उच्चारण करने पर गो पद स्फोट रूप से अभिव्यक्त होता है । एक अथवा दो वर्णों के ज्ञान से ही स्फोट का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता अपितु सम्पूर्ण ध्वनियों से अभिव्यक्त स्फोट ही अर्थ का प्रत्यायन करने में समर्थ होता है । गकार का उच्चारण करने

1- अरणिस्थं यथा ज्योति: प्रकाशान्तरकारणम् ।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थ: श्रुतीनां कारणम् पृथक् ।। वा० प० 1/46

2- (क) यदन्त: शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितं । वही 2/30

(ख) इदानीमन्तरेवानवयवं बोधस्वभावं शब्दार्थमयं निर्विभागं शब्दतत्त्वमिति यद्गीतं तदेव नादैर्बहि: प्रकाशितं वाक्यमाहुराचार्या: । वही पुण्यराज ।

3- वाक्यपदीय 1/97

पर ही यद्यपि स्फोट कुछ कुछ अभिव्यक्त हो जाता है किन्तु जब तक सम्पूर्ण ध्वनियों का उच्चारण नहीं हो जाता तब तक वह ईषदभिव्यक्त होने पर भी अर्थ का प्रत्यायन नहीं करता । इससे यह प्रश्न भी समाहित हो जाता है कि गौपदात्मक स्फोट की अभिव्यक्ति ग् औ तथा विसर्ग ये तीनों ध्वनियाँ मिलकर करायेंगी या अलग अलग । प्रश्नकर्ता का आशय यह है कि तीनों ध्वनियों का यौगपद्येन उच्चारण न हो सकने के कारण तथा उच्चरितप्रध्वंसी होने के कारण उनके समुदायत्व की अनुपपत्ति में इन ध्वनियों से मिलकर स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं मानी जा सकती ? तथा यदि एक ही ध्वनि से स्फोट की अभिव्यञ्जना मानी जाय तब तो शेष ध्वनियों का उच्चारण ही निरर्थक हो जायेगा ? इस प्रश्न का समाधान स्फोटवादी यही कहकर प्रस्तुत करते हैं कि पूर्वपूर्व ध्वनियों का संस्कार उत्तरोत्तर ध्वनियों में पड़ता जाता है तथा अन्तिम ध्वनि में वह संगृहीत रूप में स्थित हो जाता तब पूर्ववर्ती ध्वनियों के संस्कार से युक्त अन्तिम ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है । प्रथमादि ध्वनियों के सहयोग से ही अन्तिम ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति हो पाती है ।[1] भर्तृहरि ने इसका सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है कि किसी श्लोक या मन्त्र को कण्ठस्थ करने के लिए कोई व्यक्ति अनेक आवृत्तियाँ करता है, प्रथम आवृत्ति में उसको श्लोकादि का स्वरूप थोड़ा थोड़ा स्पष्ट होने लगता है, प्रत्येक आवृत्ति में और स्पष्ट होता चलता है तथा चरमावृत्ति में उसको उसका सम्पूर्ण स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ठीक इसी प्रकार स्फोट की स्थिति है । पूर्व पूर्व ध्वनियों से क्रमशः अभिव्यक्त होता हुआ अन्तिम ध्वनि से वह पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हो जाता है तथा अर्थका समुचित बोध करा देता है ।[2]

1- नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ।। वा० प० 1/84

2 (क) यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति ।
आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते ।
प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते । वही

(ख) एके तावदाचक्षते - प्रथमवर्णश्रवणवेलायां स्फोटोऽभिव्यक्तो भवति न च द्वितीयादिवर्णवैफल्यं तदवगतेरेवातिशयकरणाद् यथा रत्नपरीक्षकाणां प्रथमदर्शने रत्नरूपमलंप्रकाशमानमपि पुनः पुनः परीक्ष्यमाणानां चरमे चकास्ति निरवद्यं रत्नतत्त्वं एवमिहापि प्रथमवर्णश्रुत्या व्यक्तेऽपि

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैयाकरण ध्वनि से अभिव्यङ्ग्य स्फोट से अर्थ की प्रतीति स्वीकार करते है, इनके अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से स्फोट अखण्ड, नित्य तथा अक्रम है ।

महाभाष्यकार तथा भर्तृहरि आदि वैयाकरण जिस प्रकार शब्द के नित्यत्व एवं अनित्यत्व दोनों को व्यवस्थित मानकर व्याकरण की उपयोगिता एवं शब्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं तथा शब्द के एकत्व तथा अनेकत्व की दृष्टि से उसके अर्थप्रतिपादकता आदि का विचार करते हैं उसी प्रकार स्फोट की भी नित्यता एवं अनित्यता के आधार पर उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं । शब्द को व्यावहारिक दृष्टि से अनित्य तथा पारमार्थिक दृष्टि से सर्वव्यवहारकारण, संहृतक्रम तथा सर्वशक्तिमान् आदि रूप में नित्य माना गया है ।

शब्द को कार्य अर्थात् उत्पाद्य होने के कारण अनित्य माना जाता है, जो भी कार्य है वह अनित्य है । इस दृष्टि से स्फोट को भी आचार्य अनित्य मानते हैं । पतञ्जलि ने महाभाष्य में स्फोट के अनित्य स्वरूप का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है । स्फोट एवं ध्वनि दोनों शब्द के धर्म हैं । इन्होंने 'र' ध्वनि के स्थान पर 'ल' ध्वनि को स्फोट मात्र कहा है ।[1] इनके तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि के द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि यहाँ स्फोट से या तो उसका ध्वनिहीन स्वरूप विवक्षित है अथवा आद्य ध्वनि या फिर रूपमात्र का प्रत्यायक ध्वनि ही विवक्षित है । द्वितीय तथा तृतीय विकल्प इसलिए मानने पड़ते हैं कि ध्वनि के बिना स्फोट की उपलब्धि ही नहीं हो सकती । यहाँ जो ध्वनि विशेष का प्रतिपादक है समुदायस्थ है और स्वतन्त्र है वह विवक्षित नहीं है, अपितु रश्रुति एवं ल श्रुति में ईषत् साम्य विवक्षित है । अथवा कार्यपक्ष अर्थात् अनित्यपक्ष को मानकर उक्त वाक्य भाष्यकार द्वारा कहा गया है । कार्यपक्ष में संयोग से, विभागसेअथवा संयोग विभाग दोनों से जो निष्पन्न

1- अथवा उभयत: स्फोटमात्रं निर्दिश्यते-रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति ।
ऋलृक् (शिवसूत्र) पर महाभाष्य

होता है वह स्फोट है । इस कार्यस्फोट का निष्पादक करणव्यापार है । अथवा यहाँ उपात्त स्फोट मात्र शब्द से आकृति अर्थात् जाति अभिप्रेत है। कैयट भी स्फोट मात्र का अर्थ जातिस्फोट करते हैं,[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि पतञ्जलि के उक्तवाक्य में स्फोट की नित्यता एवं अनित्यता दोनों का प्रतिपादन किया गया है । भर्तृहरि जहाँ महाभाष्य के टीकाकार के रूप में स्फोट की अनित्यता का समर्थन करते हैं वहीं एक स्वतन्त्र विचारक के रूप में भी स्फोट को अनित्य मानकर उसका स्वरूप स्पष्ट करते हैं । कण्ठतालु आदि के संयोग से प्रथमतः जो उत्पन्न होने वाला शब्द है उसे स्फोट कहते हैं । तथा इस स्फोट रूप शब्द से उत्पन्न होने वाले शब्दों को ध्वनि कहा जाता है ।[3] अभिप्राय यह है कि स्थान, करण आदि के द्वारा प्रथमतः निर्वृत्त होने वाला स्फोट अनित्य माना गया है तथा संयोगज एवं विभागज ध्वनियों से अभिव्यङ्ग्य स्फोट नित्य । भर्तृहरि ने यह भी स्पष्ट किया है कि ध्वनि से संसृष्ट रूप में ही स्फोट की उपलब्धि होती है । ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं - प्राकृत तथा वैकृत । इनके अनुसार प्राकृत वह ध्वनि है जो करण-संघात से उत्पन्न होती है तथा करणसंघात से उत्पन्न ध्वनि से भी उत्पन्न होती है अतः इसके दो रूप हैं । इन दोनों रूपों से शब्दस्वरूप की उपलब्धि होती है । वैकृत ध्वनि शब्दज अर्थात् शब्दध्वनि से उत्पन्न होती है, यह ध्वनि शब्द स्वरूप की उपलब्धि कराने में असमर्थ होती है ।[4]

1- अध्वनिकः स्फोट इत्युक्तं भवति । ननु च ध्वनिमन्तरेण स्फोटस्योपलब्धिरेव नास्ति । एवं तर्हि य एवासौ आद्योध्वनिः रूपमात्रस्य प्रतिपादकस्तावानेवाश्रीयते । यस्त्वसौ विशेषस्य प्रतिपादकः यः समुदायस्थो यः स्वतन्त्र इति नासावाश्रीयते । विद्यमानेऽपि तत्राविशेषे आरूपमात्रं------। अथवा कार्यवत् बुद्धिंकृत्वा इदमुच्यते । तत्र कार्यपक्षे स्फोट एव संयोगात् विभागात् संयोगविभागाभ्यां वा निष्पद्यते । यत्त्वनुरणनं तत् शब्दत एव, तेन य एवासौ स्फोटस्य निष्पादकः करणस्य व्यापारस्तावत एवाश्रयणम् । अथवा स्फोटमात्रमिति आकृतिनिर्देशोऽयमित्युक्तं भवति । महाभाष्य दीपिका पृ0-76

2- स्फोटमात्रमिति जातिस्फोट इत्यर्थः । प्रदीप, महाभाष्य (प्रथम)

3- यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दाध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः । वा0प0 1/102

4- यः करणसंन्निपातादुत्पद्यते यश्च तस्मात् तौ प्राकृतौ । ताभ्यां विशेषोपलब्धिः । यस्तु ध्वनितोध्वनिरुत्पद्यते स वैकृतः । ततो विशेषाभावात् । महाभाष्य दीपिका पृ0-49

प्राकृत ध्वनि के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । अतः प्राकृत ध्वनि का काल स्फोट में लक्षणावृत्ति के द्वारा आरोपित मान लिया जाता है । शब्द का प्राकृत ध्वनि से सम्बन्ध करने पर उस ध्वनि के ह्रस्व दीर्घ प्लुत आदि गुण शब्द में प्रतीत होने लगते हैं इसी कारण शब्द में व्यवहार्यता आ जाती है ।

वैयाकरण व्यावहारिक दृष्टि से वर्ण, पदादि अनेक प्रकार के स्फोटों की कल्पना करते हैं । शास्त्रप्रक्रियानिर्वाह के लिए जिस प्रकार अखण्ड निरवयव शब्द में प्रकृति प्रत्ययादि की कल्पना की जाती है उसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार के लिए वर्णपदादि स्फोट की कल्पना की जाती है । वस्तुतः वाक्यस्फोट अखण्ड तथा निरवयव है । पद, वर्ण आदि का विभाग अज्ञ व्यक्तियों के बोध के लिए प्रतिपादित किया गया है ।[1] प्रत्येक वर्ण अलग-अलग जिस प्रकार पदार्थ का बोध कराने में समर्थ नहीं होते उसी प्रकार वाक्यार्थ का बोध कराने में प्रत्येक पद समर्थ नहीं हो सकते ।

इस प्रकार वैयाकरणों के मत से स्फोट एवं नाद में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव उपपन्न हो जाता है । यही व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव ध्वनिसिद्धान्त का मूलतः प्रेरणास्रोत है । स्फोटवाद में ध्वनि सिद्धान्त के लिए पर्याप्त आधार विद्यमान हैं । वैयाकरणों के सम्पूर्ण स्फोट विषयक विवेचन में निष्कर्षतः यह सुस्पष्ट हो जाता है कि शब्द से अर्थप्रत्यायन के लिए शब्दस्फोट को आवश्यक रूप से मानना पड़ता है, यह शब्दतत्त्व क्रमरहित, निरवयव, निरंश तथा अविभाग है । यह नित्यरूप से बुद्धि में स्थित रहता है । इस बुद्धिस्थ स्फोट की अभिव्यक्ति उच्चरित ध्वनियों से होती है अतः ध्वनियाँ व्यंजक हैं तथा स्फोट व्यङ्ग्य है । कार्यस्फोट को मानने वालों की दृष्टि से संयोगज अथवा

1- तस्मान्मन्यामहे पदानि असत्यानि एकमभिन्नस्वभावकं वाक्यम् ।
तदबुधबोधनाय पदविभागः कल्पितः । पुण्यराज, वा०प० 2/10·

विभागज प्रथमतः उत्पन्न शब्दों को ही स्फोट कहा गया है तथा उन शब्दों से उत्पन्न शब्दों को ध्वनि माना गया है । वैयाकरणों ने ध्वनि के दो रूप प्रतिपादित किए हैं, पहली ध्वनि है प्राकृत तथा दूसरी - वैकृत । प्राकृत ध्वनि ही स्फोट की अभिव्यक्ति करती है इसके धर्म स्फोट में इसीलिए आरोपित भी किए जाते हैं । वैकृत ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति में कोई प्रभाव नहीं पड़ता यह द्रुत विलम्बित आदि वृत्तिभेद की जनक मात्र है ।

वैयाकरणों के विवेचन से ध्वनिसिद्धान्त की उपपत्ति :

ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा में आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों के विचारों का भरपूर लाभ उठाया है । ध्वनि शब्द इन्हें वैयाकरणों से ही प्राप्त हुआ था । ध्वनि का लक्षण करते हुए आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जब अर्थ अपने आपको तथा शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमानार्थ को अभिव्यक्त करते हैं तब वह काव्यविशेष विद्वानों के द्वारा ध्वनि कहा जाता है । ध्वनि शब्द का यह व्यवहार निर्मूल नहीं है, विद्वानों के द्वारा इसका प्रयोग किया गया था । समस्त विद्याओं का मूल होने के कारण वैयाकरणों को ही प्रधान विद्वान् माना जाता है, इन्होंने स्पष्ट रूप से श्रूयमाण वर्णों के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है । अतः इन्हीं विद्वानों को आधार बनाकर इस ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तन किया जा रहा है ।[1] आनन्दवर्धन ने

1- यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।
"सूरिभिः" कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः न तु यथा कथंचित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते । प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति ।
ध्व०लो० 1/13 तथा वृत्ति ।

अन्यत्र भी कहा है-परिनिश्चित निरपभ्रंश शब्दब्रह्म को स्वीकार करने वाले वैयाकरण विद्वानों के मत का आश्रय लेकर ही यह ध्वनि व्यवहार प्रवृत्त हुआ है ।[1] ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने भी स्वीकार किया है कि भाष्यकार पतञ्जलि आदि विद्वान् वैयाकरणों के द्वारा प्रधानीभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द की "ध्वनि" संज्ञा की गई है । इन्हीं वैयाकरणों के मत का अनुसरण कर आनन्दवर्धन आदि आलङ्कारिक आचार्यों ने, तिरस्कृत कर दिया है मुख्यार्थ को जिसने ऐसे व्यङ्ग्य के अभिव्यञ्जन में शब्दार्थयुगल के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया गया है ।[2]

ध्वनिवादी आचार्य ध्वनि शब्द की पाँच प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, इस शब्द की व्याख्या के आधार पर इसके पांच प्रकार के अर्थों को भी स्वीकार किया गया है ।

1,2- "ध्वनति इति ध्वनि:" इस विग्रह के आधार पर प्रतीयमानार्थ का द्योतन करने के कारण व्यंजक शब्द एवं व्यंजक अर्थ दोनों को ध्वनि कहा गया है ।

3- "ध्वन्यते इति ध्वनि:" इस विग्रह के आधार पर वस्तु, अलङ्कार एवं रस रूप त्रिविध व्यङ्ग्य अर्थ को ध्वनि संज्ञा दी गयी है । प्रतीयमानार्थ को ये आचार्य वस्तु अलङ्कार एवं रसरूप का मानते हैं, अत: कहीं वस्तु ध्वनि होती है, कहीं अलङ्कार- ध्वनि तथा कहीं रस-ध्वनि ।

1- परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार: । ध्व०लो०पृ० 48।·

2- बुधैर्वैयाकरणै: प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार: कृत: । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्य-व्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।

का०प्र० पृ० 19·

ध्वनि शब्द का व्यवहार किया गया है । व्यङ्ग्य अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग दोनों जगह अनुरणनरूपता के आधार पर उचित माना गया है ।[1]

काव्य में अनुरणन रूप व्यङ्ग्य को ध्वनि मानने पर यद्यपि यह समस्या उत्पन्न होती है कि केवल वस्तु तथा अलङ्कार रूप व्यङ्ग्यार्थ अनुरणन रूप होने के कारण ध्वनि कहे जा सकेंगे, रसरूप व्यङ्ग्यार्थ नहीं, क्योंकि रस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होता है । अत: उसकी अनुरणन रूपता अनुपपन्न है, किन्तु इस समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत करते हुए लोचनकार ने माना है कि उपलक्षण से रसादि-ध्वनि का भी ग्रहण किया जाता है ।

वैयाकरणों ने स्फोट के व्यंजक गकार, औकार तथा विसर्जनीय वर्णों को जो ध्वनि कहा है उस आधार पर काव्यशास्त्रियों ने व्यंजक शब्द तथा व्यंजक अर्थ के लिए जो ध्वनि शब्द का व्यवहार किया है उसका उपपादन करते हुए अभिनवगुप्त स्वीकार करते हैं कि व्याकरणसम्प्रदाय में स्पष्ट रूप से स्फोट के व्यंजक उच्चरित वर्णों को नाद या ध्वनि माना गया है, इसी आधार पर चूंकि काव्य में व्यंजक शब्दों से तथा व्यंजक अर्थों से प्रतीयमानार्थ की अभिव्यक्ति होती है अत: व्यंजक होने के कारण शब्द एवं अर्थ के लिए काव्यशास्त्री ध्वनि शब्द का प्रयोग करते हैं । [2]

1- एवं घण्टानिर्ह्रादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थोध्वनिरिति व्यवहृत: । ध्वन्या० लोचन पृ० 139.

2- तथा श्रूयमाणा: ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ता: । यथाह भगवान् स {भर्तृहरि:} एव-
प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ।। 1/84
तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ । ध्व०ला०लोचनपृ०139-140.

अलङ्कारशास्त्र में जिस व्यापार के द्वारा अर्थ ध्वनित होता है उस व्यापार को ध्वनि कहा गया है इस धारणा का मूल व्याकरण शास्त्र में इस रूप में देखा जा सकता है -

वैयाकरण प्राकृत तथा वैकृत दो प्रकार की ध्वनि मानते हैं। प्राकृत ध्वनि स्फोट की अभिव्यक्ति की हेतु है, इसी से स्फोट का ग्रहण सम्भव हो पाता है तथा वैकृत ध्वनि स्थितिभेद अर्थात् द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियों की हेतु है ।[1] कोई व्यक्ति "गौः" पद का उच्चारण शीघ्रता से करता है तो कोई विलम्ब से । बालक, वृद्ध आदि के उच्चारण में द्रुत विलम्बित आदि रूप का स्पष्ट भेद दिखाई पड़ता है । एक व्यक्ति ही किसी वाक्य को स्थिति विशेष में शीघ्रता से बोलता है, किन्तु चिन्तन में वही मध्यम गति को अपनाता है तथा शिष्यों के उपदेश के समय विलम्बित वृत्ति का आश्रय लेता है ।[2] इस प्रकार यद्यपि उच्चारणकाल में वैकृतध्वनिकृत भेद सुस्पष्ट है तथापि द्रुतादि किसी भी अवस्था में एक ही वाक्यस्फोट की अभिव्यक्ति होती है । स्फोट की अभिव्यक्ति में वैकृत ध्वनि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि स्फोट कालकृत-परिच्छेद से शून्य है । कालकृत भेद वैकृत ध्वनि के कारण होता है, वैकृत ध्वनि का स्फोट की अभिव्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्फोट की अभिव्यक्ति तो प्राकृत ध्वनि से होती है । स्फोट में इसी ध्वनि के धर्मों को आरोपित माना जाता है, इससे स्फोट की एक रूप में अभिव्यक्ति हो जाती है । प्राकृत ध्वनि से स्फोट के अभिव्यक्त हो जाने के कारण इस ध्वनि के अनन्तर प्रवृत्त होने वाली वैकृत ध्वनि से द्रुत

1- स्फोटस्य ग्रहणेहेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।
स्थितिभेदनिमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ।। संग्रह {व्याड्कृत}

2- अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिमध्या वै चिन्तने स्मृता ।
शिष्याणामुपदेशार्थे वृत्तिरिष्टा विलम्बिता ।। वा० में उद्धृत

विलम्बितादि रूप में स्फोट का भेद नहीं किया जा सकता ।[1] जिस प्रकार दीपक की प्रारम्भिक ज्योति घटादि पदार्थों की अभिव्यक्ति कर देती है तथा उसके बाद की दीप-प्रभाओं से घटाभिव्यक्ति में कोई प्रभाव नहीं पड़ता, घटाभिव्यक्ति हो जाने के कारण मात्र वह अभ्यधिक व्यापार है उसी प्रकार प्राकृतध्वनि से स्फोटाभिव्यक्ति हो जाने के कारण अनुवर्तमान वैकृतध्वनि अभ्यधिकव्यापार मात्र है।

इस स्थिति में वैयाकरण जिस प्रकार वक्ता के द्रुतादात्मक शब्दोच्चारण रूप वैकृत ध्वनि को अभ्यधिकव्यापार होने के कारण "ध्वनि" संज्ञा से अभिहित करते हैं उसी प्रकार काव्यशास्त्री अभिधादतिरिक्त व्यञ्जनाव्यापार को ध्वनि कहते ~~कहा~~ हैं । अभिधा लक्षणा एवं तात्पर्य ये व्यापार अर्थबोध के लिए प्रसिद्ध थे इनसे अतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार को वैकृत ध्वनि को ध्वनि कहने के समान ध्वनि कहा गया है ।[2] केवल व्यंजना व्यापार ही वैकृत ध्वनि की तरह अभ्यधिकव्यापार है । लक्षणा एवं तात्पर्य को अभिधा की ही कोटि में इसलिए रखा गया है कि ये वाक्यार्थबोध में आवश्यक हैं । ये प्राकृत ध्वनिस्थानीय हैं, इन्हें ध्वनि नहीं कहा जा सकता । काव्यशास्त्री ध्वनि उसी को मानते हैं जो वैकृत ध्वनि के समान अभ्यधिक व्यापार रूप हो । इस दृष्टि से व्यंजनाव्यापार अभ्यधिकव्यापार है अतः उसकी ध्वनि संज्ञा उचित है।

इस प्रकार व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ तथा व्यंजना व्यापार इन चारों के ध्वनित्वेन व्यपदेश के कारण इनका जिस काव्य में उपादान किया गया रहता है उस काव्य को भी ध्वनि कहा जा सकता है ।

1- क- शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ।। वा0प0 1/77

ख- तदभिव्यक्त्यनन्तरं जायमानेन चिरकालेन वैकृतध्वनिना तस्य चिरकालमुपलब्धावपि स्फोटे कालभेदाभावात् । वै0सि0ल0म0पृ0 99·

2- तेषु (वर्णेषु) तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुत विलम्बितादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः।---
अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः । लोचन पृ0 140-।

इस समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्याकरणशास्त्र के आचार्यों ने व्यङ्ग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध का उपपादन कर जो स्फोट की अभिव्यंजना का प्रतिपादन किया मात्र वही ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तन में प्रेरणास्रोत नहीं था, अपितु उन्होंने ध्वनिवादियों के पूर्व ही ध्वनि के समस्त सूक्ष्म स्वरूपों का सुस्पष्ट प्रतिपादन कर इनको ध्वनिसिद्धान्त के विस्तृत विवेचन में समुचित आधार प्रदान किया था।[1]

भर्तृहरि आदि वैयाकरण आचार्यों ने जहाँ स्वाभिमत स्फोट-सिद्धान्त की व्याख्या में ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट किया है वहीं ध्वनि-सिद्धान्त के आधार प्रतीयमान शब्द की भी चर्चा की है। यद्यपि आचार्यों ने अनेकत्र प्रत्यायन[2] प्रकाशन आदि शब्दों का वाचकत्व अर्थ में सुस्पष्ट प्रयोग किया है, जबकि ध्वनिवादी प्रत्यायन, प्रकाशन, ध्वनन, द्योतन आदि को पर्याय मानकर उनको वाचकत्वातिरिक्त अभिव्यंजन रूप विशिष्टार्थक स्वीकार करते हैं तथापि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में प्रतीयमान शब्द का अभिधायकत्व अर्थ से भिन्न उसी अर्थ में प्रयोग किया है जिस अर्थ में आगे चलकर आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिष्ठापना के संदर्भ में किया। भर्तृहरि के द्वारा "कथं प्रतीयमानः स्याच्छब्दोऽर्थस्याधायकः"[3] कहकर यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रतीयमान शब्द अर्थ का अभिधायक नहीं हो सकता। भाष्यकार मानते हैं कि उच्चरित शब्द ही अर्थ का प्रत्यायक अर्थात् बोधक हो सकता है[4] अनुच्चरित नहीं। इस मान्यता पर कुछ आचार्यों को आपत्ति थी, उनका मन्तव्य था कि अर्थ का बोध केवल श्रूयमाण शब्द से ही नहीं होता अपितु स्मृतिविषयीभूत अर्थात् अनुमीयमान शब्द भी श्रूयमाण शब्द के समान ही अर्थबोध कराने में समर्थ होता है।[5] यहाँ अनुमीयमान शब्द प्रतीयमान अर्थ में ही प्रयुक्त

1- एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः। वही पृ0 141.

2- नैकदेशसरूपेभ्यस्तत् प्रत्यायनसम्भवः। वा0प0 2/356

3- वा0प02/358

4- उच्चरित एव शब्दः प्रत्यायकः नानुच्चरितः। महाभाष्य। अ0

5- केचित्तु मन्यन्ते नावश्यं श्रूयमाण एव शब्दः प्रत्यायकः। किं तर्हि नियमेनानुमीयमानोऽपि श्रूयमाणवदेव प्रत्ययमुत्पादयति।
वा0प0 2/362 हरिवृत्ति, हस्तलेख।

प्रतीत होता है । अर्वाचीन मीमांसक आचार्य महिमभट्ट तो प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय ही मानते हैं । प्रतीयमान शब्द से अर्थबोध मानने पर महाभाष्यकार के उक्त मत से असङ्गति का प्रतिपादन करते हुए यह प्रश्न किसी आचार्य ने किया कि प्रतीयमान शब्द अर्थ का अभिधायक कैसे हो सकता है । भर्तृहरि ने यद्यपि इस वाक्य को देवदत्त से प्रतीत होने वाला अर्थ दत्त या देव मात्र से प्रतीत होगा या नहीं, इसविवेचन के प्रसङ्ग में लिखा है किन्तु इस वाक्य से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने प्रतीयमान शब्द का उपादान कर आनन्दवर्धन के लिए दृढ आधार प्रदान किया है।

ध्वनि-प्रभेदों के निरूपण में व्याकरण शास्त्र का प्रभाव :

ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादन में ध्वनिवादी आचार्यों को वैयाकरणों से मूल प्रेरणा तो मिली ही साथ-साथ ध्वनि-प्रभेदों के विवेचन में भी वैयाकरणों ने इन्हें प्रभावित किया है । आलङ्कारिक आचार्य व्यंजना वृत्ति के आधार पर ध्वनिसिद्धान्त की व्याख्या करने के अनन्तर ध्वनि के भेदों की बड़ी सूक्ष्मता से व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । इनके द्वारा मूलतः ध्वनि के दो भेद स्वीकार किए गए हैं - 1- अविवक्षितवाच्य तथा 2-विवक्षितान्यपरवाच्य।

जिसमें वाच्य अर्थ सर्वथा अविवक्षित अर्थात् अनुपयुक्त या अन्वय के अयोग्य रहता है वहाँ अविवक्षित वाच्यध्वनि होती है । जिसमें वाच्य अर्थ विवक्षित रहते हुए भी व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य के कारण तिरोहित सा हो जाता है वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि होती है । अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद माने गये हैं अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य। अविवक्षित वाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ अनुपपन्न होने के कारण अविवक्षित रहता है । वाच्यार्थ की अनुपपन्नता में लक्षणा की कल्पना की जाती है । इसीलिए उपादान लक्षणा एवं लक्षण-लक्षणा के आधार पर अविवक्षितवाच्य ध्वनि के उपर्युक्त दोनों भेदों का प्रतिपादन किया गया है ।

आचार्य आनन्दवर्धन ने अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का निम्नलिखित

उदाहरण प्रस्तुत किया है -

"स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना:
वाता: शीकरिण: पयोदसुहृदामानन्दकेका: कला: ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे ।
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ।।

इस उदाहरण में "रामोऽस्मि" शब्द का वाच्यार्थ अनुपपन्न होकर सामान्य व्यक्तिरूप व्यङ्ग्यार्थ-सङ्क्रमित वाच्य का आक्षेप करता है । आशय यह है कि रामशब्द संज्ञी दशरथपुत्र मात्र का बोध न कराकर व्यङ्ग्य से सङ्क्रमित संज्ञी का प्रत्यायन कर रहा है । ध्वनिकार अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण वाल्मीकिप्रणीत रामायण से उद्धृत करते हैं -

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डल: ।
नि:श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।।

यहाँ अन्धशब्द आदर्श के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, अन्ध शब्द का वाच्यार्थ है - नेत्रहीन, इस स्थिति में उसका आदर्श विशेषणत्व अनुपपन्न है। अत: एक धर्मिबोधकत्वरूप अन्वय की अनुपपत्ति के कारण लक्षणया अन्ध शब्द पदार्थाभिव्यक्त्यशक्यत्व रूप गुण के कारण आदर्श का बोध कराता है । इस प्रकार यहाँ चन्द्रमा के छायाहीनत्व अनुपयोगित्व आदि अनेक धर्मों का प्रत्यायन प्रयोजन के रूप में कराया गया है । लक्षण-लक्षणा के स्थल में मुख्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है । यहाँ भी लक्षणलक्षणा के प्रयुक्त होने के कारण वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत है, अत: अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि का यह स्थल है ।

आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा अविवक्षितवाच्यादि ध्वनिप्रभेदों के इस विवेचन का आधार भर्तृहरि के वाक्यपदीय में विद्यमान है । भर्तृहरि ने उसी अर्थ में अभिधीयमान अर्थ को अविवक्षित कहा है जिस अर्थ में आनन्दवर्धन ने इसका उपपादन किया है । अविवक्षित वाच्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए भर्तृहरि ने स्वत: यह प्रश्न किया कि "शब्द का प्रयोग करने पर अभिधीयमान

अर्थात् अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतिपाद्यमान वाच्य अर्थ अविवक्षित कैसे रह सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में तो आचार्य ने अविवक्षित वाच्य ध्वनि का स्वरूप ही स्पष्ट कर दिया है । प्रश्न के समाधान में इनके द्वारा घटप्रदीप-न्याय का आश्रय लिया गया है । घटादि द्रष्टव्य वस्तु के लिए दीपक का उपयोग किया जाता है किन्तु वस्तुविशेष को देखने के लिए प्रयुक्त दीपक से उस पदार्थ के साथ साथ सन्निहित तृण, कीट आदि भी स्वतः अभिव्यक्त हो जाते हैं । प्रकाशन शक्ति से केवल ईप्सित का ही अभिव्यंजन नहीं होता। अपितु उस प्रसङ्ग में अन्य वस्तुएं भी अभिव्यक्त हो जाती हैं । किन्तु सभी अभिव्यक्त वस्तुएं इष्ट ही नहीं होतीं । उनका इष्ट न होना ही अविवक्षित होना है । दीपक के समान ही शब्द भी भले हो एक अर्थविशेष के ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ हो वह स्वाभाविक रूप से अन्य अर्थों को भी अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है तथा उससे कुछ ऐसे भी अर्थ प्रतिपादित होते हैं जो विवक्षित नहीं होते।[1]

भर्तृहरि के इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि उन्होंने अविवक्षितवाच्य की व्याख्या कर ध्वनिवादियों को अविवक्षितवाच्य ध्वनिभेद के निरूपण के पूर्णतः आधार प्रदान किया है । यहाँ एक विशेष तथ्य यह भी उल्लेख्य है कि आनन्दवर्धन ने वाच्य एवं प्रतीयमान की व्याख्या में दीपशिखा का उदाहरण प्रस्तुत किया है।[2] इस प्रसङ्ग में ध्वनिकार भर्तृहरि से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

1- तत्रेदं विचार्यते । कथमभिधीयमानोऽर्थः शब्दवान् अविवक्षित इति । तस्मादिदं प्रक्रम्यते । प्रदीपो हि प्रकाशनशक्त्या युक्तः तमसि यस्य प्रकाशयितव्यस्य घटादेरुपलिप्सितस्य अर्थस्य दर्शनार्थमुपादीयते । ततोऽसौ अर्थान्तरस्यापि संयोगिनः समानदेशस्य तृणपांसुकीटसरीसृपादेः घटादिवदेव प्रकाशनं करोति । न ह्यत्र प्रकाशनशक्तिरिष्टविषयमेव परिगृह्णाति । वा०प० 2/300 हरिवृत्ति हस्तलेख।

2- आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः । ध्वन्या० 1/9

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भी आचार्य दो भेद मानते हैं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इन दोनों के भी अनेक प्रभेदों का विवेचन ध्वनिवादियों के द्वारा किया गया है । यहाँ पर उन्हीं भेदों के विषय में विचार किया जायेगा जो व्याकरण से प्रभावित हैं । इस दृष्टि से ध्वनि की पदादि प्रकाश्यता में वैयाकरणों का स्पष्ट प्रभाव है । ध्वनिकार आदि आचार्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के अतिरिक्त अन्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि के उपर्युक्त दोनों भेदों को तथा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक भेद को पदप्रकाश्य तथा वाक्यप्रकाश्य स्वीकार करते हैं । इस प्रकार ये भेद पद से तथा वाक्य से अभिव्यक्त होने के कारण दो प्रकार के हो जाते हैं।[1]

व्याकरणसम्प्रदाय में निपातों को अर्थ का द्योतक माना गया है । समस्त निपात पद संज्ञक हैं, किन्तु इनका स्वतन्त्र प्रयोग न होने के कारण इन्हें वाचक न मानकर द्योतक ही मानना पड़ता है । अतः वैयाकरणों के अनुसार पदद्योतकता सिद्ध है । इसके अतिरिक्त पाणिनि ने स्पष्ट रूप से अनेक स्थलों में विशिष्ट अर्थों की द्योतकता की स्थिति में विभिन्न पदों में संज्ञादि कार्यों का प्रतिपादन किया है । पाणिनि के द्वारा प्रति, परि आदि पदों की द्योतकता को स्पष्ट करने के लिए "लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः" §पा०सू० 1/4/90§ सूत्र से लक्षण, इत्थंभूताख्यान, भाग, वीप्सा इन अर्थों की द्योतकता में प्रति, परि, अनु,की कर्मप्रवचनीय संज्ञा का विधान किया गया है । इसी प्रकार "अनुर्लक्षणे" §पा० सू० 1/4/84§ से लक्षण अर्थ के द्योत्य रहने पर तथा "हीने" §पा०सू० 1/4/86§ सूत्र से हीनत्व अर्थ के द्योत्य रहने पर "अनु" की तथा

1- क- अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाश्यता ।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः ।। ध्व० 3/1
ख- तेनाविवक्षितवाच्यो द्विविधोऽपि प्रत्येकं पदवाक्यप्रकाश इति द्विधा । तदन्यस्य विवक्षिताभिधेयस्य सम्बन्धी यो भेदः क्रमद्योत्योनाम स्वभेदसहितः सोऽपि प्रत्येकं द्विधैव । ध्व० 3/1 की वृत्ति ।

"उपोऽधिके च" (पा०सू० 1/4/87) से अधिक एवं हीन अर्थ के द्योत्य रहने पर "उप" अव्यय की कर्मप्रवचनीय संज्ञा का विधान किया गया है । इन कर्मप्रवचनीयों के योग में शब्दों से द्वितीया विभक्ति विहित होती है । उदाहरणों से पदों की द्योतकता और स्पष्ट हो जाती है । "अनु हरिं सुरा:" इस प्रयोग का अर्थ है सुर हरि से हीन हैं, यहाँ हीन अर्थ किसी शब्द का वाच्य नहीं है, अपितु "अनु" इस अव्यय पद के द्वारा द्योत्य है इसी प्रकार 'उप हरिं सुरा:' में उप पद हीन अर्थ का द्योतक है । इस प्रकार पाणिनि के विवेचन में पदों की द्योतकता स्पष्ट हो जाती है । इसी आधार पर आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि का पदप्रकाश्य रूप भेद प्रतिपादित करते हैं । इनके अनुसार जहाँ पर एक ही पद प्रधानरूप से अर्थ का द्योतन करता है वहाँ पदव्यंजकता को स्वीकार किया जाता है अन्य पद उसमें सहकारितया उपात्त रहते हैं ।[1]

आनन्दवर्धन के द्वारा पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं –

1– "सप्तैता समिध: श्रिय: ।"

2– क: सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम् ।

3– किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।

इन उदाहरणों में क्रमश: "समिध:" सन्नद्धे तथा मधुराणां पदों के प्रयोग से विशिष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति होती है अत: ये पदप्रकाश्य ध्वनि के उदाहरण हैं।

लोचनकार अभिनव ने प्रथम उदाहरण को पूरा लिखकर उसकी पद-प्रकाश्यता को स्पष्ट किया है । प्रथम उदाहरण का पूर्ण रूप यह है –

1– यत्रैकस्य पदस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यार्थोपस्थितावानुगुण्यं, अन्येषां च सहकारितामात्रम् तत्रैव पदनिष्ठत्वम् ।

बा०बो०पृ० 149.

धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मन्त्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ।।

इस रचना में समित् शब्द के अभिधेयार्थ इन्धन का सर्वथा तिरस्कार प्रतिपादित है, लक्षणा शक्ति से समित् का स्वार्थ-परित्यागपूर्वक उद्दीपक अर्थनिर्धारित किया जाता है । अतः समित् शब्द की "समृद्धि के प्रति धैर्य क्षमा आदि गुणों की विलक्षण साधनता होती है", इस ध्वन्यमान अर्थ की व्यञ्जकता स्पष्ट है, अकेले "समिधः" पद ही उक्त ध्वन्यमान अर्थ की प्रतीति करा दे रहा है, तदर्थ अन्य पदों की आवश्यकता नहीं पड़ती । इस प्रकार यहाँ पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि प्रयुक्त है । इसी प्रकार अन्य अर्थान्तरसङ्क्रमित- आदि ध्वनिभेदों में भी पदप्रकाश्यता का प्रतिपादन किया गया है । आनन्द-वर्धन के इन विचारों से स्पष्ट है कि इन्हें पदप्रकाश्यध्वनि का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आचार्य पाणिनि से मूल प्रेरणा मिली है । पाणिनि आदि वैयाकरण सामान्य रूप से पदादि की द्योतकता का प्रतिपादन करते हैं जबकि ध्वनिवादी आचार्य इनके विवेचन में लक्ष्यग्रन्थों में प्रयुक्त उदाहरणों का भी आश्रय लेते हैं अतएव इनमें स्पष्टता अधिक है ।

ध्वनिवादी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य आदि ध्वनिभेदों की वाक्यप्रकाशता की भी सोदाहरण व्याख्या करते हैं जहाँ अनेक पद एक साथ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं वहाँ वाक्यप्रकाश्य ध्वनि को स्वीकार किया जाता है ।[1] वाक्यप्रकाश्य अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि का निम्नलिखित उदाहरण है -

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। (गीता)

इस उदाहरण में निशार्थ तथा जागरणार्थ विवक्षित नहीं है, मुख्यार्थ

1- नानापदानां तथारूपत्वे (व्यंजकत्वे) वाक्यगतत्वमिति । बा०बो०पृ० 149.

के बाधित हो जाने के कारण निशा तथा जागृति पद लक्षणा के द्वारा मिथ्या दृष्टि तथा तत्त्वदृष्टि अर्थ का बोध कराते हैं । तदनन्तर इनसे तत्त्वज्ञान-प्रवणता तथा अतत्त्वपराङ्मुखता का द्योतन होता है, अतः अनेक पदों की द्योतकता के कारण यहाँ वाक्यप्रकाश्य ध्वनि की स्थिति स्वीकार की जाती है । इसी प्रकार अन्य प्रभेदों में भी ध्वनिवादियों ने वाक्यप्रकाश्यता की सोदाहरण उपपत्ति प्रतिपादित की है ।

वैयाकरणों की दृष्टि से वाक्यप्रकाश्यता का भी समर्थन हो जाता है । महाभाष्यकार अभिहितान्वयवादी हैं, अन्विताभिधानवादी नहीं क्योंकि "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" (पा0सू0 2/3/46) सूत्र के व्याख्यान में इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि "यदत्राधिक्यं सवाक्यार्थः" यहाँ जो आधिक्य है वह वाक्यार्थ है । अभिहितान्वयवादियों के अनुसार प्रथमतः शक्ति के द्वारा पदों का अर्थ जान लिया जाता है तब उनके अर्थों के अन्वय से विशिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है[1] जबकि अन्विताभिधानवादी वाक्य को ही वाक्यार्थ मानते हैं इनके अनुसार अन्वित पदों से ही अर्थबोध होता है "गामानय" कहने पर समस्त वाक्य का ही अर्थबोध होगा अलग अलग पदों का नहीं अतएव इन्हें तात्पर्यवृत्ति नहीं माननी पड़ती ।[2] भाष्यकार इनसे सहमत नहीं हैं अन्यथा वे "यदत्राधिक्यं स वाक्यार्थः" नहीं कहते । आधिक्य को वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य स्वीकार कर अभिहितान्वयवाद की ओर भाष्यकार ने इशारा किया है । इन्हीं को प्रमाणमानकर मम्मट आदि ने अभिहितान्वयवादियों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है । भाष्यकार के विवेचन में यह तो सुस्पष्ट हो है कि "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" सूत्र का वाक्यार्थ "प्रातिपदिकार्थमात्रे,

---

1- अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थितानामर्थानामन्वय इति0 । वही पृ0 26

2- पदानि अन्वितानि भूत्वा पश्चाद् विशिष्टमर्थं कथयन्तीति यो वदति सोऽन्विताभिधानवादी --- । वही पृ0 27.

लिङ्गमात्रे वचनमात्रे च प्रथमा स्यात्" ही होना चाहिए था किन्तु प्रातिपदिकार्थ के बिना लिङ्गादि की प्रतीति के सम्भव न हो सकने के कारण आधिक्य अर्थ को स्वीकार करना पड़ता है, यह आधिक्य अर्थ किसी शब्द का वाच्यार्थ नहीं है अपितु वाक्य से द्योतित होता है । इस प्रकार भाष्यकार के द्वारा वाक्यप्रकाश्यता का स्वरूप स्पष्ट किया गया है । ध्वनिवादियों को वाक्यप्रकाश्य ध्वनि के प्रतिपादन में भाष्यकार के इस विवेचन का अवश्य आश्रय लेना पड़ा होगा ।

ध्वनिकार असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के प्रभेदों को स्पष्ट करते समय पद तथा वाक्य की प्रकाशकता के साथ साथ वर्ण, पदावयवादि, सङ्घटना तथा प्रबन्ध की प्रकाशकता का प्रतिपादन करते हैं ।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन ने वर्णप्रकाश्य ध्वनिभेद को प्रतिपादित करने के पूर्व यह विचार किया है कि जब वर्णों को अनर्थक माना गया है तो उनकी द्योतकता कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न को स्वत: उपपत्ति कर इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए इन्होंने माना है कि श, ष, रेफयुक्त संयोग तथा ढकार आदि कुछ वर्ण ऐसे हैं जो श्रृङ्गार रस के प्रसङ्ग में तो विरुद्धप्रकृतिक होने के कारण उसके प्रवाह में अवरोध प्रस्तुत करने वाले हैं जबकि वे ही वर्ण बीभत्स आदि के प्रसङ्ग में उनके दीपक ही होते हैं । अत: अन्वयव्यतिरेक के आश्रय से वर्णों की द्योतकता स्पष्ट हो जाती है ।[2]

1- यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
 वाक्ये सङ्घटनायां च प्रबन्धेऽपि दीप्यते ।। 3/2

2- ननु वर्णानामनर्थकत्वाद् द्योतकत्वमसम्भवीत्याशङ्क्येदमुच्यते-
 शषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापिभूयसा ।
 विरोधिन: स्यु: श्रृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युत: ।।
 त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा
 तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युत: ।। ध्वन्या0 3/14-15.

वर्णों की द्योतकता का उदाहरण -

"अनङ्गरङ्गप्रतिमं यदङ्गंभङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः ।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तानि ।।

यहाँ ङ्ग, न्त, तथा ह्रस्वान्तरित रेफ वर्ण विप्रलम्भ श्रृङ्गार में माधुर्य के अभिव्यंजक के रूप में उपात्त हैं।

वर्णों की व्यंजकता वैयाकरणों से स्पष्ट रूप से समर्थित है । आचार्य ने "सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे," "समवाये च" {पा०सू० 6/1/137, 6/1/138} इन दोनों सूत्रों से भूषण तथा संघात अर्थात् समूह अर्थ की द्योतयता में "सम्" तथा "परि" उपसर्ग पूर्वक "कृ" धातु से "सुट्" का विधान किया है । संस्करोति तथा परिष्करोति आदि में "स्" के प्रयोग से भूषण अर्थ प्रतीत होने लगता है ।

इसी प्रकार आचार्य ने "अजाद्यतष्टाप्" {पा०सू० 4/1/4} सूत्र से स्त्रीत्व के द्योत्य रहने पर टाप् प्रत्यय का विधान कर वर्णद्योतकता को स्पष्ट किया है । सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में यह तथ्य अभिव्यक्त भी किया गया है कि द्योत्ये के स्थान पर ब्रूते कहने पर प्रत्ययार्थ को प्रधानमानकर की गई व्युत्पत्ति की वाच्यविषयता के कारण द्योत्यविषय में इस सूत्र की प्रवृत्ति ही न होती । इसीलिए यह स्वीकार किया जाता है कि स्त्रीत्व के द्योत्य रहने पर टाप् प्रत्यय प्रसक्त होताहै । अतः 'आ'वर्ण की स्त्रीत्वार्थ व्यञ्जकता स्पष्ट हो जाती है । यहाँ यह भी स्पष्ट करने लायक तथ्य है कि प्रत्यय- वाचक तथा द्योतक दोनों होते हैं । इसका कारण है कि कुछ इयान् आदि का स्वतन्त्र प्रयोग होता है तथा अन्य का प्रकृति के साथ ही । इसीलिए पाणिनि ने द्योत्य तथा वाच्य दोनों अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया है । इस तरह पाणिनि के द्वारा स्पष्ट रूप से वर्णव्यंजकता का प्रतिपादन किया गया है ।

ध्वनिवादियों ने पदावयव की द्योतकता का भी प्रतिपादन करने में वैयाकरणों का आश्रय लिया है ।

पदावयव की द्योतकता का उदाहरण :-

> व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
> बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य ।
> तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्यबाष्पं
> मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ।।

गुरुजन की परवाह न करके भी वह मुझे यथाकथञ्चित् अभिलाषयुक्त, क्रोध, दैन्य एवं गर्व से मन्थरभाव से देखने लगी, इस प्रकार यहाँ "विभाग" शब्द के प्रयोग से स्मरण से परस्पर हेतु होने के कारण उत्पन्न होने वाले प्रवासविप्रलम्भ का उद्दीपन सुस्पष्ट है ।

नैयायिक पद को "शक्तं पदम्" के द्वारा परिभाषित करते हैं । इनका अभिप्राय है कि शक्तत्व पदत्व का अवच्छेदक है । इस दृष्टि से उक्त उदाहरण में प्रयुक्त "विभाग" के शक्तत्वविशिष्ट होने के कारण उसमें पदत्व है अतः उसकी पदावयवता अनुपपन्न है । किन्तु वैयाकरण समास करने के अनन्तर समस्त प्रयोग की प्रातिपदिक संज्ञा कर सुबादि की उत्पत्ति से उस पूरे समस्त रूप को पद कहते हैं । इनके अनुसार "चकितहरिणीहारिनेत्रविभागः" इतना पूरा एक पद है, इस पद का "विभाग" को अवयव या एक देश मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं रह जाती । इससे स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन को वैयाकरणों का ही पद-लक्षण स्वीकृत था नैयायिकों का नहीं।

आचार्य आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के पद-प्रकाश्य आदि भेदों का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद अन्य सुबादि व्यंजकों से प्रकाश्य असंलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है । इनका विचार है कि सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारकशक्ति, कृत्, तद्धित और समास से भी उक्त ध्वनि प्रकाश्य होती है । इनके अतिरिक्त निपात उपसर्ग तथा काल आदि भी इस रसादि ध्वनि के अभिव्यञ्जक हैं अतः इसके अनेक भेद हो जाते हैं । आनन्दवर्धन ने इन समस्त व्यञ्जकों को वैयाकरणों से उधार लिया है । वैयाकरण उपर्युक्त इन व्यञ्जकों का विशिष्ट पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग करते हैं ।

1- सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ।।
चशब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते ।

ध्वन्या० 3/16 कारिका तथा वृत्ति

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त सुबादि अनेक व्यंजकों की द्योतकता को निम्नलिखित उदाहरण में अभिव्यक्त किया है -

> न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
> सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
> धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेनवा
> स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।।

यहाँ पर "मे यदरयः" प्रयोग से सुप्, सम्बन्ध तथा वचन की द्योतकता प्रतिपादित है । अरयः यह बहुवचन "मेरे शत्रु का होना उचित नहीं है" , इस सम्बन्धानौचित्यरूप क्रोधविभाव को व्यक्त कर रहा है । "तत्राप्यसौ तापसः" में निपात एवं तद्धित की द्योतकता स्पष्ट की गयी है । "तत्रापि" (तत्र+अपि) निपातों से अत्यन्त असम्भवनीयता तथा मत्वर्थीय तद्धित "अण्" प्रत्यय से जो कि तपस् शब्द के साथ प्रयुक्त है, पौरुषकथाहीनत्व अभिव्यक्त होते हैं।

"सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः" अंश में तिङ् और कारकशक्ति के प्रतिपादक शब्दों से मेरे द्वारा अधिष्ठित देश अधिकरण, निःशेष रूप से हन्यमान होने के कारण राक्षसकुलकर्म और यह सम्भव नहीं होकर सम्भव हो रहा है, इस प्रकार पौरुष का अभाव ध्वनित किया गया है । इसी प्रकार "धिग्धिक्छक्रजितं" इत्यादि श्लोकार्ध में कृत्, तद्धित, समास एवं उपसर्ग की द्योतकता स्पष्ट की गयी है इस श्लोक में सुप्, तिङ् आदि समस्त व्यंजक एक साथ प्रयुक्त हैं । ध्वनिकार ने अलग - अलग भी इनकी व्यंजकता का उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

काल की व्यंजकता का उदाहरण -

> समविसमणिव्विसेसासमन्तओ मन्दमन्दसंआरा ।
> अइरा होहिन्ति पहा मणो मणोरहाणं पि दुल्लङ्घा ।।

"भविष्यन्ति" में विद्यमान कालविशेष का प्रतिपादक प्रत्यय रस की परिपुष्टि के हेतु के रूप में प्रकाशित होता है । यहाँ उत्प्रेक्ष्यमाण कम्पकारी वर्षा समय क्या विद्यमान है ? यह ध्वनित हो रहा है ।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त सुबादि अनेक व्यंजकों की द्योतकता को निम्नलिखित उदाहरण में अभिव्यक्त किया है -

> न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
> सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
> धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेनवा
> स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।।

यहाँ पर "मे यदरयः" प्रयोग से सुप्, सम्बन्ध तथा वचन की द्योतकता प्रतिपादित है । अरयः यह बहुवचन "मेरे शत्रु का होना उचित नहीं है", इस सम्बन्धानौचित्यरूप क्रोधविभाव को व्यक्त कर रहा है । "तत्राप्यसौ तापसः" में निपात एवं तद्धित की द्योतकता स्पष्ट की गयी है । "तत्रापि" {तत्र+अपि} निपातों से अत्यन्त असम्भवनीयता तथा मत्वर्थीय तद्धित "अण्" प्रत्यय से जो कि तपस् शब्द के साथ प्रयुक्त है, पौरुषकथाहीनत्व अभिव्यक्त होते हैं।

"सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः" अंश में तिङ् और कारकशक्ति के प्रतिपादक शब्दों से मेरे द्वारा अधिष्ठित देश अधिकरण, निःशेष रूप से हन्यमान होने के कारण राक्षसकुलकर्म और यह सम्भव नहीं होकर सम्भव हो रहा है, इस प्रकार पौरुष का अभाव ध्वनित किया गया है । इसी प्रकार "धिग्धिक्शक्रजितं" इत्यादि श्लोकार्ध में कृत्, तद्धित, समास एवं उपसर्ग की द्योतकता स्पष्ट की गयी है इस श्लोक में सुप्, तिङ् आदि समस्त व्यंजक एक साथ प्रयुक्त हैं । ध्वनिकार ने अलग - अलग भी इनकी व्यंजकता का उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

> काल की व्यंजकता का उदाहरण -
> समविसमणिव्विसेसासमन्तओ मन्दमन्दसंआरा ।
> अइरा होहिन्ति पहा मणो मणोरहाणं पि दुल्लङ्घा ।।

"भविष्यन्ति" में विद्यमान कालविशेष का प्रतिपादक प्रत्यय रस की परिपुष्टि के हेतु के रूप में प्रकाशित होता है । यहाँ उत्प्रेक्ष्यमाण कम्पकारी वर्षा समय क्या विद्यमान है ? यह ध्वनित हो रहा है ।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त सुबादि अनेक व्यंजकों की द्योतकता को निम्नलिखित उदाहरण में अभिव्यक्त किया है -

> न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
> सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
> धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेनवा
> स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।।

यहाँ पर "मे यदरयः" प्रयोग से सुप्, सम्बन्ध तथा वचन की द्योतकता प्रतिपादित है । अरयः यह बहुवचन "मेरे शत्रु का होना उचित नहीं है" , इस सम्बन्धानौचित्यरूप क्रोधविभाव को व्यक्त कर रहा है । "तत्राप्यसौ तापसः" में निपात एवं तद्धित की द्योतकता स्पष्ट की गयी है । "तत्रापि" (तत्र+अपि) निपातों से अत्यन्त असम्भवनीयता तथा मत्वर्थीय तद्धित "अण्" प्रत्यय से जो कि तपस् शब्द के साथ प्रयुक्त है, पौरुषकथाहीनत्व अभिव्यक्त होते हैं।

"सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः" अंश में तिङ् और कारकशक्ति के प्रतिपादक शब्दों से मेरे द्वारा अधिष्ठित देश अधिकरण, निःशेष रूप से हन्यमान होने के कारण राक्षसकुलकर्म और यह सम्भव नहीं होकर सम्भव हो रहा है, इस प्रकार पौरुष का अभाव ध्वनितकिया गया है । इसी प्रकार "धिग्धिक्शक्रजितं" इत्यादि श्लोकार्ध में कृद्, तद्धित, समास एवं उपसर्ग की द्योतकता स्पष्ट की गयी है इस श्लोक में सुप्, तिङ् आदि समस्त व्यंजक एक साथ प्रयुक्त हैं । ध्वनिकार ने अलग - अलग भी इनकी व्यंजकता का उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

काल की व्यंजकता का उदाहरण -

> समविसमणिव्विसेसासमन्तओ मन्दमन्दसंआरा ।
> अहरा होहिन्ति पहा मणो मणोरहाणं पि दुल्लङ्घा ।।

"भविष्यन्ति" में विद्यमान कालविशेष का प्रतिपादक प्रत्यय रस की परिपुष्टि के हेतु के रूप में प्रकाशित होता है । यहाँ उत्प्रेक्ष्यमाण कम्पकारी वर्षा समय क्या विद्यमान है ? यह ध्वनित हो रहा है ।

इस प्रकार आचार्य ने तिङ्भिहितकारक, काल, आदि की भी अभि-व्यंजना का प्रतिपादन किया है । भाष्यकार ने तिङ्भिहित भाव से काल, पुरुष एवं उपग्रह अर्थ की अभिव्यक्ति स्वीकार की है कृदभिहित भाव से नहीं। अथवा क्रिया के बिना भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकाल की प्रतीति नहीं हो सकती ।[1] अतः भाष्यकार के व्याख्यान से ही ध्वनिकार को तिङ्भिहित कालादि की व्यंजकता की प्रेरणा मिली है । आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप से कहा है कि पदवाक्य एवं रचना के द्योतकत्व से ही सुबादि की व्यंजकता गतार्थ है तथापि वैचित्र्यपूर्ण व्युत्पत्ति के लिए यह विवेचन किया गया है।[2] इतना निश्चित है कि वैयाकरण इनकी द्योतकता को स्वीकार करते थे तथा इनके द्वारा अर्थ की द्योत्यता में विभिन्न प्रयोगों की साधुता प्रतिपादित करते थे । तथा च निपातोपसर्गादि की द्योतकता का भर्तृहरि आदि ने महान् संरम्भ के साथ प्रतिपादन भी किया है अतः निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना से लेकर ध्वनिप्रभेदों के विवेचन में ध्वनि-वादी आचार्यों को वैयाकरणों ने पूर्णतः प्रभावित किया है ।

यद्यपि आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिपादन में वैयाकरणों से स्पष्ट रूप से प्रभावित है तथापि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आलङ्कारिक सम्प्रदाय की परम्परा से पृथक् चलने का अपना मार्ग स्वतः तय किया है । ध्वनिसिद्धान्त के सन्दर्भ में इनकी मौलिकता स्पष्ट झलकती है अनेकत्र इन्हें किसी पूर्ववर्ती आचार्य पर आश्रित नहीं रहना पड़ा । शब्दशक्त्युद्भव, ~~अर्थशक्त्युद्भव~~, अर्थशक्त्युद्भव आदि ध्वनियों की कल्पना में इनकी सूक्ष्मप्रतिभा का परिचय मिलता है ।

1- महाभाष्य 1/1/67

2- एतच्च सर्वं पदवाक्यरचनाद्योतनोक्त्यैव गतार्थमपि वैचित्र्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम् । ध्वन्या० 3/16 की वृत्ति ।

ध्वनिविरोधियों का अभिमत एवं उसकी समालोचना :

ध्वनिकार ने ध्वनितत्त्व का स्वरूप स्पष्ट करने से पूर्व ध्वनिविरोधी मतों का उल्लेख किया है । इनके अनुसार ध्वनि के तीन प्रकार के विरोधों की सम्भावना की जा सकती है[1]

1- ध्वनि है ही नहीं (अभाववाद)

2- भक्ति में ही ध्वनि का अन्तर्भाव सम्भव है (भाक्तवाद)

3- ध्वनि का स्वरूप अनिर्वचनीय है (अनिर्वचनीयतावाद) ।

1- अभाववाद -

क- प्रथम विरोध-प्रकार अभाववाद के भी तीन रूप हैं । कुछ अभाववादी मानते हैं कि शब्दार्थरूप काव्य में शब्द तथा अर्थ के उत्कर्ष का प्रतिपादन करने वाले अनुप्रासोपमादि अलङ्कार, माधुर्यादि गुण, वैदर्भी आदि रीतियाँ तथा उपनागरिका आदि वृत्तियाँ ही काव्यसमालोचना में प्रसिद्ध हैं अतः इनसे भिन्न ध्वनि नाम के नये तत्त्व को नहीं माना जा सकता ।

ख- दूसरे प्रकार के अभाववादियों का कथन है कि प्रसिद्ध प्रस्थान से भिन्न किसी भी मार्ग को काव्य का अङ्ग नहीं माना जा सकता । ध्वनि-मार्ग उक्त अलङ्कारादि प्रसिद्ध प्रस्थान से भिन्न है । कुछ ध्वनिसमर्थकों के द्वारा स्वीकृत होने मात्र से उसे प्रसिद्ध नहीं कहा जा सकता, अतः ध्वनि है ही नहीं ।

ग- तृतीय प्रकार के अभाववाद का अभिप्राय है कि ध्वनि का उक्त

1- काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ।। ध्वन्या0 1/1.

चारुत्व हेतुओं में ही अन्तर्भाव हो जाने से उसे पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, अथवा उन्हीं चारुत्व हेतुओं में से किसी को ध्वनि नाम दे देने से कौन सी विशेषता आ जायेगी ? अर्थात् कोई नहीं ।

2- भाक्तवाद -

भाक्तवादी आचार्यों ने प्रतीयमानार्थ का लक्ष्यार्थ में ही अन्तर्भाव कर लिया है वे अभिधा तथा लक्षणा दो व्यापारों से ही समस्त अर्थबोध स्वीकार कर व्यंजना को पृथक् वृत्ति नहीं मानते ।

3- अनिर्वचनीयतावाद -

कुछ आचार्य ध्वनि का लक्षण करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं । ये ध्वनि की सत्ता तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे वाणी द्वारा निवर्णनीय नहीं मानते तथा सहृदयहृदयसंवेद्य ही कहते हैं।[1]

आनन्दवर्धन के द्वारा इन ध्वनिविरोधियों के समस्त तर्कों का उत्तर दिया गया है । अभाववादियों का सम्पूर्ण आग्रह वाच्य-वाचकभाव के प्रति ही था वे इसे ही प्रधानता देते थे किन्तु ध्वनिकार ने इसका विरोधकर वाच्य-वाचकभाव की अप्रधानता में ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा की । गुणालङ्कार वाच्यवाचक भाव पर आश्रित होते हैं जबकि ध्वनि व्यङ्ग्यव्यंजकभाव के आश्रित होती है । जिन अलङ्कारोंमें प्रतीयमान अर्थ रहता भी है वहाँ उसकी अप्रधानता के कारण वे गुणीभूतव्यङ्ग्य के ही विषय होंगे ध्वनि के नहीं । व्यङ्ग्य के प्राधान्य में ही ध्वनि की कल्पना के कारण इनमें ध्वनि को नहीं स्वीकार किया जा सकता । अतः ध्वनि का अलङ्कारादि में अन्तर्भाव की कल्पना असङ्गत है ।[2]

1- ध्वन्यालोक 1/1 की वृत्ति ।

2- द्रष्टव्य वही प्रथम उद्योत ।

लक्षणा में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों भिन्न भिन्न हैं । लक्षणा मुख्यार्थबाधादि निमित्तों की अपेक्षा से प्रवृत्त होती है, इसे अभिधापुच्छभूता भी कहा गया है । किन्तु व्यंजना में इन निमित्तों की अपेक्षा नहीं रहती वह स्वतन्त्र शक्ति है ।[1] लक्षणा तथा व्यंजना में रूपभेद[2] तथा विषयभेद [3] माना गया है । कई ऐसे स्थल हैं जहाँ लक्षणा शक्ति से अर्थबोध होता है, व्यंजना की कोई उपयोगिता नहीं रहती, लावण्य आदि शब्द ऐसे ही हैं । इनमें ध्वनि की सम्भावना नहीं की जा सकती । दोनों में संख्या की दृष्टि से भेद भले हीन हो किन्तु लक्ष्यार्थ नियत होता है तथा व्यङ्ग्यार्थ अनियत । "गतोऽस्तमर्क:" आदि उदाहरणों से असंख्य तथा अनियत व्यङ्ग्य अर्थों का बोध वक्ता आदि के अनुरूप होता रहता है जबकि लाक्षणिक प्रयोगों का लक्ष्यार्थ नियत होता है। अत: भक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव की भी कल्पना का आनन्दवर्धन,अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि आचार्यों ने खण्डन किया है । इन दोनों विरोध विकल्पों के खण्डन में इन्होंने अपनी प्रतिभा की सूक्ष्मता को अभिव्यक्त किया है किन्तु तृतीय ध्वनिविरोधी विकल्प अनिर्वचनीयतावाद के खण्डन में ध्वनिकार भर्तृहरि के ऋणी हैं ।

अनिर्वचनीयतावादियों का तर्क है कि जिस प्रकार रत्न की परीक्षा में उसके विशेषज्ञ ही समर्थ होते हैं तथा रत्न की उत्कृष्टता आदि की शब्दत: वे भी व्याख्या नहीं कर सकते उसी प्रकार ध्वनिकाव्य की चारुता का अनुभव तो सहृदयों को होगा किन्तु वे उसे शब्द से अभिव्यक्त नहीं कर सकते अत: उसे अनिर्वचनीय ही मानना चाहिए । इस तर्क के खण्डन में आनन्दवर्धन ने भर्तृहरि के दार्शनिक विवेचन का आश्रय लिया है । भर्तृहरि समस्त ज्ञान को

1- का०प्र०पृ० 247·

2- ध्वन्या० पृ० 424

3- विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यंजकत्वयो: स्पष्ट एव । यतो व्यंजकत्वस्य रसादयोऽलङ्कारविशेषा व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तुचेति त्रयं विषय: ।
वही पृ० 425·

शब्द से अभिव्यङ्ग्य मानते हैं ।

इनके अनुसार संसार का कोई ऐसा ज्ञान नहीं है जिसकी शब्द से अभिव्यक्ति न हो सके ।[1] इन्हीं के आधार पर ध्वनिकार ने पूर्वपक्षियों के तर्क का खण्डन करते हुए कहा है कि संसार की सम्पूर्ण वस्तुएँ शब्दों से परिभाष्य होती हैं । शब्दगत तथा अर्थगतविशेषताएं व्याख्येय हैं, अतः ध्वनि भी निर्वर्णनीय है । शब्द का अविषय मानकर उसको अनिर्वर्णनीय नहीं कहा जा सकता ।[2]

1- न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।। वा0प0 1/123

2- यस्मादनाख्येयत्वं सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित् सम्भवति ।
ध्वन्या0पृ0 554·

पञ्चम अध्याय

व्याकरण शास्त्र का काव्यालङ्कारों पर प्रभाव

काव्यों में विद्यमान आलङ्कारिक प्रयोगों के आधार पर काव्यशास्त्रियों ने रसादि के अभिव्यञ्जक शब्द एवं अर्थ में चारुता उत्पन्न करने वाले गुणालङ्कारादि का विस्तार पूर्वक विश्लेषण किया है । काव्य की निष्पत्ति में आचार्यों ने हेतुओं का विश्लेषण करते हुए यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि जन्मान्तरागतसंस्कारविशेष प्रतिभा काव्य के निर्माण में प्रधान कारण है । यह कवित्व का बीज है, इसके बिना काव्य का विस्तार नहीं हो सकता किसी तरह काव्य बन भी जाय तो उसमें मन को मुग्ध कर देने वाली चारुता नहीं आ सकती । अभ्यास और काव्यानुशीलन यद्यपि कवि-प्रतिभा को प्रौढ तथा परिपुष्ट बनाने में योग अवश्य देते हैं, तथापि मात्र इन्हीं कारणों से कविता नहीं बन सकती । कालिदास आदि की कविताओं में प्रतिभा तत्त्व की प्रधानता के कारण जो सहृदयहृदयावर्जक सहज अनुभूति होती है वह परवर्ती व्युत्पत्त्यभ्यासादि की प्रधानता में निष्पन्न भट्टि आदि महाकवियों की कविताओं में नहीं हो सकती । इनमें कुछ गणनीय लोगों को भले ही बुद्धिव्यायाम करने का आनन्द मिल जाय किन्तु सहृदयसामान्यजन को आह्लादित करने में ये कवितायें पूर्णतः असमर्थ हैं ।

प्रतिभावान् कवि स्वतन्त्र प्रवृत्ति का होता है, अपनी भूमिका का निर्माण वह स्वयं करता है । कवि यह सोचकर कविता की रचना करने नहीं बैठता कि यहाँ अमुक अलङ्कार, अमुक गुण आदि का प्रयोग करना है । उसके "वस्तु" के व्याख्यान में अलङ्कारादि स्वतः उपस्थित हो जाते हैं । इतना अवश्य है कि भावों के उतार चढ़ाव से ही उसकी रचना में अलङ्कारादि तत्त्व का स्वतः समावेश हो जाता है । इन कविताओं में लावण्य की प्रधानता रहती है । जिस प्रकार आकर्षक आभूषणों से रहित भी आभीर कन्या वल्कलादि को धारण किये हुए ही स्वाभाविक लावण्य विशेष के कारण रसिक जनों में रागात्मकता का उदय करा देती है उसी प्रकार अपभ्रंश का प्रयोग करने वाले कवि की कविता करती है । अतः जिन

कविताओं में नैसर्गिक शोभा प्रोद्दीप्त हो रही हो वहाँ अलङ्कारादि की अप्रधानता ही रहती है । फिर भी अलङ्कार आदि की कविताओं में आवश्यक स्थिति इसलिए स्वीकार की जाती है कि ये उक्ति के अविभाज्य अङ्गबनकर अन्तस्तत्त्व लावण्य में ही अन्तर्भूत होकर कवि के अभिप्राय के समग्ररूप को और अधिक सशक्त रूप में प्रस्तुत कर देते हैं । इसीलिए कवि प्रसङ्गविशेष के अनुरूप गुणों तथा अलङ्कारों का प्रयोग करते हैं । अन्यथा शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति के लिए ओजोगुण तथा यमक आदि अलङ्कारों का प्रयोग अनुपपन्न ही होगा ।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अलङ्कार तथा अलङ्कार्य दोनों में भेद है या अभेद ? दण्डी, भामह, वामन आदि आचार्यों ने अलङ्कार एवं अलङ्कार्य में अभेद की स्थापना की है । इनका विचार यह है कि अलङ्कार काव्यशोभा अर्थात् अलङ्कार्य के कारण अथवा पर्याय हैं । इसी दृष्टि से इन्होंने समस्त रसप्रपञ्च को रसवदादि अलङ्कारों में अन्तर्भूत माना है इनके अनुसार अलङ्कार तत्त्व ही प्रधान है तथा इनके बिना काव्य चमत्काररहित होने के कारण वार्ता मात्र रह जाता है, उसमें काव्यत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि काव्यत्व का अर्थ ही चमत्कार-युक्तता है ।

"गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः ।"

इस प्रयोग में भामह ने स्पष्ट रूप से काव्यत्व का निषेध किया है तथा इसको वार्ता कहा है । किन्तु रसध्वनिवादियों की मान्यता भिन्न हैं । इन्होंने अलङ्कार तथा अलङ्कार्य में भेद स्वीकार किया है, मूलतः रस अलङ्कार्य है, रस के अभिव्यञ्जक शब्द एवं अर्थ भी प्रत्यक्षतः अलङ्कार्य हैं तथा च यमकोपमादि अलङ्कार हैं । इनकी विवक्षा रस को प्रधान मानकर होती है, इन अलङ्कारों की सार्थकता रस के उत्कर्ष की वृद्धि में ही होती है ।

अलङ्कारों का स्वरूप :

आचार्यों ने अलङ्कारों के स्वरूप की दृष्टि से विचार करते समय यह स्वीकार किया है कि अलङ्कारादि के प्रयोग से काव्यों में उत्कर्ष आ जाता है तथा वक्ता आदि के अभिप्रायों की सशक्त अभिव्यक्ति होती है । मम्मट ने अलङ्कारों का लक्षण प्रस्तुत करते हुए माना है कि जिस प्रकार हार आदि आभूषण कण्ठादि अङ्गों में उत्कर्षाधान के द्वारा शरीरी को भी उपकृत करते हैं उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ के उत्कर्ष का प्रतिपादन करते हुए जो तत्त्व काव्य के प्राणभूत रस तत्त्व का उपकार करते हैं वे अनुप्रास उपमादि अलङ्कार कहे जाते हैं ।[1] कुछ ऐसे भी प्रयोग कवियों द्वारा किये गये हैं जहाँ रस नहीं रहता । इस प्रकार के प्रयोगों में अलङ्कार केवल शब्दों के सुश्रवत्व तथा बन्धकौशलादि के लिए प्रयुक्त होते हैं । इनके प्रयोग से अर्थों में भी मनोहारिता आ जाती है । कहीं कहीं तो रस रहता है तब भी उसका उपकार अलङ्कारों से नहीं होता । ग्रामीण अलङ्करण भला अत्यन्त सुकुमार नायिका के अङ्गों का अलङ्करण कैसे कर सकते हैं । इस स्थिति में भी इनका प्रयोग उक्तिवैचित्र्य के लिए ही किया जाता है । अत: अलङ्कारों की शब्द एवं अर्थ में अस्थिर स्थिति होती है । ये कभी इनका उत्कर्ष करते हैं तथा कभी नहीं । यही गुणों एवं अलङ्कारों में भेद का मूल कारण है । जिस प्रकार शौर्य आदि धर्म आत्मा के उत्कर्ष की अभिव्यक्ति करते हैं उसी प्रकार गुण अङ्गी रस के उत्कर्ष को अभिव्यक्त करते हैं । इनकी स्थिति अव्यभिचरित होती है । ये रस के बिना नहीं रह सकते, रहने पर रस का उपकार अवश्य करते हैं ।[2] जबकि अलङ्कारों की

1- उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय: ।। का0प्र0 पृ0-465

2- ये रसस्याङ्गिनो धर्मा: शौर्यादय इवात्मन: ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा: ।। का0प्र0 पृ0-462

स्थिति स्थिर नहीं होती वे कहीं उपस्थित होकर भी रस का उपकार नहीं करते तथा कहीं पर रस के न होने पर भी उपस्थित रहते हैं अतः गुणों से पृथक माने माने जाते हैं ।

इस विवेचन से एक और यह तथ्य स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार वैयाकरणों ने पारमार्थिक दृष्टि से वाक्य के अन्तर्गत पदादि का पृथक अस्तित्व न स्वीकार कर केवल वाक्य में सार्थकता स्वीकारकी है तथा व व्यावहारिक दृष्टि से शास्त्रप्रक्रिया के निर्वाह के लिए पदों का तथा प्रकृति-प्रत्यय आदि का भेद स्वीकार कर उनमें अर्थवत्ता मानी है, उसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से यद्यपि काव्य का प्रतिपाद्य तथा विवेच्य रस होता है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से काव्य सौन्दर्य की अनुभूति के लिए अलङ्कारादि का पृथक विवेचन सम्भव है । इसी आधार पर काव्यशास्त्रियों ने तात्त्विक दृष्टि से रस को ही प्रधान मानने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से अलङ्कार आदि का विस्तार पूर्वक निरूपण किया है ।

अलङ्कारों की उद्भावना के मूल-बीज :

किसी भी शास्त्र में प्रतिपादित विचार-धारा के विषय में जब यह प्रश्न किया जाता है कि इसका मूलस्वरूप आचार्यों को कहाँ से प्राप्त हुआ ? तो हमारी दृष्टि सद्यःवेदों पर टिक जाती है । समस्तज्ञान के आगार वेदों में आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के बीज पर्याप्त रूप में विद्यमान हैं। इस दृष्टि से अलङ्कारों के मूल स्वरूप वेदों में देखे जा सकते हैं । ऋषियों ने प्रकृतियों में देवत्व का आरोप कर इनसे अपने योगक्षेम की प्राप्ति के लिए इनकी स्तुतियाँ प्रस्तुत कियाहै,इन स्तुतियों में साम्यमूलक अलङ्कारों का प्रयोग स्वतः होने लगा । साम्यमूलक अलङ्कार उपमा का प्रयोग वेदों में अधिक हुआ है । उषस के लिए सुन्दर उपमा का प्रयोग द्रष्टव्य है -

"सूर्यो देवी मुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।"
यहां एक सुन्दरी युवती से उषस् की उपमा दी गयी है । कहीं कहीं तो कई उपमाओं का प्रयोग एक साथ हुआ है ।

"अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः ।।
{ऋ01/124/7}

इस मन्त्र में चार उपमाएँ प्रयुक्त हैं । इसी प्रकार अनेक उदाहरणों से अन्य अलङ्कारों का भी स्वरूप स्पष्ट होता है । अतिशयोक्ति, विरोधाभास, व्यतिरेक, श्लेष आदि अलङ्कारों के स्पष्ट प्रयोगों के बावजूद वेदों में नामतः इनका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता । वेदों के अनन्तर ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में भी उपमा आदि अलङ्कारों का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया । निरुक्तकार यास्क ने उपमा के बोधक इव, यथा, न, चित्, नु, आ जैसे निपातों का विवेचन कर वेदमन्त्रों में प्रयुक्त उपमा की तात्त्विक व्याख्या की है । यास्क के विचारों के आधार इनसे प्राचीन अन्य आचार्यों के विवेचन भी हो सकते हैं, यास्क ने कहा भी है कि गार्ग्य का यह मत है जहाँ एक वस्तु दूसरे से भिन्न होते हुए भी तत्सदृश होती है वह उपमा अलङ्कार का स्थल है ।[1]

आचार्य पाणिनि ने उपमा का विधिवत् विवेचन किया है । उपमा अलङ्कार में उपयोगी समस्त उपमान, उपमेय आदि तत्त्वों की व्याख्या अनेक सूत्रों में प्रस्तुत हुई है । पाणिनि के समय उपमा की शास्त्रीय विवेचना स्पष्ट हो गयी है । इन्होंने उपमान, उपमित, सामान्य, उपमा जैसे शब्दों के प्रयोग के साथ साथ औपम्य, उपमार्थ तथा सादृश्य का भी प्रयोग किया है।

1- अथात उपमा यदेतत् तत् सदृशमिति गार्ग्यः ।

निरुक्त 3/13

इनके अतिरिक्त कृत्, तद्धित, समासान्त प्रत्यय समासविधान तथा स्वरप्रक्रिया में सादृश्ययुक्त परिवर्तनों को स्पष्ट करने में उपमा का स्वरूप और स्पष्ट हो जाता है । पाणिनि का यही समस्त उपपादन अलङ्कारशास्त्रियों को उपमा के भेदों के विश्लेषण में आधार का काम करता है । इतना अवश्य है कि वैयाकरण सामान्य प्रयोगों "गौरिव गवय:" आदि में भी उपमा की स्थिति स्वीकार करते हैं जबकि काव्यशास्त्रियों ने काव्यबन्ध में ही उपमा आदि अलङ्कारों को सम्भव माना है यह स्वाभाविक भी है क्योंकि इनका समस्त विचार काव्य को लक्ष्य बनाकर प्रवृत्त होता है जो काव्य से बाहर की वस्तु है भला उससे इनका क्या प्रयोजन हो सकता है ? काव्यलक्षणों के होने पर ही उपमा अलङ्कार की स्थिति को मानकर अभिनव ने नाट्यशास्त्र की व्याख्या में "गौरिव गवय:" में विद्यमान उपमा के अलङ्कारत्व का इसीलिए खण्डन किया है । फिर भी वैयाकरण आदि आचार्यों ने जिस सामान्य धारणा का विवेचन किया है उससे इन्हें अपने क्षेत्र में सहायता मिली है तथा इन्होंने अन्य शास्त्रों से अपने लिए उपयुक्त अंश को जहाँ तक मिला ग्रहण किया है । प्रतिभा आदि तत्त्वों के विवेचन में यह स्पष्ट हो चुका है । इस प्रकार वैयाकरणों का अलङ्कारों के विवेचन में इनपर जो प्रभाव पड़ा उसका यहाँ प्रतिपादन किया जायेगा ।

उपमा :

उपमा अलङ्कार का विवेचन आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से काव्योपयोगी रूप में प्राप्त होने लगता है । यह अलङ्कार कई काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रधान रूप में व्याख्यात हुआ है । आचार्य महिम ने "सर्वेष्वलङ्कारेषु जीवितायते" कहकर उपमा को समस्त अलङ्कारों में प्राणभूत माना है । रुय्यक भी अर्थालङ्कारों में उपमा को मूल तत्त्व मानते हैं ।[1]

1- अलङ्कारसर्वस्व पृ० 31-32.

चित्रमीमांसा में अप्पयदीक्षित ने उपमा अलङ्कार के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसे नर्तकी कहा है अर्थात् वह सर्वत्र स्पष्ट रूप में विद्यमान रहती है ।[1]

आचार्य भरत ने उपमा का लक्षण माना है कि काव्यबन्धों में जहाँ सादृश्य के आधार पर किसी वस्तु से किसी अन्य वस्तु की तुलना प्रतिपादित की जाय वह उपमा नामक अलङ्कार का स्थल माना जायेगा । यह उपमा वर्ण, आकृति तथा गुण के सादृश्य के आधार पर होती है ।[2] भरत द्वारा प्रतिपादित उपमा का यही लक्षण यत्किंचित् परिवर्तन के साथ समस्त काव्यशास्त्रियों में मान्य रहा है । जहाँ भामह ने सादृश्य के स्थान पर साम्य शब्द का प्रयोग किया है वहीं दण्डी ने सादृश्य का ही तथा उद्भट ने साधर्म्य का प्रयोग किया है ।

सभी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत उपमा के लक्षणों में उपमा अलङ्कार के प्रयोजक - 1- उपमेय, 2- उपमान, 3- साधारण धर्म, तथा 4- साधारण धर्म के वाचक शब्द इन चार तत्त्वों का प्रयोग अवश्य मिलता है ।

उपमेय तथा उपमान :

उपमा का प्रयोग प्राय: उपमेय के उत्कर्ष को प्रतिपादित करने के लिए किया जाता है । जब कमल से मुख की उपमा दी जाती है तो मुख में उत्कर्ष प्रतिपादित करना विवक्षित रहता है । इस प्रकार उपमेय तथा

1- उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिका भेदान् ।
रंजयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदांचेत: ।। चि०मी० पृ० 41 ।

2- यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमानाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ।। ना०शा० 16/41

उपमान दोनों के साधर्म्य पर उपमा का वास्तविक चमत्कार आधृत होता है। आचार्य पाणिनि ने "उपमानानि सामान्यवचनैः" §पा०सू० 2/1/55§ में उपमान शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है । इनके द्वारा प्रयुक्त इस उपमान शब्द की व्याख्या में महर्षि पतञ्जलि ने वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उपमान कौन हैं ? क्या जो उपमान हैं वही उपमेय हैं अथवा उपमान तथा उपमेय भिन्न हैं अर्थात् उपमेय अन्य वस्तु तथा उपमान अन्य वस्तु ? यदि उपमान तथा उपमेय में अभिन्नता मानी जायेगी अर्थात् जो उपमान हैं वही उपमेय हैं, तो उपमा का स्वरूप "गौरिव गौः" होगा तथा च यदि उपमान को अन्य तथा उपमेय को अन्य अर्थात् दोनों में भेद माना जायेगा तो 'गौरिवाश्वः' । इस प्रकार उपमान एवं उपमेय के अत्यन्त अभेद तथा अत्यन्त भेद की स्थिति में उपमा अनुपपन्न होगी अतः जहाँ दोनों में कुछ धर्म सामान्य हों तथा कुछ धर्म विशिष्ट वहाँ उपमानोपमेयभाव सिद्ध होता है । मान शब्द का उपादान अनिर्ज्ञात वस्तु के साकल्येन ज्ञान के लिए किया जाता है, उपमान भी वस्तुतः मान की ही तरह अनिर्ज्ञात वस्तु के ज्ञान के लिए प्रयुक्त होता है । "गौरिव गवयः" उदाहरण में गौ तथा गवय उपमान एवं उपमेय दोनों में कुछ सामान्य धर्म है तथा कुछ विशिष्ट, अतः यह उपमा का स्थल है । गौ निर्ज्ञात है तथा गवय अनिर्ज्ञात, गवय के अनिर्ज्ञात अंश का उपमा के द्वारा ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार महाभाष्यकार ने गवय को निर्ज्ञात तथा गौ को अनिर्ज्ञात मानकर "गवय इव गौः" को भी उपमा का उदाहरण माना है । यह बात दूसरी है कि काव्यबन्ध के अभाव में इनमें काव्योपयोगी उपमा का स्वरूप भले ही न हो किन्तु इन प्रयोगों में उपमा के आवश्यक समस्त तत्त्व तो विद्यमान हैं ही ।

भाष्यकार का समासतः अभिप्राय यह है कि उपमान तथा उपमेय के बीच भेदाभेद रूप सम्बन्ध होना चाहिए दोनों में कुछ गुणादि सामान्य

धर्म हों तथा कुछ विशेष ।[1]

साहित्य शास्त्रियों को भी यही उपमानोपमेय का स्वरूप अभिप्रेत है । वामन आदि कतिपय आचार्य उपमान को उत्कृष्ट गुणों से युक्त मानते हैं तथा उपमेय को निकृष्ट, यह धारणा अनुभवविरुद्ध है क्योंकि कवि को सर्वदा उपमेय का उत्कर्ष ही अभीष्ट रहता है । इसी उत्कर्ष के उपपादन के लिए तो वह उपमान से उपमेय का सादृश्य प्रतिपादित करता है । गुणों के उत्कर्षापकर्ष को उपमानोपमेय का निर्धारक मानने पर उपमेय का उपमान से साम्य अनुपपन्न हो जायेगा । साम्य की उपपत्ति तभी सम्भव होती है जब उत्कर्ष एवं अपकर्ष का बिना विचार किये दोनों में साधारणधर्मता स्वीकार की जाती है । अतः साहित्यशास्त्रियों को यह स्वीकार करना पड़ता है कि भेदाभेदरूप उपमानोपमेय में गुणों के उत्कर्षापकर्ष को निर्णायक न मानकर कुछ सामान्य धर्मों को तथा कुछ विशेष धर्मों को उपमानोपमेयभाव का प्रयोजक मानना चाहिए । अलङ्कार सर्वस्वकार ने पतञ्जलि के ही अभिप्राय को अपने शब्दों से स्पष्ट करते हुए कहा है कि सदृशता का वह विषय है जहाँ कुछ उभयनिष्ठ सामान्य धर्म हों तथा कुछ विशिष्ट ।[2]

महर्षि पतञ्जलि ने इस उपमानोपमेय के स्वरूपविवेचन में उपमा के प्रयोग के मूल में विद्यमान कवि की भावना का भी स्पष्टीकरण किया है । इनका विचार है कि अनिर्ज्ञात अर्थ के ज्ञान के लिए उपमान का प्रयोग होता

1- कानि पुनरुपमानानि ? किं यदेवोपमानं तदेवोपमेयमाहोस्विदन्यदेवोपमानमन्यदुपमेयम् ? किं चातः ? यदि यदेवोपमानं तदेवोपमेयं, क इहोपमार्थः "गौरिव गौरिति" ? अथान्यदेवोपमानमन्यदुपमेयं क इहोपमार्थः - "गौरिवाश्व" इति । एवं तर्हि यत्र किञ्चित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषस्तत्रोपमानोपमेये भवतः । --- मानं हि नामानिर्ज्ञातज्ञानार्थमुपादीयते- "अनिर्ज्ञातार्थं ज्ञास्यामीति" । तत्सामीप्ये यन्नात्यन्ताय मिमीते तदुपमानं- "गौरिव गवय" इति । गौर्निर्ज्ञातो, गवयोऽनिर्ज्ञातः। म०भा०2/1/55

2- यत्र किञ्चित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः । अ०स०पृ० 3।

है उपमेय के धर्म ज्ञात न रहें तो भी उपमान के ज्ञात धर्मों से उनका ज्ञान हो जाता है। इसी मूल भावना को लेकर उपमा अलङ्कार प्रयुक्त हुआ है ।

आचार्य भर्तृहरि भी महाभाष्यकार के अनुरूप ही उपमेय एवं उपमान की व्याख्या स्पष्ट शब्दों में करते हैं – मान वह है जिससे अनिर्ज्ञात वस्तु का पूरी तरह ज्ञान हो सके । जैसे प्रस्थ पल आदि मापक साधनों से किसी मेय वस्तु का मान साकल्येन निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है ।[1] जबकि उपमान से अनिर्ज्ञात द्रव्य के समानधर्मों का ज्ञान साकल्येन भले ही न हो सके फिर भी उपमान उसके ज्ञान का माध्यम बनता है । अतः द्रव्य के अनिर्ज्ञात तथ्यका उपमान के द्वारा ज्ञान कराया जाता है ।[2] इससे उपमेय का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है ।

साधारण धर्म :

उपमेय वस्तु जिस प्रसिद्ध गुण या भाव के कारण अनिर्ज्ञात रहती है वह धर्म या समान धर्म है । अनिर्ज्ञात वस्तु में उपमान के द्वारा जो तत्त्व निर्ज्ञात कराया जाता है वही साधारण धर्म है । भर्तृहरि ने इस तथ्य को अच्छी तरह स्पष्ट करते हुए कहा है कि उपमान एवं उपमेय दोनों में विद्यमान समान धर्म के वाचक इवादि शब्द के साथ उपमान का समास होता है ।[3] इसमें इन्होंने आचार्य पाणिनि के "उपमानानि सामान्यवचनैः"

1- अनिर्ज्ञातस्य निर्ज्ञानं येन तन्मानमुच्यते ।
प्रस्थादि तेन मेयात्मा साकल्येनावधार्यते ।। वा0वृ0स0 359

2- अनिर्ज्ञातं प्रसिद्धेन येन तद्धर्म गम्यते ।
साकल्येनापरिज्ञानादुपमानं तदुच्यते ।। वही 360

3- द्वयोः समानो यो धर्म उपमानोपमेययोः ।
समास उपमानानां शब्दैस्तदभिधायिभिः ।।
वही पृ0 361·

सूत्र की उचित व्याख्या प्रस्तुत की है । महाभाष्यकार के समान भर्तृहरि समान धर्म को उपमानोपमेय में अभिन्न या भिन्न मानने पर उपमा की अनुपपत्ति प्रदर्शित करते हुए यह भी प्रतिपादित करते हैं कि दोनों में न केवल भिन्नता के आधार अथवा न केवल अभिन्नता के आधार पर तथा च न केवल जातिमात्रगत एकत्व के आधार पर ही साधारण धर्म उपमा के प्रयोजक हो सकते हैं ।[1] अतः आश्रयों में गुण के निवास के कारण उसमें भेद भी माना जा सकता है तथा च जातिगत साम्य के कारण अभेद भी स्वीकार किया जा सकता है । वस्तुतः कोई द्रव्यात्मा इस भेदाभेद की विविधतामय उभय-शक्तियों के कारण ही कार्य व्यापार में प्रवृत्त रहता है ।[2]

वस्तुतः श्यामता सर्वत्र एक जैसी होती हुई भी यत्किञ्चित् भेद विशिष्ट होती ही है । अभिप्राय यह है कि कुछ तो सामान्य धर्म होते हैं तथा कुछ विशिष्ट, उपमान एवं उपमेय में विद्यमान ये ही भेदाभेदविशिष्ट साधारण धर्म उपमा के प्रयोजक होते हैं ।[3] भर्तृहरि ने इस तथ्य को उदाहरण प्रस्तुत कर समझाया है कि जिस प्रकार जाति तथा कमल आदि के पुष्पों में गन्धत्व सामान्य के होने पर भी सुगन्धि में भेद का अनुभव होता है, इस सुगन्ध की भिन्नता की स्थिति में ही इनमें सादृश्य प्रयुक्त होता है उसी

1- गुणयोर्नियतो भेदः गुणजातेस्तथैकता ।
एकत्वेऽत्यन्तभेदे वा नोपमानस्य सम्भवः ।
जातिमात्रव्यपेक्षायामुपमार्थो न कश्चन ।
श्यामत्वमेकं गुणयोरुभयोरपि वर्तते ।। वही 363-4

2- आश्रयाद् यो गुणे भेदे जातेर्याविशिष्टता ।
ताभ्यामुभाभ्यां द्रव्यात्मा सव्यापारः प्रतीयते ।
सोऽयमेकत्वनानात्वे व्यवहारः समाश्रितः ।
भेदाभेदविमर्शेन व्यतिकीर्णेन वर्तते ।। वही 366-7

3- श्यामेष्वपि क्वचित् किञ्चित् किञ्चित् सर्वत्र वर्तते ।
सामान्यं कश्चिदस्मिन् श्यामे भेदो व्यवस्थितः ।। वही 370.

प्रकार उपमान एवं उपमेय के साधारण धर्मों में किञ्चित्सामान्य तथा किंचित् विशेष अवश्य रहता है ।[1]

वैयाकरणों के समान साहित्यशास्त्रियों ने उपमान तथा उपमेय के सम्बन्ध के लिए सादृश्य, साधर्म्य तथा साम्य शब्दों का प्रयोग कर अपना अभिमत उपस्थापित किया है कि उपमान तथा उपमेय में भेद होने पर भी साधर्म्य का होना उपमा है । सामान्यत: सादृश्य, साधर्म्य तथा सामान्य में पर्यायत्व प्रतीत होता है अर्थात् ये तीनों के ही अर्थ के वाचक हैं । कुछ आचार्य इनकी पर्यायवाचिता का समर्थन भी करते हैं किन्तु कुछ आचार्य इसका खण्डन कर साधर्म्य से सादृश्य को पृथक मानते हैं, जिससे उपमा का पर्यवसित लक्षण होता है उपमान एवं उपमेय के साथ " सादृश्यप्रयोजक साधारणधर्म का सम्बन्ध उपमा है" ।[2] मम्मट ने कार्यकारणभाव में साधर्म्य की उपस्थिति न मानकर उपमान एवं उपमेय में ही साधर्म्य को स्वीकार किया है तथा इन्हीं दोनों के साधर्म्य को उपमा माना है । मम्मट ने सादृश्य शब्द का प्रयोग न कर साधर्म्य शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए किया है । इनका अभिप्राय यह है कि सादृश्य तथा साधर्म्य में भेद है। साधर्म्य को सादृश्य से पृथक मानने का आधार यह है कि सम्बन्ध में एक प्रतियोगी तथा एक अनुयोगी अवश्य होता है, जैसे "राज्ञ: पुरुष: " में राजा एवं पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध होता है इस सम्बन्ध का राजा प्रतियोगी तथा पुरुष अनुयोगी होता है । साधर्म्य भी एक प्रकार का सम्बन्ध ही है । इस साधर्म्यनामक सम्बन्ध का प्रतियोगी है - साधारण धर्म तथा अनुयोगी हैं - उपमान एवं उपमेय दोनों ही । जबकि सादृश्य नामक सम्बन्ध का प्रतियोगी

1- तथाहि सति सौरभ्ये भेदोजात्युत्पलादिषु ।
गन्धानां सति भेदे तु सादृश्यमुपलभ्यते ।। वही पृ० 37।·

2- उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणयो: साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध: उपमा । का०प्र० पृ० 544·

उपमान तथा अनुयोगी उपमेय होता है । यही दोनों के भेद का मूल कारण है । इस प्रकार जिस सम्बन्ध में साधारण धर्म प्रतियोगी होगा तथा उपमान एवं उपमेय दोनों अनुयोगी होंगे वह साधर्म्य सम्बन्ध होगा तथा जिसमें उपमान प्रतियोगी होगा तथा उपमेय अनुयोगी होगा वह सादृश्य सम्बन्ध होगा । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सादृश्य का प्रयोग उपमान तथा उपमेय में विद्यमान साधारण धर्म की अपेक्षा से होता है अर्थात् साधर्म्य उपमा का प्रयोजक है । नागेश ने काव्यप्रकाश की व्याख्या में स्पष्ट भी किया है कि सादृश्य उपमानोपमेय का वह धर्मविशेष है जो उन दोनों के साधारणधर्म सम्बन्ध के द्वारा प्रयोज्य होता है ।

साधर्म्य को सादृश का प्रयोजक प्रतिपादित करते हुए नागेश ने विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है कि सादृश्य से साधर्म्य को भिन्न मानने पर ही "उपमानानि सामान्यवचनैः" इस सूत्र का महाभाष्य उपपन्न होता है । "उपमान एवं उपमेय" दोनों में दोनों के धर्म रहते हैं सादृश्य मूलक अभेद का आरोपकर उपमान का उपमेय में अभेदान्वय होता है" इस सिद्धान्त पक्ष में "इस रूप में सादृश्यनिमित्तक गुण निर्दिष्ट नहीं हुआ" ऐसी शङ्का की उपस्थिति के कारण "श्यामत्व ही गुण है" इस प्रकार का उक्त सूत्र में भाष्यकार द्वारा किया गया समाधान साधर्म्य को सादृश्य से पृथक् मानने पर ही सङ्गत होता है । अन्यथा महाभाष्य की असङ्गति स्पष्ट ही है दोनों के अन्तर को नागेश ने अन्य उदाहरणादि देकर भी उपपन्न किया है वह वहीं से अवधेय हैं ।[1] साहित्य-शास्त्रियों ने भी इसी अभिप्राय से साधर्म्य शब्द को उपमा के लक्षण में प्रस्तुत किया है । पण्डितराज जगन्नाथ ने तुल्ययोगिता अलङ्कार में इस अभिप्राय को स्वीकार कर कहा भी है कि औपम्य इस अलङ्कार में गम्य होता है क्योंकि तत्प्रयोजक समानधर्म का यहाँ उपादान किया गया है तथा वाचक शब्द का अभाव है । इसीलिए आलङ्कारिकों को "सादृश्य साधर्म्यरूप ही

1- का०प्र० बालबो०पृ० 54। में उद्धृत ।

नहीं है अपितु वह उससे भिन्न पदार्थ है" यह सिद्धान्त मान्य प्रतीत होता है अन्यथा औपम्य का प्रतीयमानत्व कथन अनुपपन्न ही होता । रसगङ्गाधर की व्याख्या में नागेश ने आलङ्कारिकों के साथ वैयाकरणों का भी सङ्ग्रह माना है ।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि पतञ्जलि आदि वैयाकरणों के प्रभाव से ही आलङ्कारिक आचार्यों ने साधर्म्य को उपमा माना तथा सादृश्य को साधर्म्यप्रयोज्य स्वीकार कर प्रतियोगी एवं अनुयोगी की भिन्नता के आधार पर उससे पृथक् स्वीकार किया । तथा च वैयाकरणों ने जो उपमानोपमेयगत भेदाभेद अर्थात् कुछ सामान्य रूप तथा कुछ विशेष रूप साधारणधर्म सम्बन्ध- को उपमा माना है वही इन्हें भी अभिप्रेत है ।

वाचक शब्द :

उपमा में साधारण धर्म के वाचक शब्दों का भी अत्यधिक महत्त्व है। वाचक शब्दों की प्रकृति के आधार पर उपमा के अनेक भेद काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित हुए हैं । उपमा के भेदों के विवेचन में इनका स्वरूप स्पष्ट किया जायेगा ।

इस प्रकार साहित्यशास्त्रियों तथा वैयाकरणों ने उपमा के प्रसङ्ग में उपमान, उपमेय, साधारणधर्म तथा साधर्म्य इन चार तत्त्वों की आवश्यकता को प्रतिपादित किया है । कुछ आचार्य साधारणधर्मवत्त्वेन प्रसिद्ध पदार्थ को उपमान तथा तद्धर्मवत्तया वर्णनीय पदार्थ को उपमेय कहते हैं, कुछ आचार्य अधिक गुणों से युक्त पदार्थ को उपमान तथा निकृष्ट गुणों से युक्त पदार्थ को उपमेय मानते हैं तथा कुछ सादृश्य के प्रतियोगी को उपमान तथा अनुयोगी को उपमेय मानते हैं । वस्तुतः तो उपमान एवं उपमेय दोनों में साधारण धर्म का सम्बन्ध होता है, साधारण धर्म है - जिस धर्म के

1- वही बालबो०पृ० 54। में उद्धृत ।

सम्बन्ध से उपमा दी जाती है, अत: जिसके साथ उपमा दी जाती है वह होगा उपमान तथा जिसकी उपमा दी जाती है वह उपमेय ।

उपमा के आधार

सामान्यत: काव्यशास्त्रियों ने साधारण धर्मों को जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य इन चार रूपों में स्वीकार किया है । जाति, गुण एवं क्रिया का साधारणधर्मत्व तो सिद्ध ही है द्रव्य भी यद्यपि स्वत: धर्मी है तथापि किसी दूसरे धर्मी की दृष्टि से साधारण धर्म बन सकता है । अत: द्रव्य भी साधारण धर्म माना जाता है । विमर्शिनीकार ने स्पष्ट भी किया है कि धर्मधर्मिभाव वास्तविक नहीं है, जात्यादिरूप जो धर्मी हैं वे अन्य धर्मी के आश्रय से स्वत: धर्म हो जाते हैं।[1] इस प्रकार धर्म तथा धर्मी दोनों का चातुर्विध्य उपपन्न हो जाता है ।

धर्म के चातुर्विध्य का उदाहरण है -

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ।।[2]

इसमें "विभक्त" क्रियापद क्रिया रूप धर्म का वाचक है, "राम", "सेतु", "छायापथ" द्रव्यरूप धर्म के वाचक हैं, फेन और तारक जाति रूप धर्म के वाचक हैं तथा प्रसाद गुण रूप धर्म का वाचक हैं।

1- धर्मधर्मिभावस्य न वास्तवत्वम् । जात्याद्यात्मनो धर्मिणोऽपि कदाचिदन्याश्रितत्वे धर्मत्वात् ।
भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालङ्कार पृ0 104 में उद्धृत

2- वही पृ0 104 में उद्धृत ।

धर्मों के चातुर्विध्य का उदाहरण -

> धनोधानच्छायामिवमरुपथाद्दावदहना -
> त्तुषाराम्भो वापीमिव विषविपाकादिव सुधाम् ।
> प्रवृद्धादुन्मादात् प्रकृतिमिव निस्तीर्य विरहा -
> त्लभेय त्वद्भक्तिं निरुपमरसां शङ्कर कदा ।।[1]

इस उदाहरणमें उपमान रूप में प्रस्तुत छाया, वापी, सुधा तथा प्रकृति जात्यादि रूप हैं तथा उपमेय भूत मरुस्थ, दावाग्नि, विषविपाक तथा उन्माद को चार रूपों में विभाजित किया जाता है । इस प्रकार उपमा के आधार को काव्यशास्त्रियों ने चार रूपों में विभक्त मानकर महाभाष्यकार की "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति: का समर्थन किया है । इसीलिए कुछ आलङ्कारिकों ने जो वैशेषिक दर्शन को आधार बनाकर साधारण धर्मों को भावरूप एवं अभाव रूप का मानकर विवेचन किया है वह असङ्गत एवं अग्राह्य हो जाता है।

उपमा के भेद -

उपमा के भेदों के विवेचन की परम्परा आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से ही प्रारम्भ हो जाती है । आचार्य ने प्रशंसा, निन्दा आदि के आधार पर उपमा के पाँच भेदों का ही प्रतिपादन किया है । इनके अनन्तर दण्डी आदि आचार्यों ने इसके भेदों पर और सूक्ष्मता से विचार कर भेदों की संख्या में वृद्धि की । यहाँ पर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उन्हीं भेदों पर विचार किया जायेगा जिनपर व्याकरण का प्रभाव परिलक्षित होता है । इस दृष्टि से विचार करने पर उद्भट का नाम सबसे पहले आता है, इन्होंने ही सर्वप्रथम व्याकरण-सम्मत प्रयोगों को आधार बनाकर उपमा के सात भेदों का

1- वही पृ0 104 में उद्धृत ।

विवेचन किया । इनके अनन्तर भावी मम्मट के काव्यप्रकाश में व्याकरण के प्रयोगों पर आधारित अन्य उपमा के प्रभेद भी विवेचित हुए । इस तरह उपमा के भेदों की संख्या पच्चीस हो गयी । परवर्ती आलङ्कारिक मम्मट के ही विवेचन को स्वीकार करते हैं । क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण है। मम्मट ने प्रथमतः उपमा के दो भेदों को स्वीकार किया है - पूर्णा तथा लुप्ता । समस्त उपमा प्रयोजकों का जहाँ उपादान किया गया रहता है वहाँ पूर्णा होती है तथा जहाँ एक, दो या तीन उपमाप्रयोजकों का लोप हुआ रहता है वहाँ लुप्ता उपमा होती है ।

पूर्णा :

पूर्णा के भी प्रथमतः दो भेद होते हैं - 1- श्रौती, तथा 2- आर्थी । साधारणधर्म के साक्षात् वाचक यथा इव आदि जहाँ प्रयुक्त होते हैं वह श्रौती का स्थल होता है तथा तुल्य सदृश आदि शब्दों के प्रयोग करने पर साधर्म्य की पर्यालोचना से तुल्यता की प्रतीति होती है अतः साधर्म्य आर्थ होता है, साधर्म्य के आर्थ होने के कारण उपमा भी आर्थी हो जाती है इस प्रकार स्पष्ट है कि यथा इव आदि का उपादान करने पर श्रौती होगी तथा तुल्यार्थक तुल्य सदृश आदि शब्दों का उपादान करने पर आर्थी । ये दोनों वाक्य, समास तथा तद्धित में होने से तीन तीन तरह की होती हैं अतः पूर्णा के छह भेद उपपन्न हो जाते हैं।

आचार्य ने समासगा एवं तद्धितगा ये दोनों भेद व्याकरण के आधार पर प्रस्तुत किया है ।

श्रौती समासगा :

"अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां
दिव्यैः प्रभाभिरनपायरमायैः ।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो
लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ।।"

यहाँ भुजैः उपमान के साथ साधारण धर्म के साक्षाद्वाचक इव का समास हुआ है तथा अन्य उपमेयादि उपमाप्रयोजकों की पूर्णता है अतः यह समासगा श्रौती का उदाहरण है । भुजैः के साथ इव शब्द के समास का विधान "इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च" का० वा० {पा०सू० 2/4/71} के द्वारा किया जाता है । इसको बिना जाने समासगा उपमा को नहीं समझा जा सकता । इस प्रकार वैयाकरणों के आधार पर आलङ्कारिकों ने समासगा श्रौती भेद का प्रतिपादन किया है । कुछ आचार्य इव शब्द के साथ नित्य समास का खण्डन कर वैकल्पिक समास स्वीकार करते हैं, इस स्थिति में जहाँ इव समस्त नहीं होगा वहाँ वाक्यगा उपमा ही मानी जायेगी ।

समासगा आर्थी -

इसमें तुल्यार्थक तुल्य सदृश आदि शब्दों का उपमान के साथ व्याकरणोनुमत समास किया गया रहता है । इसका उदाहरण है -

"अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः ।
सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर न कस्य ।।"

यहाँ सुरतरु उपमान के साथ तुल्यार्थक सदृश शब्द का "उपमानानि सामान्य_ वचनैः" सूत्र से समास किया गया है अतः यहाँ समासगा आर्थी उपमा है ।

तद्धितगा श्रौती-

यह वहाँ होती है जहाँ इव के अर्थ में "तत्र तस्येव" {पा०सू०- 5/1/66} सूत्र के द्वारा तद्धित वति प्रत्यय का विधान किया गया हो । इसका उदाहरण है -

"गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत् ।"

यहाँ "गङ्गाभुजङ्गस्य इव" इस विग्रह में "तत्र तस्येव" सूत्र से इव के अर्थ में वति प्रत्यय किया गया है तथा च अन्य उपमा की शर्तें पूरी हैं अत: यहाँ तद्धितगा श्रौती उपमा है ।

तद्धितगा आर्थी –

इसका वह स्थल होता है जहाँ तुल्यार्थक तुल्य सदृश आदि शब्दों के स्थान पर "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति:" (पा०सू० 5/1/115) के द्वारा तद्धित वति प्रत्यय किया जाय ।

उदाहरण –

दुरालोक: स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ।

यहाँ "निदाघाम्बररत्नेन तुल्यम्" इस विग्रह में निदाघाम्बररत्न शब्द से तुल्य अर्थ में "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति:" सूत्र से वति प्रत्यय किया गया है । अत: यह तद्धितगा आर्थी उपमा का उदाहरण माना गया है ।

इस प्रकार पूर्णा उपमा के विवेचित चारों समासगा श्रौती, समासगा आर्थी, तद्धितगा श्रौती तथा तद्धिता आर्थी भेदों की कल्पना में आलङ्कारिक पूर्णत: वैयाकरणों पर आश्रित है । पाणिनि ने कितनी सूक्ष्मता से विचार किया है इसका अन्दाज़ा यहीं से लग जाता है – तत्र तस्येव सूत्र का उपादान आचार्य ने द्रव्य गुण आदि के साम्य में प्रयुक्त इवादि के अर्थ में वति के विधान के लिए किया है जबकि "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति:" का उपादान क्रियाओं की तुल्यता में वति प्रत्यय के विधान के लिए किया गया है । यही दोनों सूत्रों में भेदक तत्त्व है ।

लुप्ता उपमा -

उपमा प्रयोजकों के लोप को आधार बनाकर प्रयुक्त होने वाली लुप्ता उपमा के स्थलों पर जब साधारण धर्म लुप्त रहता है तो वे धर्मालुप्ता उपमा के उदाहरण समझे जाते हैं।

धर्मलुप्ता -

इसके पाँच भेद होते हैं । पूर्णा के श्रौती आर्थी दोनों भेदों के वाक्य, समास एवं तद्धित तीनों में उदाहरण मिलते हैं अत: उसे छह प्रकार का माना गया । किन्तु धर्मालुप्ता का श्रौती विभागतद्धित में उपपन्न नहीं होता अत: श्रौती के वाक्यगत एवं समासगत होने के कारण तथा आर्थी के वाक्य, समास, एवं तद्धित में प्रयुक्त होने के कारण इसके पाँच ही भेद स्वीकार किये गये हैं । तद्धित में धर्मलुप्ता श्रौती उपमा का प्रयोग न होने का कारण यह है कि इव के अर्थ में विहित वति प्रत्यय होने पर ही तद्धित में श्रौती उपमा हो सकती थी, जबकि वति प्रत्यय "तत्र तस्येव" सूत्र के द्वारा षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त ही उपमान पद से विहित होने के कारण साधारण धर्म में ही अपने अन्वय का ज्ञान उत्पन्न कराता हुआ निश्चित रूप से साधारण धर्म की आकाङ्क्षा रखता है अत: जहाँ साधारणधर्म का उपादान नहीं किया गया रहेगा वहाँ यह तद्धित वति प्रत्यय अनुपपन्न होगा । धर्मलुप्ता में साधारण धर्म का उपादान नहीं किया जाता अत: साधारणधर्माकाङ्क्ष वति प्रत्यय के अनुपपन्न होने से धर्मलुप्ता श्रौती के उदाहरण तद्धित में नहीं मिलते ।

तुल्य अर्थ में "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति:" सूत्र से वति प्रत्यय विहित होने पर तद्धितगा आर्थी उपमा होती है । किन्तु वत्यर्थ का पर्यवसान साधारण रूप वाली तुल्यक्रिया में ही होने के कारण साधारण धर्म के उपादान के बिना तुल्यार्थक वति प्रत्यय नहीं हो सकता अत: धर्मलुप्ता तद्धितगा आर्थी

का ऐसा उदाहरण नहीं मिल सकता जहाँ तुल्यार्थ में उक्त सूत्र से वति प्रत्यय किया गया हो, इसीलिए आचार्य मम्मट आदि ने कल्पप्, देश्य, देशीयर् आदि तद्धित प्रयों के प्रयुक्त होने पर धर्मलुप्ता तद्धितगा आर्थी उपमा की स्थिति स्वीकार की है ।

मम्मट समासगा श्रौती आर्थी तथा तद्धितगा आर्थी तीनों धर्मलुप्ता उपमाओं का एक ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे ।

पूर्वार्ध में समासगा श्रौती एवं आर्थी धर्मलुप्ता के क्रमश: उदाहरण दिए गये हैं । व्याकरण की दृष्टि से इनका भी विवेचन पूर्णा समासगा की ही तरह है अत: पुन: कथन पिष्ट पेषण होगा साधारणधर्म के लोपादि वहीं से अनुसन्धेय है ।

तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण उत्तरार्ध है । यहाँ विष उपमान से सदृश {ईषन्न्यून} अर्थ में "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयर:" {पा०सू० 5/3/67} सूत्र से कल्पप् तद्धित प्रत्यय हुआ है तथा च नाशकत्वरूप साधारण धर्म लुप्त है अत: यह उपर्युक्त उपमा का उदाहरण बनता है । इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैयाकरणों के अतिसूक्ष्म विवेचन से काव्यशास्त्री कितना प्रभावित हुए हैं । व्याकरण के बिना नहीं समझा जा सकता कि वति प्रत्यय साधारणधर्म साकाङ्क्ष होता है । आलङ्कारिक व्याकरण के इन विवचनों से पूर्ण परिचित होने पर ही अपने विषय विवेचन में पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं ।

उपमानलुप्ता -

जिस स्थल में उपमान का उपादान नहीं किया जाता वहाँ यह उपमा होती है यह केवल आर्थी होती है तथा इसके वाक्यगा एवं समासगा

दो ही भेद होते हैं । उपमान के उपादान न होने के कारण इवादि का भी प्रयोग अनुपपन्न होता है । अतः श्रौती उपमान लुप्ता उपमा नहीं हो सकती, तथा व उपमानवाचक शब्द से ही इवादि के अर्थ में तद्धित वत्यादि प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं अतः इसका तद्धितगा भेद भी अनुपपन्न हैं । इसके सहित आगे विवेचित की जाने वाली समस्त लुप्ता उपमाएँ आर्थी ही होंगी ।

वादिलुप्ता :

उपमा के बोधक वा आदि का लोप हो जाने पर इसके छह भेद हो जाते हैं । यह 1- समास, एवं 2- कर्मक्यच्, 3- आधारक्यच्, 4- क्यङ्, 5- कर्मोपपदणमुल तथा, 6- कर्त्रुपपदणमुल प्रत्ययों की स्थिति में प्रयुक्त होती है । ये समस्त भेद पाणिनि के सूत्रों पर आधारित हैं।

समासगा वादिलुप्ता :

जहाँ समास से उपमा का प्रतिपादन हो जाने के कारण इवादि अप्रयुक्त रहते हैं वहाँ यह उपमा होती है।

इसका निम्न उदाहरण आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत किया है -

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता ।।

यहाँ "कामिनीगण्ड इव पाण्डुः" इस विग्रह में उपमान कामिनीगण्ड एवं साधारणधर्मवाचक इव दोनों का समास "उपमानानि सामान्यवचनैः" सूत्र द्वारा किया जाता है, इस सूत्र में प्रयुक्त उपमान शब्द के बल से समास से ही उपमा का प्रतिपादन हो जाता है अतः उक्तार्थक इव का प्रयोग नहीं किया गया । इस प्रकार यह वादिलुप्ता समासगा का स्थल सिद्ध होता है । यह उपमा अनेक पदों के समास में भी प्रयुक्त होती है । पाणिनि का उक्त सूत्र ही इस उपमा भेद का आधार है ।

आचार्य पाणिनि ने "उपमानादाचारे" (पा0सू0 3/1/10) नियम के द्वारा उपमानवाचक कर्म पद से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय का विधान किया है । पाणिनि के इसी सूत्र में वार्तिककार कात्यायन ने "अधिकरणाच्चेतिवक्तव्यम्" वार्तिक लिखकर उपमान वाचक अधिकरण पद से भी आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय का विधान किया है । इसी आधार पर आलङ्कारिक आचार्यों ने वादिलुप्ता के कर्मक्यच्गत एवं अधिकरण-क्यच्गत भेदों का विश्लेषण किया है । मम्मट ने इन दोनों का निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है -

पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसा-
वन्त: पुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चु: ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे -
रालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ।।

यहाँ "सुतमिवाचरति" इस विग्रह में उपमान वाचक द्वितीयान्त सुत शब्द से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय उक्त सूत्र से विहित है । तथा च उपमा प्रतिपादक इवादि अथवा तुल्य आदि अप्रयुक्त होने के कारण लुप्त हैं अत: यह कर्मक्यच्गत वादिलुप्ता का उदाहरण है । क्यच् प्रत्यय को साधारण धर्म का वाचक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह आचार अर्थ में विहित है, अत: आचारमात्र अर्थ का प्रतिपादक है और यहाँ आचार ही समान धर्म है।

इसी पद्य में अधिकरणक्यच्गत वादिलुप्ता उपमा भी प्रयुक्त है । "समरान्तेर" इस उपमेय के कारण "अन्त:पुरेइवाचरति"ऐसा विग्रह करने पर "अधिकरणाच्चेतिवक्तव्यम्" वार्तिक के द्वारा उपमानवाचक अन्त:पुर इस अधिकरण में प्रयुक्त शब्द से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय किया गया है । यहाँ भी उपमा प्रतिपादक इवादि का अप्रयोगकृत लोप स्पष्ट है । अत: यह अधिकरणक्यच्गत वादिलुप्ता उपमा का उदाहरण है।

पाणिनि के "कर्तु: क्यङ् सलोपश्च" (पा0सू0 3/1/11) के आधार पर आलङ्कारिकों ने क्यङ्गतवादिलुप्ता का भी उदाहरण प्रस्तुत कर विवेचन

किया है । उपर्युक्त पद्य में ही इवका प्रयोग किया गया है । "नारी इवाचरति" इस विग्रह में उपमानवाचक नारी इस कर्तृपद से आचार अर्थ में उक्त सूत्र के द्वारा क्यङ् प्रत्यय किया गया है यहाँ सकातर्य विनय आदि आचार ही साधारण धर्म हैं । उपमा प्रतिपादक इवादि का अप्रयोगकृत लोप हुआ है अतः क्यङ्गत वादि लुप्ता का यह उदाहरण है।

आचार्य पाणिनि द्वारा उपमानवाचक कर्मोपपद तथा कर्त्रुपपद के रहने पर "णमुल्" प्रत्यय का विधान किया गया है इस आधार पर काव्यशास्त्रियों ने वादिलुप्ता के दो भेद और प्रतिपादित किये हैं । दोनों भेदों का एक ही निम्नलिखित उदाहरण मम्मट द्वारा प्रयुक्त हुआ है -

मृधे निदाघधर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे ।
स पुनः पार्थसञ्चारं संचरत्यवनीपतिः ।।

यहाँ "निदाघधर्मांशुमिव पश्यन्ति" इस विग्रह में उपमानवाचक निदाघधर्मांशु इस कर्मोपपद के होने के कारण "दृश्" धातु से भाव अर्थ में "उपमाने कर्मणि च" (पा०सू० 3/4/45) सूत्र के द्वारा णमुल् प्रत्यय किया गया है । उपमाप्रतिपादक इवादि के अप्रयोग कृत लोप के स्पष्ट होने के कारण यह कर्मोपपद णमुलगत वादिलुप्ता का उदाहरण है । इसी श्लोक में कर्त्रुपपद णमुलगत वादिलुप्ता का भी प्रयोग हुआ है । "पार्थसंचारम्" में "पार्थ इव संचरणम्" इस विग्रह में उपमानवाचक कर्त्रुपपद पार्थके होने से "सम्"पूर्वक "चर्" धातु से भाव अर्थ में "उपमाने कर्मणि च" सूत्र से णमुल् प्रत्यय किया गया है । यहाँ भी इवादि लुप्त हैं अतः कर्त्रुपपद वादिलुप्ता का यह उदाहरण है । "उपमाने कर्मणि च" सूत्र में चकार के ग्रहण से "कर्तरि" का भी लाभ हो जाता है ।

साधारण धर्म तथा वादि दोनों का लोप होने पर द्विलुप्ता उपमा धर्मवादिलुप्ता कहलाती है इसके भी दो भेद होते हैं । क्विब्गा तथा समासगा ।

विवक्गा धर्मवादिलुप्ता का निम्नलिखित उदाहरण है -

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्य: ।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदु:खवशीकृते मनसि ।।

यहाँ चारों क्रिया पदों में "सर्वप्रातिपदिकेभ्य: क्विब्वा वक्तव्य:[1]" वार्तिक से उपमानवाचक विधु आदि कर्तृवाची प्रातिपादिकों से आचार अर्थ में "क्विप्" प्रत्यय किया गया है । क्विप् का सर्वापहारी लोप हो जाता है अत: यहाँ धर्मवादिलुप्ता क्विब्गा उपमा प्रयुक्त है । आचार अर्थ में "क्विप्" का विधान होने से यह समानधर्मरूप है अतएव इसके लोप हो जाने पर धर्मवादिलुप्ता का क्विब्गात्व उपपन्न होता है ।

समासगा धर्मवादिलुप्ता का उदाहरण -

परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराकृम: ।
सम्परायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जर: ।।

इस उदाहरण में "उपमितं व्याघ्रादिभि: सामान्याप्रयोगे" (पा०सू० 2/1/56) से "राजकुञ्जर" शब्द में समास होता है । दुराधर्षत्व आदि साधारण धर्म अत्यन्त प्रसिद्ध हैं इसलिए उनका उपादान न करने पर भी उपमा की प्रतीति निर्बाध रूप से हो रही है । पाणिनि सूत्र में "उपमित" शब्द के प्रयोग के बल पर औपम्य की प्रतीति समास से ही हो जाती है, अत: यह धर्मवादिलुप्ता समासगा का स्थल है ।

इसी प्रकार साधारण धर्म एवं उपमान के लोप में भी द्विलुप्ता उपमा होती है इसके भी वाक्यगा एवं समासगा दो भेद होते हैं । उपमान के लोप के कारण तद्धित में यह नहीं प्रयुक्त होती क्योंकि उपमान से ही तद्धित प्रत्यय होता है । इसमें श्रौती भेद भी नहीं हो सकता, उपमान का प्रयोग न होने के कारण इवादि का प्रयोग स्वत: नहीं होता । साधारण धर्म के वाचक वादि

1- कात्यायन वार्तिक (पा०सू० 3/1/11)

तथा उपमेय के लोप होने पर द्विलुप्ता का केवल क्यच् गत एक ही भेद होता है । इसका निम्नलिखित उदाहरण है -

अरातिविक्रमालोकविकस्वर-विलोचनः ।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ।।

यहाँ "सहस्रायुधीयति" में "उपमानादाचारे" सूत्र से उपमानवाचक "सहस्रायुध" - इस कर्मपद से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय किया गया है । इसका विग्रह होता है - "सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति" । यहाँ आत्मा उपमेय है । यह उपमेय तथा वादिलुप्त हैं अतः वाद्युपमेयलुप्ता क्यच्गता द्विलुप्ता का यह उदाहरण है ।

वादि, धर्म एवं उपमान इन तीनों का जहाँ प्रयोग न किया गया हो वहाँ त्रिलुप्ता समासगा उपमा होती है । इसका मम्मट ने निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है -

तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासवितीर्णविग्रहा ।
स्मरशरविसराचितान्तरा मृगनयना हरते मुनेर्मनः ।।

यहाँ वादि धर्म तथा उपमान तीनों अप्रयुक्त हैं अतः यह त्रिलुप्ता का उदाहरण है । मृगनयना शब्द का जब "मृगनयने इव नयने यस्याः" यह अर्थ विवक्षित होता है तब "सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च"[1] वार्तिक से मृगलोचन इस उपमानपूर्वपदक शब्द का नयन शब्द के साथ बहुव्रीहि समास होने पर उपमानवाची मृगलोचन इस पूर्वपद में उत्तरपदभूत लोचन शब्द का लोप हो जाता है । अतः मात्र उपमेय भूत नयन शब्द का प्रयोग बचता है अन्य तीनों का अनुपादान ही है । यहाँ एक तथ्य यह भी स्पष्ट है कि मृग शब्द से लक्षणा के द्वारा उसके नेत्रों की जब विवक्षा होगी तब यह उदाहरण नहीं हो सकता क्योंकि "मृग इव नयने यस्याः सा" इस विग्रह में समास करने पर मृग शब्द ही उपमानता का प्रतिपादक हो सकता है अतः उक्त वार्तिक से उक्त रूप में किये गये समास के आधार पर ही त्रिलुप्ता समासगा उपमा सम्भव

1- का०वार्तिक (पा०सू० 2/2/24)

होती है । पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से यही समास उचित भी है। उक्त वार्तिक का अर्थ है कि उपमान अथवा उपमानवाचक सप्तम्यन्त पूर्वपद है जिसका ऐसे सप्तम्युपमानपूर्वपदक शब्द का उत्तरपद के साथ बहुव्रीहि समास होता है तथा पूर्वपद में जो उत्तरपद रहता है उसका लोप भी होता है । इस प्रकार लुप्ता उपमा के विश्लेषण में यह वार्तिक सहायक होता है ।

उपमा के विवेचित समस्त भेदों का आधार पाणिनीय व्याकरण ही है। इसके ज्ञान के बिना इनकी सूक्ष्मता को नहीं समझा जा सकता । समास तथा प्रत्ययादि के आधार पर आलङ्कारिकों ने यद्यपि इसका विस्तारपूर्वक विवेचन कर व्याकरण के प्रति अपनी श्रद्धा तथा प्रौढ़ता का प्रदर्शन किया है तथापि कुछ आचार्यों ने इसमें आपत्ति प्रकट की है । उनका विचार है कि यह भेदोपभेद विवेचन व्याकरण सम्बन्धी व्युत्पत्ति का प्रदर्शक मात्र है इसमें कोई चमत्कार नहीं है अतः आलङ्कारशास्त्र में इसकी कोई उपादेयता नहीं है । वैयाकरण नागेश ने भी वाक्य समास तथा प्रत्यय विशेषों पर आधारित इन भेदोपभेदों के प्रति अरुचि प्रकट की है तथा अलङ्कारशास्त्र की दृष्टि से इनकी अनुपादेयता का प्रतिपादन किया है ।[1] इन भेदोपभेदों के उद्वेजक होने के बावजूद भी काव्यशास्त्रियों ने इनका सर्वाङ्गीण विश्लेषणकर व्याकरण की सूक्ष्मताओं का पाण्डित्यपूर्ण उद्घाटन किया है ।

1- वस्तुतोऽयं पूर्णालुप्ताविभागो वाक्यसमासप्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनपरत्वादत्र शास्त्रे न व्युत्पादनमर्हति।

का0प्र0उ0 पृ0 454.

नोट – उपमा के भेदों में प्रयुक्त सम्पूर्ण उदाहरण काव्यप्रकाश से लिए गए हैं।

उत्प्रेक्षा -

भामह दण्डी आदि आचार्य उत्प्रेक्षा अलङ्कार का प्रायः एक ही स्वरूप मानते हैं । इनका विचार है कि उपमेय की उपमान के साथ तादात्म्य अर्थात् एकरूपता से जो सम्भावना की जाती है वह उत्प्रेक्षा है । मन्ये, शङ्के, ध्रुवम्, प्रायः नूनम्, आदि के प्रयोग में वाच्योत्प्रेक्षा होती है अन्यथा गम्योत्प्रेक्षा । इन उत्प्रेक्षाप्रतिपादकों के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा की सामग्री रहने पर इव शब्द भी कभी कभी उत्प्रेक्षा का प्रतिपादन करता है । दण्डी ने इव शब्द के प्रयोग में होने वाली उत्प्रेक्षा का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है -

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ।। काव्यादर्श 2/226

यहाँ लेपनक्रिया तथा वर्षण क्रिया क्रमशः अन्धकारकर्तृक और आकाशकर्तृक क्रिया के रूप में उत्प्रेक्षित हुए हैं अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार प्रयुक्त होगा । कुछ आचार्य इस उदाहरण में उपमा अलङ्कार की स्थिति स्वीकार करते थे किन्तु दण्डी ने वैयाकरणों को आधार बनाकर इस प्रयोग में उपमा की स्थिति का निषेध किया है ।

भाष्यकार पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने स्पष्ट रूप में इस प्रकार के स्थलों में उपमा का निषेधकर उत्प्रेक्षा की स्थिति का प्रतिपादन किया है । "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" (पा0सू0 3/1/7) सूत्र की व्याख्या में पतञ्जलि तथा कैयट ने स्पष्ट किया है कि क्रिया का उपमानत्व अनुपपन्न है । उपमान सदा सिद्धरूप का होता है जबकि क्रिया साध्यरूप की । सिद्ध रूप में प्रतीयमान वस्तु का "इदं तद्" इत्याकारक ज्ञान होता है जिससे उस सिद्ध वस्तु का उपमानत्व उपपन्न हो जाता है किन्तु

साध्यरूप क्रिया से "इदं तत्" इत्याकारक परामर्श न हो सकने के कारण क्रिया का उपमानत्व नहीं हो सकता अतः क्रियापद के साथ प्रयुक्त इव शब्द से उपमा की प्रतीति किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती, क्रियापद के साथ प्रयुक्त होने पर इससे केवल सम्भावना अर्थ की ही प्रतीति होती है, इसीलिए "रोदितीव गायति", नृत्यतीव गच्छति" आदि में उपमान होकर क्रिया-स्वरूपोत्प्रेक्षा ही मानी जाती है ।[1]

पतञ्जलि के उक्तअभिप्राय को भर्तृहरि ने विस्तार पूर्वक विवेचित किया है । तिङ्न्त से उपमा क्यों नहीं हो सकती इसका उपपादन करते हुए भर्तृहरि मानते हैं कि तिङन्तार्थ साध्यरूप का होने के कारण अपरिनिष्पन्नरूप का होता है इसलिए वह उपमान का उपमेय के साथ "सोऽयम्" इत्याकारक परामर्श नहीं करा सकता, अत एव सिद्धरूप में जो "सोऽयम्" इत्याकारक परामर्श होता है उसके अनुपपन्न होने के कारण क्रिया से क्रिया की उपमा नहीं दी जा सकती । "सिंहो माणवक:" आदि में जिस प्रकार इव शब्द के अप्रयुक्त रहने पर अभेदरूप से तथा प्रयुक्त रहने पर भेदरूप "सोऽयम्" इत्याकारक परामर्श होने के कारण उपमानोपमेयभाव होता है उस प्रकार क्रियाओं में इव के अप्रयुक्त रहने पर अभेद रूप से अथवा प्रयुक्त रहने पर भेद रूप से उपमानोपमेयभाव नहीं हो सकता ।[2] भर्तृहरि क्रिया में उपमा के निषेध में एक यह भी कारण मानते हैं कि उपमा वहाँ होती है जहाँ परिपूर्ण वस्तु से न्यून वस्तु का उपमान होता है किन्तु क्रिया में

1- {क} न वै तिङन्तेनोपमानमस्ति । म० भा० 3/1/7

{ख} क्रियायाः साध्यैकस्वभावत्वादनिष्पन्नरूपत्वादिदं तदिति परामर्शविषयवस्तुगोचरत्वादुपमानोपमेयभावस्येदंतदिति परामर्शाभावादिति भावः । इवशब्दप्रयोगे तु आरोपस्तु विद्यते "रोदितीव गायति",'नृत्यतीव गच्छति' इति । वही,पृ03/1/7

2- साध्यस्यापरिनिष्पत्तेः सोऽयमित्यननुग्रहः ।
तिङन्तैरन्तरेणैवमुपमानं ततो न तैः । वा०प० क्रि0 स0-53

न्यूनाधिकभाव सम्भव नहीं है क्योंकि समस्त क्रियायें अपने अपने आश्रय में ही परिसमाप्त हो जाती हैं । अतः न्यूनाधिकभाव के नहोने के कारण भी क्रियाओं में उपमानोपमेयभाव नही हो सकता ।[1] इसको भर्तृहरि ने उदाहरण प्रस्तुत कर स्पष्ट किया है कि गमन क्रिया के साधक पक्षादि जिन हेतुओं के कारण हंस को "पतति" यह कहा जाता है उन्हीं पक्षादि हेतुओं के आति नामक पक्षिविशेष में पर्याप्त सम्बन्ध से वर्तमान रहने के कारण आतिपतन में उपमानोपमेयभावरूप उपमार्थ नहीं रहता । क्योंकि हंसपतन की अपेक्षा आति पतन में कोई न्यूनाधिकभाव नहीं होता ।[2] सजातीय क्रियाओं के ही नहीं विजातीय क्रियाओं के भी उपमानोपमेयभाव का भर्तृहरि ने निषेध प्रतिपादित किया है । पचति गच्छति आदि क्रियाएँ परस्पर अत्यन्त भिन्न होती हैं, इस कारण भी उनमें सादृश्य प्रयुक्त उपमानोपमेयभाव नहीं होता ।[3]

इस प्रकार पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने क्रिया में उपमा की स्थिति को अस्वीकार कर उत्प्रेक्षा को मान्यता दी है इसी आधार पर साहित्यशास्त्रियों ने "लिम्पतीव तमो०" को उत्प्रेक्षा का उदाहरण माना तथा यहाँ उपमा की आशङ्का का निवारण किया । दण्डी ने स्पष्ट रूप से कहा भी है कि "तिङन्त अथवा क्रियारूप के साथ उपमान नहीं होता" आप्तों के इस कथन को न जानने के कारण ही इव शब्द का प्रयोग देखकर कुछ आचार्य उक्त उदाहरण को उपमा का स्थल मान बैठते हैं वस्तुतः तो जहाँ

1- न्यूनेषु चासमाप्तार्थमुपमानं विधीयते ।
क्रिया चैवाश्रये सर्वा तत्र तत्र समप्यते । वही 55

2- येनैव हेतुना हंसः पततीत्यभिधीयते ।
आतौ तस्य समाप्तत्वादुपमार्थो न विद्यते ।। वही 56

3- क्रियाणां जातिभिन्नानां सादृश्यं नावधार्यते ।
सिद्धेश्च प्रक्रमे साध्यमुपमातुं न शक्यते ।। वही 57

भी क्रिया के साथ इव प्रयुक्त रहेगा या अप्रयुक्त उत्प्रेक्षा की सामग्री के रहने पर उत्प्रेक्षा अलङ्कार ही होगा ।[1] कर्तृलक्षण लिम्पति क्रिया की उपमानता का प्रतिपादन करने वालों के मत का खण्डन करने में भी दण्डी वैयाकरणों से प्रभावित हैं । "लिम्पति" इस तिङन्त से प्रतिपाद्य लेपन रूप व्यापार के आश्रयकर्ता को उपमेयभूत तमस् का उपमान नहीं माना जा सकता क्योंकि यह कर्ता लिम्पति इस क्रियापद में अथवा तत्प्रतिपाद्य व्यापार में तिरस्कृत रहता है अत: उस तिरस्कृतकर्ता का उपमानत्व नहीं हो सकता, लेपनरूप अपनी क्रिया के साधन में व्यग्र अर्थात् चरितार्थ यह कर्ता अन्य कार्य सिद्ध करने में अर्थात् तमस् का उपमानरूप विशेषण बनने में समर्थ नहीं हो सकता ।[2] वैयाकरण स्पष्ट रूप से कर्ता का न्यग्भूतत्व तो स्वीकार ही करते हैं क्योंकि इन्हें क्रियामुख्य-विशेष्यकबोधमान्य है, कर्तृमुख्यविशेष्यक-बोध नहीं ।[3]

अत: इस विवेचन से स्पष्ट है कि क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा की परिकल्पना में काव्यशास्त्री वैयाकरणों से पूर्णत: प्रभावित हैं । काव्यशास्त्रियों ने महाभाष्यकार तथा भर्तृहरि को आधार मानकर ही क्रिया के उपमानत्व का निषेध कर उनमें उत्प्रेक्षा की स्थिति स्वीकार की है ।

विरोध

वास्तविक रूप से विरोध न होने पर भी दो पदार्थों का विरुद्धत्वेन

1- केषाञ्चिदुपमाभ्रान्तिरिवश्रुत्येह जायते ।
नोपमानं तिङन्तेनेत्यतिक्रम्याप्तभाषितम् ।। काव्यादर्श 2/227

2- कर्ता यद्युपमानं स्यान्न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे ।
स्वक्रियासाधनव्यग्रो नालमन्यदपेक्षितुम् ।। वही 2/230

3- फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृता: ।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम् ।। वै०भू० पृ० ।।

अभिधान विरोध नामक अलङ्कार है । विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक पदादि के अन्यार्थपरक होने के कारण वस्तुत: अविरोध में भी आपाततः विरोध की प्रतीति होती है । काव्यशास्त्रियों ने महाभाष्यकार को अभिप्रेत जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य रूप चारों पदार्थों के परस्पर विरोध के आधार पर इस विरोध अलङ्कार के दश भेद प्रतिपादित किये हैं ।

जाति का जात्यादि चारों से, गुण का गुण, क्रिया एवं द्रव्य से, क्रिया का क्रिया एवं द्रव्य से तथा द्रव्य का द्रव्य से विरोध हो सकता है अत: विरोध के दश भेद माने गये हैं ।[1] इसके भेदों के निर्धारण में वैयाकरणों का स्पष्ट प्रभाव है । पदार्थों के चार रूपों को स्वीकार करने के कारण ही दण्डी ने स्वभावोक्ति विशेषोक्ति आदि अलङ्कारों में भी भेदादि का प्रतिपादन किया है ।

स्वभावोक्ति

जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य रूप पदार्थों के विभिन्न अवस्थाओं में प्रकट होने वाले, स्वरूप का कथन स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।[2] दण्डी ने जातिगत स्वभावोक्ति का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है -

तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः ।

त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुकाः ।। काव्यादर्श 2/9

यहाँ शुकजाति मात्र के धर्मों का स्वभावकथन किया गया है । इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दण्डी द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं ।[3]

1- जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैः विरुद्धा स्याद्गुणस्त्रिभिः
क्रियाद्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश । का०प्र० पृ० 664·

2- नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ।। काव्यादर्श 2/8

3- काव्यादर्श 2/10-12·

विभावना :

जहाँ किसी कार्य के लोकप्रसिद्ध कारण का निषेध दिखाकर उस कार्य के प्रति अन्य किसी कारण की विभावना की जाय अथवा उस कार्य की स्वभावसिद्धता की कल्पना की जाय वहाँ विभावना अलङ्कार होता है ।[1] इस अलङ्कार की परिभाषा में दण्डी, भोज,[2] विश्वनाथ[3], आदि कुछ आचार्य तो हेतु का शब्दशः उपादान कर उसका निषेध स्वीकार करते हैं किन्तु भामह[4], मम्मट[5] आदि आचार्य कारण के स्थान में क्रिया शब्द का ही उपादान करते हैं। वैयाकरण क्रिया को हेतु या कारण कहते हैं । पाणिनि ने स्पष्ट रूप से "शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्य: करणे" (पा०सू० 3/1/17) इस सूत्र में करण को क्रिया शब्द का पर्यायवाची माना है । अभिप्राय यह है कि पाणिनि क्रिया के अर्थ में करण शब्द का प्रयोग कर दोनों को पर्याय मानते हैं । अत: क्रिया की कारणार्थकता वैयाकरणों की दृष्टि से उपपन्न है । "क्रियते अनया इति क्रिया" इस व्युत्पत्ति से भी क्रिया शब्द की कारणार्थपरता का समर्थन होता है । इस प्रकार वैयाकरणों के प्रभाव के कारण ही भामह मम्मट आदि आचार्य कारण शब्द का प्रयोग न करकर कारणार्थपरक क्रिया शब्द का ही इस अलङ्कार की परिभाषा में प्रयोग करते हैं । कारण शब्द का प्रयोग करने वाले अथवा क्रिया शब्द का प्रयोग करने वाले समस्त काव्यशास्त्रियों का अभिप्राय एक ही है कि कारण के निषेध में भी तत्कारणकृत कार्यरूप फल की अभिव्यक्ति विभावना अलङ्कार है ।

1- प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किञ्चित् कारणान्तरम् ।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ।। काव्यादर्श 2/199

2- सर स्व० 3/9

3- विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते । सा०द० 10/66

4- क्रियाया: प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति । भामह,का०अ० 2/77

5- क्रियाया: प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना । का०प्र०पृ० 656·

परिसंख्या :-

स्वसदृश अन्य वस्तु के व्यवच्छेद रूप प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य प्रयोजन न होने के कारण स्वसदृश अन्य वस्तु के वर्जन के लिए अन्य शास्त्रादि प्रमाणों के द्वारा ज्ञात भी वस्तु का जो उपपादन किया जाता है वह परिसंख्या अलङ्कार है ।[1] इस अलङ्कार में विद्यमान परि शब्द वर्जन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा संख्या शब्द बुद्धि अर्थ में । अत: वर्जनबुद्धि ही परिसंख्या है । आचार्य पाणिनि के द्वारा परिशब्द का वर्जन अर्थ माना गया है । पाणिनि ने "परेवर्जने" {पा0सू0 8/1/5} सूत्र के द्वारा वर्जन रूप अर्थ के द्योत्य रहने पर परि शब्द के द्विर्वचन का विधान किया है । उदाहरण है - "परि परि वङ्गान् वृष्टो देव:" । इसका अर्थ है कि वङ्गदेश को छोड़कर अन्यत्र देव ने वर्षा की । इस प्रकार पाणिनि के अनुसार "परि" की वर्जनार्थकता सिद्ध है, इसी आधार पर साहित्य-शास्त्रियों ने "परिसंख्या" में परि शब्द का वर्जन अर्थ तथा संख्या का संख्यों के अनुसार बुद्धि अर्थ मानकर इस अलङ्कार का स्वरूप स्पष्ट किया है ।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्रियों को अन्य तत्त्वों के विवेचन के साथ साथ अलङ्कार तत्त्व की अपनी धारणा को विकसित करने में वैयाकरणों से पर्याप्त सहायता मिली है । इन्होंने अनेक अलङ्कारों का स्वरूप वैयाकरणों के विचारों के अनुरूप ही निर्धारित किया है । अलङ्कारों में पारिभाषिक शब्दवाली के प्रयोग में तथा उनके भेदोपभेदों के प्रतिपादन में अनेकत्र काव्यशास्त्री वैयाकरणों से प्रभावित हैं । इससे एक तथ्य यह भी स्पष्ट होता है कि ये व्याकरण के सूक्ष्म तथ्यों से पूर्णत: परिचित थे तभी तो मम्मट ने असङ्गति अलङ्कार में "अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थिते:" वैयाकरणों की इस पारिभाषिक शब्दावली का उपादान कर अपना सिद्धान्त दृढ किया है । दण्डी तो स्पष्ट रूप से "लिम्पतीव0" आदि में उपमा मानने पर आप्त वैयाकरणों के सिद्धान्त का विरोध दिखाकर उत्प्रेक्षाको ही मान्यता प्रदान करते हैं।

1- किञ्चिद् पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ।। का0प्र0पृ0 703.

षष्ठ-अध्याय

व्याकरणतन्त्र एवं काव्यदोष

व्याकरण तथा साहित्य में दोषों के परिहार की आवश्यकता :

किसी वस्तु के उत्कर्ष का प्रतिपादन करने के लिए जिस प्रकार गुण अलङ्करण आदि उत्कर्षकारक साधनों का उपादान किया जाता है उसी प्रकार उत्कर्ष के विघातक दोषों के निवारण का भी यावच्छक्य प्रयास किया जाता है । अत्यधिक सुन्दर रचना भी दोषों की स्थिति में उसी प्रकार दूषित हो जाती है जिस प्रकार सुन्दर शरीर एक ही कुष्ठ दोष के कारण विरूप हो जाता है । अतएव समस्त आचार्य अपने अपने शास्त्रों में आपतित दोषों के परित्याग में सन्नद्ध रहते हैं ।

पाणिनि कात्यायन तथा पतञ्जलि शब्दों के साधु स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए दुष्ट प्रयोगों के परिहार पर अत्यधिक बल देते हैं । व्याकरण-शास्त्र की प्रवृत्ति ही शब्दों के साधुस्वरूपज्ञान के द्वारा उनके असाधुत्व के परिहार के लिए हुई है । महाभाष्यकार आदि वैयाकरणों के अनुसार असाधु शब्द अनन्त हैं, इन शब्दों के प्रयोग से यद्यपि सामान्य रूप से अर्थ का बोध होता है किन्तु उचित, असंदिग्ध तथा शोभन अर्थ का बोध साधु शब्दों से ही सम्भव है । पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से साधुशब्दों के प्रयोग से समस्त अभीष्ट स्वर्गादि वस्तुओं की उपलब्धि को प्रतिपादित कर दोषयुक्त शब्दों के प्रयोग से होने वाले अनर्थों का पस्पशाह्निक में व्याकरण की सप्रयोजन सिद्ध करते समय विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है ।

अपशब्दों के भाषण से उसी प्रकार पराजय होती है जैसे "हेलयः", "हेलयः" इस दोषयुक्त प्रयोग के कारण असुरों की पराजय हुई थी । स्वरदोष अथवा वर्णदोष से युक्त शब्द जिस अर्थ की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त होता है उस अर्थ का बोध न कराकर वह अनपेक्षित अर्थ का ही बोध कराता है यही अनर्थ का मूल है। यदि किसी के हित साधन के लिए दोषयुक्त वाणी का प्रयोग होता है तो उससे उसका हित न होकर अहित ही हो जाता है । जो व्यक्ति शब्दों का समुचित प्रयोग करता है वह तो अनन्त जय को प्राप्त

करता है किन्तु जो व्यक्ति दुष्ट शब्द का प्रयोग करता है वह अपने अभीष्ट का स्वत: विघात कर लेता है । इस विवेचन में महाभाष्यकार एक तथ्य यह भी स्पष्ट करते हैं कि असाधु शब्द अनन्त है उनका परिगणन या विवेचन अशक्य है अत: व्याकरण द्वारा साधुशब्दों के स्वरूप का निर्धारण हो जाने पर उनका ज्ञान स्वत: हो जाता है । जैसे गाय अर्थ में गो शब्द की साधुता या अदुष्टता का ज्ञान हो जाने पर समस्त गावी, गोणी, गोता आदि शब्दों का असाधुत्वकृत अप्रयुक्तत्व स्पष्ट हो जाता है ।[1]

इस प्रकार वैयाकरणों ने शब्दों की दुष्टता को अभीष्ट का विघातक मानते हुए उनके प्रयोग का निषेध कर साधु शब्दों के प्रयोग पर जोर दिया तथा उन्हीं का सुस्पष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया साधु शब्दों का स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर असाधु शब्दों का स्वरूप स्वत: स्पष्ट हो जाता है अत: उनका पृथक् विवेचन अनावश्यक समझा गया । यद्यपि वैयाकरण लोकव्यवहार को शब्दों के अर्थनिर्धारण का सर्वोत्तम साधन मानते हैं तथापि ये विशिष्ट अर्थों में विशिष्ट शब्द के ही साधुत्व का प्रतिपादन करते हैं । तदतिरिक्त अर्थ में उस शब्द का प्रयोग दोषयुक्त होता है । उदाहरण के लिए भोज्य शब्द का प्रयोग खाने योग्य पदार्थ के लिए ही उचित माना जायेगा, खाद्य पदार्थ के अतिरिक्त उपभोग के योग्य पदार्थ के लिए अनुचित तथाच भोग्य का प्रयोग भोजन योग्य अर्थ में अनुचित होगा जबकि उपभोग योग्य अर्थ में उचित । इसी प्रकार पाणिनि कात्यायन आदि आचार्यों ने अनेक शब्दों का अर्थविशेष में साधु तथा अन्यत्र असाधु कहा है । इनके समस्त विवेचन का उद्देश्य यही रहा कि अदुष्ट शब्दों के प्रयोग से हमें जिस अभीष्ट की प्राप्ति हो सकती है उसकी दुष्ट शब्दों के प्रयोग से प्राप्ति तो दूर रही अपना स्वयं का भी अनिष्ठ हो जाता है ।

वैयाकरणों की इसी धारणा का प्रभाव काव्यशास्त्रियों पर भी पड़ा ।

1- महाभाष्य पस्पशा०

इनका मुख्यप्रतिपाद्य रस था । इस रस के उत्कर्ष के लिए जहाँ इन्होंने गुणों अलङ्कारों रीतियों एवं वृत्तियों की आवश्यकता का अनुभव किया वहीं उसके विघातक दोषों की भी विस्तारपूर्वक व्याख्या कर उनके अप्रयोग पर अत्यधिक जोर दिया । काव्यशास्त्रियों ने काव्य में निर्दोषता की सर्वाधिक अपेक्षा की । इसी धारणा से उन्होंने सम्यक् प्रयुक्त वाणी को समस्त अभीष्ट का प्रतिपादक स्वीकार किया तथा दुष्प्रयुक्त वाणी को अनर्थकारी कहा । वैयाकरण जहाँ अप्रयोक्तव्य शब्दों का आनन्त्य के कारण विश्लेषण न कर प्रयोक्तव्य साधु शब्दों के स्वरूपज्ञान को ही अपना प्रतिपाद्य स्वीकार कर उन्हीं का विवेचन कर सन्तुष्ट हो गये वहाँ समस्त काव्यशास्त्री स्पष्ट रूप से काव्यदोषों की गणना करते हुए उदाहरणादि के द्वारा उनके स्वरूप का विधिवत् विवेचन करते हैं । इसका कारण है कि शब्दों के असंख्य होने के कारण उनमें असंख्य तथा अपरिमित दोष भी हो सकते हैं । वैयाकरणों का क्षेत्र बहुत व्यापक है, समस्त शब्दप्रयोग ही उनका विवेच्य है अतः शब्दों के प्रयोगक्षेत्र की व्यापकता के कारण उनमें सम्भव दोषों की गणना अशक्य है इतना अवश्य स्पष्ट है कि लक्षणों के द्वारा शब्दों के साधुस्वरूप के ज्ञान से असाधुशब्दों का स्वरूप स्वतः समझ में आ जाता है । किन्तु काव्यगत दोषों की संख्या तथा उसके प्रकार अधिक होने पर भी असंख्य नहीं कहे जा सकते। एक निश्चित आधार को लेकर बनायी गयी रचना में सम्भव दोषों के परिगणन अशक्य नहीं है । अतएव आचार्य भरत से लेकर सम्पूर्ण काव्यशास्त्रियों ने दोषों की संख्या, स्वरूप आदि को निर्धारित करते हुए उनकी हेयता का प्रतिपादन किया है ।

वाणी के सर्वातिशायी महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य दण्डी ने सम्यक् प्रयुक्त वाणी को समस्त अभीष्टों का प्रतिपादक कहा है तथा दोषपूर्ण वाणी को प्रयोक्ता के मूर्खत्व का अभिव्यञ्जक माना है वाणी के सुप्रयोग का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है दोषों का परिहार तथा दोषों से युक्त रचना वाणी के दुष्प्रयोग का रूप है । इन्होंने काव्य में दोषों के

परिहार के लिए अत्यधिक जोर दिया है । इनके अनुसार जिस प्रकार सुन्दर शरीर भी केवल एक कुष्ठ दोष के कारण विरूप हो जाता है उसी प्रकार अलङ्‌कृत काव्य भी एक ही दोष की विद्यमानता में दूषित हो जाता है ।[1] दोषयुक्त काव्य में विद्वानों की प्रवृत्ति कथमपि नहीं हो सकती तथा इस प्रकार का काव्य जिस उद्देश्य के लिए प्रयुक्त होता है वह उसका भी साधन नहीं कर सकता अत: शास्त्रादि के ज्ञान के द्वारा दोषों के परिहार के लिए प्रयत्न करना चाहिए । आचार्य भामह काव्यनिर्माण के लिए शब्द एवं अर्थ के निर्दिष्ट स्वरूप के ज्ञान को आवश्यक मानते हैं । इन्होंने कहा है- काव्य में एक भी दुष्ट पद का प्रयोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि दोषयुक्त पद के प्रयोग से कवि को उसी प्रकार निन्दा का भाजन बनना पड़ता है जिस प्रकार दुष्ट पुत्र के कारण पिता को । कवि न बनना उतना अनर्थकारी नहीं है जितना कि दोषयुक्त शब्दों का प्रयोग कर काव्य का निर्माण करना । काव्य का निर्माण न करने वाला व्यक्ति कीर्ति इत्यादि की प्राप्ति भले ही न करे किन्तु मनीषियों ने दोषपूर्ण काव्य के निर्माण को साक्षात् मृत्यु कहा है ।[2] स्पष्ट है कि विवेकी व्यक्ति दोषयुक्त काव्य को जब भी देखेगा तो वह काव्यनिर्माता की निन्दा अवश्य करेगा । आचार्य वामन काव्य की उपादेयता को सौन्दर्य पर आधारित मानते हैं । इनके अनुसार इस सौन्दर्य का प्रयोजक गुणालङ्‌कार का आदान, अर्थात् गुणालङ्‌कार का कविताओं में प्रयोग तथा सम्भावित दोषों का परित्याग ही है । आचार्य भरत के समान इन्होंने दोषोंके गुणों का विपर्यय रूप माना है[3], गुण काव्य की

1- तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथं चन ।
स्याद्वपु: सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।। काव्यादर्श 1/7

2- सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दु:सुतेनेव निन्द्यते ।।
अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्व पुन: साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिण: ।। भामह, का0अ0 1/11-12

3- क-स दोषगुणालङ्‌कारहानादानाभ्याम् । का0सू0वृ0 1/3/1
ख-गुणविपर्ययात्मानो दोषा: । वही 2/1/1

शोभा में उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं... , अतः इनको अभिमत दोष का सामान्य लक्षण हुआ – काव्य की शोभा का विघात करने वाले तत्त्व दोष हैं । इस प्रकार इन आचार्यों के मत से यह सिद्ध है कि काव्य में गुणों का आदान उतना आवश्यक नहीं है जितना कि दोषों का निरास । इन आचार्यों के समान ही परवर्ती आचार्यों ने भी दोषों के परिहार को काव्यों में आवश्यक स्वीकार किया है । इसीलिए आचार्यों ने गुणों एवं अलङ्कारों के विवेचन से पहले ही दोषों का समुचित स्वरूप स्पष्ट किया है । भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में प्रथमतः दोषों की संख्या एवं उनका स्वरूप निर्धारित कर स्पष्ट रूप से कहा है कि पदों, वाक्यों एवं वाक्यार्थों के दोषों को जो कवि हेय अर्थात् त्याज्य रूप में जानता है वही काव्य का निर्माण कर सकता है ।[1] वाग्भट भी प्रथमतः प्राधान्येन दोषों के विवेचन का औचित्य प्रतिपादित करते हुए मानते हैं कि दोषरहित काव्य ही कीर्ति तथा स्वर्ग आदि अभीष्टों का साधक है अतः दोषों के परिहार्य होने के कारण प्रथमतः उन्हीं की व्याख्या की जायेगी ।[2]

काव्यदोषों के आश्रय :

काव्यतत्त्व की भारतीय समीक्षा के विभिन्न सम्प्रदाय अपने अपने सिद्धान्तों के अनुरूप काव्य के आधारभूत प्राणतत्त्व को उत्कर्षयुक्त तथा अक्षत

1- एवं पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च यः कविः ।
दोषान् हेयतया वेत्ति स काव्यं कर्तुमर्हति ।। स०क० 1/58

2- अदुष्टमेव तत्कीर्त्यै स्वर्गसोपानपङ्क्तये ।
परिहार्यानतो दोषांस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे ।। वा०लं० 2/5

बनाए रखने के लिए कुछ तत्त्वों की उपादेयता का जहाँ प्रतिपादन करते हैं वहीं आवश्यक रूप से कुछ तत्त्वों को हेय भी मानते हैं । भामह दण्डी आदि प्राचीन आचार्य गुणों तथा अलङ्कारों की भाँति दोषों का भी आधार शब्द एवं अर्थ को ही मानते हैं । इन आचार्यों ने कुछ दोषों की अवस्थाविशेष में मूलभूत उद्देश्य का विघात न करने के कारण अदोषता का प्रतिपादन किया है । इसीलिए कुछ दोषों को नित्य तथा कुछ को अनित्य मानने की धारणा का विकास हुआ । नित्य उन्हें माना गया जो सभी स्थितियों में हेय ही होते हैं तथा अनित्य उन दोषों को कहा गया जो स्थितिविशेष में उपादेय नहीं तो कम से कम हेय नहीं होते । यद्यपि भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने शब्दतः यह नहीं कहा कि अमुक दोष नित्य तथा अमुक दोष अनित्य है तथापि इन्होंने कुछ दोषों की अवस्थाविशेष में अदोषता स्वीकार कर उनकी अनित्यता को अपनी मौन स्वीकृति प्रदान की है। भामह ने स्पष्ट रूप से दोषयुक्त "गण्ड" आदि पदों की सन्निवेशवैशिष्ट्य के कारण तथा "विलम्न" आदि पदों की आश्रयसौन्दर्य के कारण अदोषता स्वीकार की है ।[1] आचार्य दण्डी तो भामह से भी एक कदम आगे बढ़ गये हैं । इन्होंने दोषों का विवेचन करने के अनन्तर प्रतिपादित किया है कि कभी कभी कवि की कुशलता के कारण देशकालकलादिगत विरोध नामक काव्यदोष अपनी दोषवत्ता का परित्याग कर गुण की परिधि में आ जाता है ।[2] जैसे –

"तस्य राज्ञः प्रभावेण तदुद्यानानि जज्ञिरे ।

आर्द्रांशुकप्रवालानामास्पदं सुरशाखिनाम् ।।" काव्यादर्श 3/180

1- सन्निवेशवशात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ।।
किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ।। भामह,का०अ०1/54-55

2- विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ।। काव्यादर्श 3/179·

इस उदाहरण में नन्दनवन के वृक्षों की मर्त्यलोक में सम्भवता का वर्णन देशविरुद्ध होने के कारण सदोष था, किन्तु वर्ण्य राजा के प्रभावातिशय का उसके कारण के रूप में उपस्थापन होने से एवं उसके द्वारा उपपादित "हेतु" तथा "उदात्त" अलङ्कारकृत चमत्कार होने से यहाँ देशविरोधरूप सम्भावित दोष गुण बन गया है । दण्डी ने इसी प्रकार अन्य कालादिगत विरोध नामक काव्यदोष की गुणरूपता का भी सोदाहरण विवेचन किया है । भोज आदि आचार्य भी इस विषय में दण्डी आदि का ही अनुकरण करते हैं । इस रूप में इन आचार्यों द्वारा दोष को अनित्य मानने से यह सिद्ध होता है कि वस्तुत: दोषों का साक्षात् सम्बन्ध रससे होता है शब्द एवं अर्थ भर से नहीं । अन्यथा भामह जिस "विलम्न" पद को श्रुतिकटु होने के कारण सदोष मानते हैं वह "विलग्न" पद आश्रयविशेष से सम्बद्ध होने पर भी अदोष न होकर सदोष ही बना रहता क्योंकि उसकी पदरूपता तो दोनों ही जगह एक सी है । अत: दोषों को शब्द एवं अर्थ का साक्षात् धर्म न मानकर रस का ही धर्म मानना चाहिए । "दोष रस के ही विघातक हैं" यह धारणा भामह आदि के विवेचन में अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान थी, इस धारणा को सर्वप्रथम स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त किया है आचार्य आनन्दवर्धन ने । ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के बाद आचार्य इस तथ्य को स्वीकार कर अपने शब्दों में व्यक्त करने लगे कि दोष आदि मुख्यभूत रस तत्त्व के साक्षात् धर्म हैं ध्वनिवादियों की स्पष्ट मान्यता है कि दोष रससापेक्ष होते हैं, मुख्यार्थभूत रस का जिनसे विघात हो रहा हो वे दोष कहलाते हैं, रस का आश्रय होने के कारण वाच्यार्थ का भी दोषों से विघात होता है । शब्दादि रस एव वाच्यार्थ की अभिव्यक्ति में उपयोगी होते हैं इसलिए इनमें भी दोषों का आरोप किया जाता है । सर्वप्रथम ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने दोषों का निम्नलिखित व्यवस्थित सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया है -

"मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्य: ।
उभयोपयोगिन: स्यु: शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स: ।। का०प्र० ४९ ·

दोष वह है जिससे मुख्य अर्थ का विघात हो रहा हो । प्राय: रस ही कवि का मुख्य प्रयोजन होता है अत: रस ही मुख्यार्थ माना जाता है तथा च हति का अर्थ यद्यपि विनाश भी होता है किन्तु रस के प्रसङ्ग में उसका अर्थ अपकर्ष ही निर्धारित होगा, क्योंकि रस का दोषों के प्रयोग से अपकर्ष ही हो सकता है विनाश नहीं, दुष्ट प्रयोगों मे भी सहृदयों को रस की अनुभूति तो होती है । मम्मट के टीकाकार झलकीकर इसी अभिप्राय से दोष को उद्देश्य की प्रतीति का विघातक कहते हैं ।[1] वस्तुत: उद्देश्यभूत रस की ही प्रतीति का अपकर्ष दोषों के प्रयोग से होता है । इसीलिए मम्मट के परवर्ती विश्वनाथ[2] हेमचन्द्र[3] आदि काव्यशास्त्रियों ने स्पष्ट रूप से रसापकर्षक को ही दोष कहा है । रस का आधार वाच्य अर्थ होता है, इसका कारण है - स्थानीय विभावादिरूप वाच्यार्थ का ही रस का व्य जक बनना । अत: परम्परया दोषों से वाच्यार्थ का भी अपकर्ष होता है । रस तथा वाच्यार्थ के अवधारण में उपकारक होने के कारण पद, पदार्थ भी दोषों के आश्रय बन जाते हैं अर्थात् इनका भी अपकर्ष दोषों के प्रयोग से माना जाता है इस प्रकार कुछ तो रस दोष होते हैं जो साक्षात् रस की प्रतीति में बाधक बनते हैं तथा कुछ शब्ददोष अर्थदोष तथा वाक्यादिदोष होते हैं जो रसादि के उपकारकों के विघातक होने के कारण रस का परम्परया अपकर्ष प्रतिपादित करते हैं ।

आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से दोषों से आत्मभूत रस की प्रतीति का विघात स्वीकार करते हुए माना है कि जिस प्रकार काणत्व, खञ्जत्व आदि दोष शरीर को दूषित करते हुए उसमें रहने वाले आत्मतत्त्व की

1- उद्देश्यप्रतीतिविघातको दोष: । वही, बा०बो० पृ० 265

2- (क) रसापकर्षका दोषा: । सा०द० 7/1
   (ख) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्, दोषास्तस्यापकर्षका: । वही 1/3

3- तस्यापकर्षहेतवस्तु दोषा: । काव्यानु० पृ० 34

हीनता को सूचित करते हैं उसी प्रकार काव्य के शरीरस्वरूप शब्द तथा अर्थ में क्रमशः श्रुतिदुष्टत्व तथा अपुष्टार्थत्व आदि दोष प्रथमतः शब्द तथा अर्थ को दूषित कर उसके द्वारा काव्य में आत्मभूत रस का अपकर्ष सूचित करते हैं । तथा च जिस प्रकार मूर्खत्व आदि साक्षात् ही आत्मा का अपकर्ष सूचित करते हैं वैसे ही विभावादि के स्वशब्दवाच्यत्व आदि दोष रस का साक्षात् अपकर्ष करते हैं । काव्य के प्राणभूत रस की प्रतीति का साक्षात् या परम्परया जिन दोषों के कारण अपकर्ष हो जाय वे काव्यदोष कहलाते हैं क्योंकि इन दोषों से काव्य का अपकर्ष बोधित होता है ।[1] गुणों को रस का स्थिर धर्म माना गया है क्योंकि गुणों से रस का उत्कर्ष अवश्य होता है । दोष गुणों के विपरीत हैं अतः उनसे अपकर्ष रस का ही होता है । हेमचन्द्र ने भी गुणों के समान दोषों की भी रसधर्मता का प्रतिपादन करते हुए दोषों को शब्द एवं अर्थ में आरोपित माना है ।[2]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्री दोषों को रस, वाच्य, शब्द, तथा शब्दार्थ का विघातक मानकर उन्हें हेय कहते हैं । मुख्यतः दोषों को मूलभूत उद्देश्य का अपकारक होने के कारण ही समस्त आचार्यों द्वारा त्याज्य माना गया है । शास्त्रकारों ने काव्यनिर्माण का यश की प्राप्ति, धन की प्राप्ति, अकल्याणनाश तथा सकल प्रयोजनों में प्रधान सद्यः परमानन्द की प्राप्ति को प्रयोजन माना है । इन प्रयोजनों की समुचित उपलब्धि काव्य से तभी हो सकती है जब काव्य में दोषों का कोई स्थान न हो । दोषों की विद्यमानता में अभीष्ट की प्राप्ति तो होती ही नहीं

1- श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव साक्षात् काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः रसस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते । सा० द० पृ०21

2- रसस्योत्कर्षहेतू गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयोः । काव्यानु० 1/12

साथ ही अनिष्ट भी होता है । काव्यशास्त्रियों की अपनी इस धारणा के विकास में भी वैयाकरणों से पूर्ण सहयोग मिला है । वैयाकरणों ने स्पष्ट रूप से साधु अर्थात् दोषरहित शब्दों के प्रयोग से ही अपने अपने अभीष्ट अभ्युदय-प्राप्ति तथा स्वर्गप्राप्ति आदि की सम्पन्नता को स्वीकार किया है तथा च असाधु शब्दों के प्रयोग से उद्देश्यभूत अभीष्ट का विनाश माना है । काव्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों से असाधुप्रयोग के परिहार की मूलभूत प्रेरणा को प्राप्त कर ही काव्यदोषों के स्वरूप को स्पष्ट कर उनकी हेयता पर जोर दिया है । यह तो स्पष्ट ही है कि जहाँ कुछ गुणालङ्कारादि के प्रयोग से काव्य में उत्कृष्टता आती है वहीं दोषों के प्रयोग से अपकृष्टता आ जाती है ।

काव्य में आचार्यों द्वारा निषिद्ध अभिमत प्रतीति के विपरीतमार्गी, अनपेक्षित, हेय, वर्ज्य अथवा नेष्ट दोष रस, वाच्यार्थ तथा काव्यशरीर का किस प्रकार अपकर्ष करते हैं, इस तथ्य को काव्यप्रदीप में स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया गया है कि दोष युक्त काव्य में काव्य के सौन्दर्य का सुखपूर्वक आस्वाद नहीं हो सकता अथवा दोषों से काव्य की उत्कृष्टता समाप्त हो जाती है, तथा काव्य के चमत्कार का भी इनसे विघात हो जाता है । अत: ये हेय हैं ।

आचार्यों द्वारा दोषों का परिगणन -

आचार्य भरत से लेकर अर्वाचीन समीक्षकों तक समस्त आचार्यों ने दोषों का स्पष्ट रूप से परिगणन करते हुए उनके स्वरूप की विधिवत् व्याख्या प्रस्तुत की है । भरत ने केवल दस दोषों का ही परिगणन किया है । इनके अनुसार निम्नलिखित दोष हैं -

> गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
> न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषा: ।।
> ना0शा0 16/88

भामह भरत द्वारा प्रतिपादित इन दस दोषों के अतिरिक्त "प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्त हीनं दुष्टं च नेष्यते" कहकर तीन और काव्यदोषों को मान्यता प्रदान करते हैं । किन्तु दण्डी ने उनकी संख्या केवल दस ही मानी है इन्होंने दसों दोषों का परिगणन करने के अनन्तर "प्रतिज्ञाहानि", "हेतुहानि" तथा "दृष्टान्तहानि" भामह को अभिमत इन तीनों को दोष रूप मानने में अरुचि दिखायी है ।[1] इनके अनन्तर भावी भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण में मध्यममार्ग अपनाते हुए दोषों के वर्गीकरण तथा संख्या के निर्धारण में अपनी स्वतन्त्रता का परिचय दिया है इनके अनुसार पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ में काव्यदोष सम्भव हैं । प्रत्येक के सोलह-सोलह भेद मानकर उनकी संख्या इन्होंने अड़तालीस मानी है ।

भोज के परवर्ती मम्मट ने दोष सामान्य का लक्षण करने के अनन्तर जहाँ पदादिगत दोषों की गणना करते हुए उदाहरणों के द्वारा उनके स्वरूप को स्पष्ट किया है वहीं इनसे प्रभावित रसवादी आचार्य विश्वनाथ दोषों के पाँच आश्रय होने से उनका पाँच रूपों में वर्गीकरण करते हैं । विश्वनाथ के अनुसार दोष रस के अपकर्षक होते हैं, ये पद, पदांश, वाक्य, अर्थ तथा रस में भी सम्भव हैं अतः इन्हें पाँच भागों में विभक्त किया गया है । स्पष्ट है कि मम्मट ने तथा उनके प्रभाव से विश्वनाथ ने भी पूर्वाचार्यों को अभिमत केवल शब्ददोष तथा अर्थदोष को ही न मानकर उपर्युक्त पाँच प्रकार के दोषों का आश्रय भेद से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है ।

समस्त आचार्य द्वारा परिगणित दोषों में से कुछ दोष ऐसे हैं जो व्याकरणतन्त्र की पूर्णतः अपेक्षा रखते हैं । इस दृष्टि से शब्दहीन तथा विसन्धि ये दोनों दोष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ।

1- काव्यादर्श 3/125-27

शब्दहीन -

जहाँ कोई पद शब्दशास्त्र के नियमों के विरुद्ध प्रयुक्त होता है उस स्थल में शब्दहीनत्व दोष होता है । आचार्य भरत ने इसे शब्दच्युत कहा है ।[1] भामह इस दोष के विषय में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सूत्रकार अर्थात् आचार्य पाणिनि तथा वार्तिककार कात्यायन की शब्द के अभिमत प्रयोग से विपरीत प्रयोग करने पर आप्तों के अभिप्राय की असिद्धि के कारण इस प्रकार के शब्द प्रयोग में शब्दहीनत्व दोष होता है ।[2] इसी अर्थ में दण्डी ने भी शब्दहीनत्व नामक काव्यदोष की व्याख्या की है ।[3] इन आचार्यों के अनन्तर वामन, भोज तथा मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों ने दोषों की व्याख्या करते हुए इसी शब्दहीन नामक दोष को असाधु, च्युतसंस्कृति आदि शब्दों से अभिहित किया । वस्तुतः व्याकरणशास्त्र में साधु एवं असाधु शब्द जितने स्पष्ट रूप में प्रयुक्त हैं उतना शब्दहीन शब्द नहीं अतः इन आचार्यों का प्रयोग अधिक तर्क संगत है । साधु एवं असाधु शब्द व्याकरण में विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं । इनका क्रमशः अर्थ होता है व्याकरणशास्त्र के नियमों के अनुरूप तथा इसके नियमों के विरुद्ध । इस प्रकार असाधु शब्द अपने आप में स्वतः अन्वर्थ है ।

वामन ने शब्दस्मृति अर्थात् व्याकरण के नियमों के विरुद्ध प्रयोग में असाधु दोष माना है ।[4] भोज ने भी इन्हीं का अनुवाद किया है ।[5] इस दोष के उदाहरण सभी आचार्यों ने पृथक पृथक प्रदान किये हैं । व्याकरण

1- शब्दच्युतं च विज्ञेयमवर्णस्वरयोजनात् । ना०शा० 16/94

2- सूत्रकृत्पादकारेष्टप्रयोगाद् योऽन्यथा भवेत् ।
तमाप्तश्रावका सिद्धेः शब्दहीनं विदुर्बुधाः ।। भामह,का०अ० 4/22

3- शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षणपद्धतिः ।
पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति ।

4- शब्दस्मृतिविरुद्धमसाधु । का०अ०सू० 2/1/5

5- शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्तदसाधु प्रचक्षते । स०क० 1/7

के ज्ञानके बिना असाधुत्व दोष को समझा भी नहीं जा सकता, वैयाकरण ही समझ सकता है कि "बाधति" प्रयोग असाधु है । मम्मट भी इन्हीं आचार्यों के समान व्याकरणलक्षण हीनं प्रयोग में च्युतसंस्कृति दोष का प्रतिपादन करते हैं ।[1] इन्होंने ऐसा उदाहरण[2] प्रस्तुत किया है जिसमें याचन अर्थ में "अनुनाथते" का प्रयोग किया गया है व्याकरण की दृष्टि से "अनुनाथते" का प्रयोग आशिष अर्थ में ही सम्भव है,[3] याचन अर्थ में यहाँ "अनुनाथति" का ही प्रयोग होना चाहिए था । यह असाधुत्व दोष वामन, भोज, तथा मम्मट आदि आचार्यों के द्वारा स्पष्ट रूप से पददोषों में परिगणित हुआ है । मम्मट ने वाक्यदोषों तथा पदांशगत दोषों का विवेचन करते समय स्पष्ट रूप से च्युतसंस्कृति असमर्थ तथा निरर्थक इन तीन दोषों को वाक्यादिगत दोषों से बहिर्भूत माना है । अर्थात् ये पदगतदोष ही हैं, वाक्यादिगत नहीं । यद्यपि व्याकरणनियमों से सिद्ध प्रयोगों में अप्रयुक्तत्वादि दोषों की आचार्यों ने उद्भावना की है क्योंकि उन्हें काव्य के समस्त पक्षों पर विचार करना था तथा च उन्होंने स्थितिविशेष में कुछ दोषों का परिहार भी माना है तथापि असाधुत्व दोष ऐसा है जो विद्वानों का उद्वेजक होने के कारण सर्वथा हेय अर्थात् त्याज्य ही होता है । अन्यथा प्रयोक्ता का अभीष्ट सिद्ध न होकर उसके अनिष्ट की ज्यादा सम्भावना रहती है ।

2· विसन्धि -

विसन्धि को आचार्यों ने वाक्यदोष माना है विसन्धि का अर्थ है सन्धि की विरूपता । सन्धि की विरूपता तीन प्रकार से होती है । विश्लेष, से अश्लीलत्व से तथा कष्टत्व से । व्याकरण नियमों से प्राप्त संहिता कार्य का अभाव विश्लेष है । विश्लेष कहीं कहीं तो विवक्षा के

1- च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम् । का० प्र० पृ० 268

2- --- दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः । वही पृ० 269

3- आशिषि नाथः'(पा० सू० 2/3/55)

आधीन होता है तथा कहीं कहीं उसका अनुशासन किया जाता है । एक पद में, धातु एवं उपसर्ग के मध्य तथा समास में सन्धि नित्य मानी गयी है इनमें सन्धि का प्रयोग न करने पर असाधुत्व दोष होता है किन्तु वाक्य में सन्धि विवक्षा के ही आधीन होती है अर्थात् वैकल्पिक । आनुशासनिक विश्लेष कभी प्रगृह्यसंज्ञाप्रयुक्त होता है तथा कभी असिद्धिकृत । सन्धि से कहीं कहीं अश्लीलता तथा कष्टत्वदोष भी होते हैं । वामन ने सन्धिविश्लेष के निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं -

"मेधानिलेन अमुना एतस्मिन्नद्रिकानने" । का०अ०सू०पृ० 66

यहाँ अनिलेन+अमुना तथा अमुना + एतस्मिन् में क्रमशः दीर्घ तथा वृद्धि सन्धियाँ नहीं की गयी हैं । तथा च - "कमले इव लोचने इमे अनुबध्नाति विलासपद्धतिः, लोलालकानुबद्धानि आननानि चकासति"का०अ०सू० पृ० 66 में "कमले+इव" "लोचने+इमे" "इमे+अनुबध्नाति" प्रयोगों में प्रकृतिभाव सन्धि नहीं की गई । "अनुबिद्धानि + आननानि" में भी यण् सन्धि अप्रयुक्त है । अतः इन स्थलों में सन्धिविश्लेष रूप दोष की स्थिति है । अन्य मम्मट आदि आचार्यों ने इसी प्रकार के स्थलों में विसन्धि दोष का वामन के सदृश ही विवेचन किया है । इस प्रकार शब्दहीनत्व दोष के समान विसन्धित्व दोष भी उद्देश्य का विघातक है, अतः हेय है । इस दोष का भी ज्ञान व्याकरण के बिना नहीं हो सकता ।

इस प्रकार व्याकरण ने दोषों के विवेचन में असाधुत्वादि दोषों के रूप में काव्यशास्त्रियों पर साक्षात् प्रभाव डाला है । इन्होंने अन्य समस्त दोषों को जहाँ हेय माना है वहीं असाधुत्व के परिहार के लिए अधिक जागरूकता दिखायी है । भामह तथा वामन ने तो शब्दशुद्धि नामक एक प्रकरण ही अलग से लिखा है । भामह कुछ शब्दों के साधुप्रयोगों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए प्रारम्भ में समुत्सुक तो दिखायी पड़ते हैं, किन्तु व्याकरण अर्थात् साधुशब्दों के स्वरूप ज्ञान के विवेचन को अपनी शक्ति से

साध्य न समझकर उससे विरत हो जाते हैं।[1] वामन भी सूत्रों का उल्लेख करते हुए कुछ विशिष्ट शब्दों की साधुता अथवा असाधुता का विवेचन करने के अनन्तर अन्य शब्दों की विवेचना पर जोर देते हैं।[2] इन आचार्यों को अन्तत: शब्दों के स्वरूपज्ञान के लिए वैयाकरणों पर ही निर्भर होना पड़ा है। इन्होंने अन्य काव्यदोषों का अपने अपने सम्प्रदाय के अनुरूप अन्वेषण कर विवेचन करने में अपनी मौलिकता का स्पष्ट परिचय दिया है किन्तु कुछ दोषों के निर्धारण में व्याकरणतन्त्र को आधार मानना इनके लिए अपरिहार्य है।

1- सातातुरीयमेतदनुक्रमेण को वक्ष्यतीति विरतोऽहमतोविचारात् ।
भामह, का०अ० 6/62

2- सदसन्तो मया शब्दा विविच्यैवं निदर्शिता: ।
अन्येव दिशाकार्यं शेषाणामप्यवेक्षणम् ।। का०अ०सू०पृ० 247·

सप्तम अध्याय

रससिद्धान्त की प्रेरणा: शब्दब्रह्मवाद

रससिद्धान्त की प्रेरणा । शब्दब्रह्मवाद -

समस्तज्ञानराशि वेदों में महर्षियों के द्वारा रस शब्द आनन्द[1] आदि अर्थों में बहुशः प्रयुक्त हुआ है । वेदों के अनन्तर उपनिषद् ग्रन्थों में समस्त जगत् के मूलतत्त्व को इस शब्द से अभिहित किया जाने लगा था । तैत्तिरीय उपनिषद् में स्पष्टरूप से कहा गया है कि वह अर्थात् मूलतत्त्व रस ही है तथा रसस्वरूप इस तत्त्व की प्राप्ति से मानव को आनन्द की अनुभूति होने लगती है । यहाँ स्पष्ट रूप से इसे आनन्दानुभूति का स्रोत माना गया है ।[2] उपनिषदों में स्थूलतत्त्वों के विवेचन की अपेक्षा सूक्ष्म तथा व्यापक तत्त्वों की व्याख्या में अधिक ध्यान दिया गया है । उन आचार्यों की मूलधारणा यह थी कि मानव को आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिपूर्वक आनन्दादि की अनुभूति का उचित मार्ग सुझाया जाय । वस्तुतः भारतीय दर्शनों का उद्देश्य ही प्राणिमात्र का कल्याण करना था । आचार्यों ने अपने सम्प्रदायों का आश्रय लेते हुए इसी मूल धारणा को प्रधान मानकर अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिए पूर्ण प्रयास किया । प्रतिपाद्य सबका वही था, केवल मार्ग भिन्न-भिन्न थे किसी आचार्य ने ज्ञान को ही इसका उत्तम साधन माना, किसी ने तपस्या को तो किसी ने कर्मकाण्ड आदि को । वैयाकरण आचार्य इन मोक्षसाधकों से सन्तुष्ट न हुए, उन्हें लगा कि ये साधन अपूर्ण हैं फलतः उन्होंने यह माना कि शब्दतत्त्व के स्वरूप को जान लेने से समस्त अभीष्टों की सिद्धि हो जाती है ।[3] व्याकरण इस तत्त्व के स्वरूप को जानने के लिए सरलतम मार्ग है । प्रकृति प्रत्ययादि की कल्पना मात्र व्यवहारनिर्वाह के लिए है, वस्तुतः शब्दतत्त्व अखण्ड अनादि, नित्य तथा सर्वत्र व्याप्त है ।[4] इनकी यह उदात्त कल्पना शब्दतत्त्व को

1- (क) यो वः शिवतमो रसः । ऋ0वे0 10/9/2
   (ख) मध्वो रसो सुगमस्तिः । वही 5/43/4

2- रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।
   तै0उ0 ब्रह्मानन्दवल्ली सप्तम् अनुवाक ।

3- एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ।
   म0भा0पस्पशा0 ।

4- अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
   विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।, वा0प0 1/1

परब्रह्म की कोटि तक ले जाती है। परब्रह्म को इन्होंने शब्दब्रह्म कहा है । इस स्थिति में किसी प्रकार के भेदादि का अवकाश नहीं रह जाता है । इस शब्दतत्त्व का स्वरूप प्रकाशमय है यह समस्त प्रपञ्च में व्याप्त है, यही समस्त प्रपञ्च का मूल कारण है जगत् इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है, वह मात्र इसी तत्त्व का विवर्तरूप है । जगत् की समस्त व्यवहार प्रक्रिया इस तत्त्व से अर्थभावेन अभिव्यक्त होती है । इस तत्त्व के कारण ही उसमें चेतना का आभास मिलता है तथा प्रकाश उपलक्षित होता है यदि यह तत्त्व न हो तो समस्त संसार अन्धकारमय हो जाय । इस रूप में वैयाकरण शब्दतत्त्व के सूक्ष्म स्वरूप को अभिव्यक्त कर अपने शास्त्र का भी वही प्रतिपाद्य बताते हैं जो अन्य दार्शनिकों ने स्वीकार किया है । इनकी दृष्टि में मोक्ष को प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के लिए व्याकरण रूप यह मार्ग अत्यन्त सीधा एवं आसान है किन्तु काव्यों का निर्माण और सरल साधन के रूप में किया गया । काव्यों के निर्माण में ही मूल धारणा थी कि सरलमति वाले व्यक्ति भी आनन्द की अनुभूति इस साधन से कर सकें । प्रौढमति वाले व्यक्तियोंके लिए व्याकरणादि भले ही समधिगम्य हों किन्तु अन्य सामान्य जन की बुद्धि उन साधनों में गति नहीं पा सकती । और फिर काव्यशास्त्रियों ने काव्यनिर्माणादि के प्रयोजन का निर्देश करते समय एक तथ्य यह भी स्पष्ट किया है कि काव्य से सद्यःपरनिवृति रूप प्रयोजन की मानव को प्राप्ति होती है । काव्य के श्रवणादि के समनन्तर ही रसास्वादन से समुद्भूत उस आनन्द की प्राप्ति होती है जिसमें आनन्दातिरिक्त अन्य समस्त वेद्य तिरोहित हो जाते हैं यही है सद्यःपरनिर्वृति । यह काव्य के समस्त यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान आदि प्रयोजनों में श्रेष्ठ है । वस्तुतः यही पारमार्थिक प्रयोजन है ।[1] इस प्रकार साहित्यिकों ने भी प्राणिहित को अपना लक्ष्य बनाया तथा उस सूक्ष्मता का विचार किया जो पारमार्थिक रूप से सामान्य जन को आनन्द प्रदान करने में समर्थ हो । इसी

1- काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।
सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं
विगलितवेद्यान्तरमानन्दं---{काव्यम्} करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।
का० प्र० पृ०-९-10

गवेषणा में इन्हें रस-तत्त्व की प्राप्ति हुई । इन्होंने रस की समीक्षा कर यह निष्कर्ष निकाला कि रस ही प्रधान तत्त्व है इसके बिना किसी अर्थ की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है ।[1] आचार्य भरत के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि काव्य का फल है -आनन्द की प्राप्ति, वह रस के बिना सम्भव नहीं है इसी लिए रस की स्थिति में ही विभावादि पदार्थ के व्याख्यान के लिए बुद्धि में उपस्थित होते हैं । सामाजिक, व्याख्याता एवं नटादि को होने वाली आनन्द की अनुभूति रस के कारण होती ही है । अतएव इनकी अपेक्षा से रस को काव्य में प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है ।[2]

साहित्यशास्त्रियों द्वारा रस की एक सिद्धान्त के रूप में व्याख्या -

रस का एक सिद्धान्त के रूप में सर्वप्रथम आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया गया है । उनका रस स्वरूप की मूल धारणा को प्रतिपादित करने वाला -"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।(ना0शा06/31 का भाष्य)

सूत्र ही परवर्ती विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा अनेक प्रकार से व्याख्यात होता रहा, इसी सूत्र को आधार बनाकर अन्य आचार्यों ने अपने अपने मत का प्रतिपादन किया । सामान्यतः इसका अर्थ है विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है । आचार्यों ने यद्यपि इस सूत्र में रस की निष्पत्ति का प्रतिपादन किया है तथापि रसस्वरूपविषयक उनकी धारणा भी इसी सूत्र से स्पष्ट हो जा रही है इसमें उन्होंने रस को

1- न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते । ना0शा0भा0 । पृ0 272

2- हि यस्माद् रसं बिना विभावादिरर्थो बुद्धौ व्याख्येयतया न प्रवर्तते यतश्च विनार्थः प्रयोजनं प्रीतिपुरःसरं व्युत्पत्तिमयं न प्रवर्तते ।---- अतो व्याख्यातृनटसामाजिकाभिप्रायेण तस्यैव प्राधान्यमिति रस एव तावद् पूर्वमुद्दिष्टं इति तस्यैव लक्षणादि कर्तव्यमिति । अ0भा0, ना0शा0 6/31 ।

आस्वाद्य माना है । सूत्र की व्याख्या में इन्होंने स्वयं स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार अनेक व्यंजनों, औषधियों एवं द्रव्यों के संयोग से पेय रस की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार नाना भावों के उपगम से रस की निष्पत्ति होती है । जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों तथा औषधियों के संयोग से षाड्वादि रसों की निर्वृत्ति होती है उसी प्रकार नाना भावों से उपगत स्थायी भाव भी रसरूपता को प्राप्त हो जाती हैं । यहाँ उन्होंने स्वयं यह भी कहा है कि रस संज्ञा आस्वाद्यत्वप्रयुक्त है अर्थात् रस आस्वाद्य होता है जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों से संस्कृत अन्न का मानव आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि का अनुभव करते हैं उसी प्रकार नाना प्रकार के अभिनयों से अभिव्यक्त, वाणी, अङ्ग, सत्त्व एवं आहार्यों से उपेत स्थायी भावों का सामाजिक आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि का अनुभव करते हैं ।[1]

भरत के इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि रस का सामाजिकों को अनुभव होता है यह आस्वाद्य ही होता है । विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से उपगत स्थायीभाव ही रस कहलाता है । यही आस्वाद का विषय बनता है । किन्तु भरत के परवर्ती आचार्यों ने इस सूत्र की व्याख्या में बहुत कुछ परिवर्तन किया । उन्होंने रस को आस्वाद्य न कह कर उसकी आस्वादरूपता का विवेचन किया । इसका कारण था उन आचार्यों का दार्शनिक दृष्टिकोण । इसके व्याख्याता अभिनवगुप्त को ही उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है । इन्होंने रस को आनन्दात्मक माना है, आनन्द तो आत्मगत

1- यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः । यथा हि-गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाड्वादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति । अत्राह - रस इति कः पदार्थः । उच्यते - आस्वाद्यत्वात् । कथमास्वाद्यते रसः यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति । ना0शा0 6/3। का भाष्य

धर्म है, विषयगत नहीं । विषय तो आत्मपरामर्श का माध्यममात्र है । अभिनव के अनन्तर भी मम्मट आदि आचार्य काव्य, नाट्य आदि के द्वारा भावों की स्थिति में आत्मविश्रान्तिमयी आनन्दचेतना को रस मानते रहे ।

आचार्य भरत ने भावों की व्याख्या के अनन्तर प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यों से व्यंजन की भावना की जाती है उसी प्रकार भाव अभिनयों के साथ होकर रसों की भावना कराते हैं । भाव से हीन न रस की कल्पना होती है और न रस के बिना भाव की । जैसे व्यंजन एवं औषधि का संयोग अन्न को स्वादु बना देता है वैसे ही रस एवं भाव परस्पर एक दूसरे को भावित करते रहते हैं । आचार्य भरत ने इस प्रसङ्ग में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी कही है कि जिस प्रकार वृक्ष के मूल बीज हैं तथा वृक्ष पुष्प फलादि के मूल हैं उसी प्रकार भावों के मूल कारण रस हैं । रसों के कारण ही भाव व्यवस्थित होते हैं ।[1] भरत के इसी विवेचन को आधार मानकर अन्य आचार्यों ने रस के स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास किया है । इस स्वरूप निर्धारण में विभिन्न दर्शनों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था क्योंकि जिन आचार्यों ने इस विषय का विचार किया है वे विभिन्न दर्शनों से स्वत: सम्बद्ध थे अभिनव ने इस बात का सङ्केत करते हुए अन्य दार्शनिकवादों के साथ वैयाकरणों को अभिमत स्फोट तत्त्व का उल्लेख किया है ।[2] काव्यशास्त्रियों को रस की व्याख्या में अन्य दर्शनों के साथ क्या व्याकरण तन्त्र ने भी प्रभावित किया है ? इस तथ्य को यहाँ स्पष्ट किया जायेगा ।

साहित्यशास्त्रों में प्रतिपादित रस का स्वरूप -

भरत के रससूत्र की व्याख्या में अभिनव गुप्त के द्वारा रस का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा गया है कि लोक में जो कारण रत्यादि के द्योतक

1- ना० शा० 6/34-38

2- अत्र च विज्ञानवादो द्विधाभिधानं स्फोटतत्त्वं सत्कार्यवाद एकत्वदर्शनमित्यादि च द्रष्टव्यम् । अभि० भा० भाग 1, पृ० 294

तथा पोषक माने गये हैं वे यदि काव्य तथा नाट्य में उपात्त किए जाते हैं तो विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं । काव्य में उपनिबद्ध विभावादि अलौकिक होते हैं । इन अलौकिक विभावादिकों से अभिव्यक्त चर्व्यमाणतैकप्राण रस की सहज अनुभूति होती है । रस विभाव आदि के रहने पर ही रहता है । पान के चर्वण में एला मरिच आदि वस्तुओं के समुदाय से सम्पादित विलक्षण आस्वादता जिस प्रकार रहती है उसी प्रकार विभावादिवैलक्षण्येन रस की चर्व्यमाणता मानी गयी है । चर्वणा के अतिरिक्त काल में इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती । इसको आस्वादरूप ही मानना पड़ता है क्योंकि रस चर्वणा के अतिरिक्त कुछ नहीं है । यह अलौकिक, चमत्काररूप, स्मृत्यादि विलक्षण तथा ब्रह्मास्वाद सहोदर है ।[1] आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ ने भी अभिनव के मत को ही सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया है ।

रस का स्वरूप स्पष्ट करने में अभिनव शैवाद्वैत दर्शन से प्रभावित हैं, भट्टनायक सांख्य से तथा विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ अद्वैत-वेदान्त से । इन आचार्यों ने रस के स्वरूप को निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया है -

1- साहित्यशास्त्री रस को आस्वादरूप मानते हैं । यह स्वाकारवद-भिन्नत्वेन आस्वाद्य होता है । जिस प्रकार कोई विशिष्ट योगी ही ब्रह्म

1- तत्र लोकव्यवहारे कारणकार्यसहचरात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्त-वृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेव --- विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्व-मात्रप्राणैः, अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः --- सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वासादितवद्भिः अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मक-चर्वणागोचरतां नीतो शर्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः । तेनालौकिक चमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदन विलक्षण एव ।

अ० भा०, ना०शा० 6/31·

का साक्षात्कार करता है उसी प्रकार विशिष्ट पुण्यों वाला वासनाख्य-संस्कार से युक्त कोई ही सहृदय मनुष्य रस की आस्वाद्यता में समर्थ होता है । इन्होंने रस की आस्वादरूपता की उपपत्ति इस रूप में की है-काव्यार्थ की भावना से आस्वाद आत्मानन्दसमुद्भव होता है । वास्तविक दृष्टि से रस आस्वादरूप ही होता है आस्वाद्य आदि उसमें आरोपितमात्र होते हैं वास्तविक नहीं । वह एक रूप होता है, भेद आदि की कल्पना व्यवहार निर्वाह के लिए की जाती है । काव्यशास्त्रियों के इस विवेचन में अद्वैतवाद का स्पष्ट प्रभाव है । अद्वैतियों का विचार है कि आत्मा वास्तविक रूप से एक ही है, वह आनन्दस्वरूप है । उसमें भोक्ता भोक्तव्य आदि की कल्पना व्यावहारिक दृष्टि से की जाती है । इस विषय में भर्तृहरि का दृष्टिकोण और स्पष्ट है । इन्होंने माना है कि शब्दतत्त्व समस्त संसार का मूलकारण है, वह एक रूप है फिर भी भोक्तृ, भोक्तव्य तथा भोगरूप में उस एक परमतत्त्व की कल्पना कर लोक व्यवहार का निर्वाह किया जाता है ।[1] ये सब भेद अवास्तविक हैं परमार्थत: वही एक तत्त्व है । संसार में भोक्ता भोक्तव्य तथा सुखदु:खाद्यनुभवरूप भोग जो कुछ आभासित हो रहे हैं वे शब्दब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं । इस परमतत्त्व से भिन्न किसी तत्त्व की अतिरिक्त कल्पना नहीं की जा सकती । इस प्रकार स्पष्ट रूप से भर्तृहरि का साहित्यशास्त्रियों पर रस को स्वाकारवदभिन्न मानने में प्रभाव परिलक्षित होता है ।

इस प्रसङ्ग में एक बात यह भी स्पष्ट करने योग्य है कि भर्तृहरि स्वत: अद्वैत वेदान्त से प्रभावित हैं । इन्होंने स्वीकार भी किया है कि विभिन्न आगमों के सिद्धान्तों की पर्यालोचना से मानव की प्रज्ञा विवेक को प्राप्त करती है । इस विवेक से अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में दृढता आ जाती है । अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों की व्याख्या के बिना मात्र अपने

1- एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा ।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थिति: । वा०प० 1/4.

सम्प्रदाय के तर्कों से प्रतिपाद्यमान शास्त्रों के सिद्धान्त पूर्णता को नहीं प्राप्त होते ।[1] पुण्यराज ने भी इसकी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि अपने सिद्धान्तों की दृढ़ता विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों के विवेचन से ही सम्भव होती है ।[2] साहित्यशास्त्रियों ने भर्तृहरि की इस बात को अक्षरशः स्वीकार किया है । इन्हें अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में जहाँ से भी कुछ प्राप्त हुआ उसका उपयोग करने में ये नहीं चूके । भर्तृहरि ने विचारों के आदान-प्रदान में एक सेतु की भूमिका निभाई है । काव्यशास्त्रियों को पूर्वविवेचित समस्त तथ्यों में जब भर्तृहरि ने प्रेरणा तथा आधार प्रदान किया है तो रससिद्धान्त में भी साहित्यशास्त्री उनके विचारों का अधिक आदर क्यों न करते ?

2- काव्यशास्त्री रस का आविर्भाव सत्त्व के उद्रेक से स्वीकार करते हैं । रजस् एवं तमस् के अप्राधान्य में अन्तःकरण में सत्त्व का उद्रेक होता है, इस स्थिति में अन्तःकरण सांसारिक रागद्वेष आदि से विनिर्मुक्त हुआ करता है । काव्यादि के विभावादि अलौकिक होते हैं वहाँ सांसारिक रागद्वेषादि की सम्भावना नहीं रहती इस स्थिति में सहृदय को रस की अनुभूति होती है । यह अनुभूति इन्द्रियों की उत्तेजना आदि से भिन्न अत्यन्त परिष्कृत रूप में स्वतः सिद्ध है ।[3] आचार्य भर्तृहरि व्याकरण का

1- प्रज्ञाविवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः ।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता ।। वही 2/492

2- निःसन्दिग्धं स्वसिद्धान्तोऽपि संपरिष्कर्तुं भिन्नागमदर्शनैः शक्यते ।
पुण्यराज, वही 2/492.

3- "रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते" --- कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम् । तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः । तत्र हेतुस्तथा विधलौकिककाव्यार्थपरिशीलनम् । सा०द०पृ० 49 तथा रससिद्धान्तः (डॉ० नगेन्द्र) पृ० 79.

महत्त्व प्रतिपादित करने के साथ साथ इस तथ्य का भी उद्घाटन करते हैं कि व्याकरण द्वारा वाणी के दोषों का परिहार हो जाने के कारण कत्वखत्वादि, पदत्ववाक्यत्वादि तथा तारत्वमन्द्रत्वादि धर्मों से असङ्कीर्ण समस्त वाग्विकारों की प्रकृति शब्दतत्त्व का वैयाकरण अर्थात् वाणी के साधक को निर्भ्रान्त अनुभव होने लगता है । दोषों का परिहार या अभाव सत्त्व की ही अवस्था तो है । शब्दतत्त्व का निर्भ्रान्त साक्षात्कार तभी होता है जब शब्दसंस्कार का सम्यक् ज्ञान हो गया रहता है ।[1]

3- रस की अखण्डता का प्रतिपादन करते हुए साहित्यशास्त्रियों का मत है कि रस की अनुभूति विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के समुदाय से ही होती है पृथक् पृथक् नहीं अतः रस को अखण्ड माना गया है ।[2] इसकी अखण्डता का एक हेतु यह भी है कि रसानुभूति तभी होती है जब आत्मा तन्मय हो जाता है, उस स्थिति में मात्रा-भेद की भी कल्पना नहीं की जा सकती । अतः रस को अखण्ड कहा गया है । वैयाकरण भी शब्दतत्त्व को अखण्ड मानते हैं । इनका विचार है कि वाक्य स्फोट ही पारमार्थिक है वह अखण्ड है । जिस प्रकार पदों में वर्णों की कल्पना तथा वर्णों में तदवयवों की कल्पना मात्र व्यावहारिक है उसी प्रकार व्यवहार निर्वाह के लिए पदों की कल्पना भले ही कर ली जाय वस्तुतः वाक्य में किसी प्रकार का भेद सम्भव नहीं है वह अखण्ड है ।[3] अद्वैत वेदान्त में भी ब्रह्मतत्त्व को अखण्ड कहा गया है । इस प्रकार रस को अखण्ड मानने में साहित्यशास्त्री वेदान्त तथा व्याकरण दोनों से प्रभावित हैं ।

1- तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः । वा०प० 1/132

2- ﴾क﴿ अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादि प्रकाशसुखचमत्कारात्मकः । सा०द० पृ० 49

﴾ख﴿ तादात्म्यादेवास्याखण्डत्वम् । रत्यादयो हि प्रथममेकैकशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीभूता स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते । वही पृ063

3- पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ।। वा०प०

4- रस की चर्व्यमाणता में परिमित प्रमातृभावादि की समाप्ति के कारण अन्य वेद्य वस्तुओं का स्वाभाविक रूप से तिरोधान हो जाता है। तन्मयीभाव के कारण केवल रस की चर्वणा ही होती है यही रस की वेद्यान्तर-संस्पर्शशून्यता है। वेदान्तियों के अनुसार भी ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार की स्थिति में ब्रह्मतत्त्व के अतिरिक्त किसी वस्तु के अनुभव का प्रश्न ही नहीं रह जाता। दोनों में अन्तर यह है कि वे ब्रह्म के अतिरिक्त किसी तत्त्व को स्वीकृति नहीं देते जबकि काव्यशास्त्री अन्य रसातिरिक्त तत्त्वों की स्थिति स्वीकार करते हैं रसानुभूति की वेला में उनका भाव तिरोभाव हो जाता है।

5- रस स्वप्रकाशरूप है, मम्मट के अनुसार वह सम्मुख परिस्फुरणशील सा रहता है। भट्टनायक को भी रस की स्वप्रकाश रूपता स्वीकृत थी। आचार्य विश्वनाथ ने भी रस को स्वप्रकाशरूप मानते हुए कहा है कि रस्यमानता के ही साररूप होने के कारण रस प्रकाश शरीर रूप अर्थात् ज्ञानरूप ही है। विश्वनाथ ने स्वतः एक प्रश्न को भी इस प्रसङ्ग में उपस्थापित किया है कि यदि रत्यादि मिलकर रसरूप होते हैं तो रस की स्वप्रकाशता तथा अखण्डता अनुपपन्न है ? किन्तु उन्होंने इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि रस रत्यादि-ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान की स्वप्रकाशता तो निर्विवाद है। अतः रस की स्वप्रकाशता एवं अखण्डता दोनों की उपपत्ति हो जाती है।[1] शब्दतत्त्व की स्वप्रकाशशीलता का वैयाकरणों ने बड़े आग्रह के साथ प्रतिपादन किया है। भर्तृहरि तो शब्दतत्त्व की प्रकाशरूपता के विवेचन में यहाँ तक कह जाते हैं कि प्रकाशस्वरूपा नित्यतः व्यवस्थित वाक्शक्ति यदि न होती ज्ञान की प्रकाशकता ही समाप्त हो जाय। इसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं, यह प्रकाशों का भी प्रकाशक है। शब्दतत्त्व की प्रकाशशीलता को स्पष्ट करते हुए यह वाक्य

1- (क) तदुक्तम्-रस्यमानतामात्रसारत्वात्प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः।
सा0द0 (विमला व्याख्या) पृ05

(ख) ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसस्तत्कथमस्य स्वप्रकाशत्वं कथं वाखण्डत्वमित्याह -
रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।
ततोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्ध्यति।। सा0द0 3/28

भी कहा गया कि जो प्रकाश एवं अप्रकाश दोनों का प्रकाशक है उसी शब्दतत्त्व में समस्तस्थावर जङ्गमात्मक लोक उपनिबद्ध है ।[1] अत: रस की स्वप्रकाशरूपता के विवेचन में साहित्यिक वैयाकरणों के अनुगामी लगते हैं ।

6- काव्यशास्त्री रस की चैतन्यरूपता का भी प्रतिपादन करते हैं । भर्तृहरि ने शब्द की चैतन्यरूपता को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि शब्दतत्त्व के कारण ही समस्त प्राणियों में चैतन्य की स्थिति रहती है कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जिसमें शब्दतत्त्वरूपी चैतन्य विद्यमान न हो अर्थात् यह चैतन्य सर्वत्र व्याप्त रहता है । यह संसारियों के अन्त:करण तथा बाह्य में विद्यमान रहता है । समस्त कार्यों में प्रवृत्ति इसी चेतना के कारण होती है ।[2] अत: चैतन्यरूपता की अवधारणा में भी साहित्यिकों को भर्तृहरि से सहयोग मिला होगा ।

7- काव्यशास्त्री रस की चर्वणा को चिदानन्दमय तथा परब्रह्मास्वाद-सहोदर[3] कहते हैं । इन्होंने यद्यपि रसास्वाद को आत्मानन्द का ही आस्वाद स्वीकार किया है किन्तु वह आस्वाद ब्रह्मास्वाद से कुछ अवर कोटिका है, प्रकृतित: दोनों अभिन्न हैं, दोनों की आस्वादरूपता समान है, किन्तु दोनों में गुणमात्रा का फर्क होता है । रसास्वाद सावधि होता है, वह अस्थायी है । जब तक विभावादि की स्थिति रहती है तभी तक विगलितवेद्यान्तर चिन्मय आनन्द की रसचर्वणा में अनुभूति होती है अन्यथा नहीं । वैयाकरणों का मत भिन्न है, वे मानते हैं कि शब्दतत्त्व के प्रवृत्तितत्त्व अर्थात् शब्दब्रह्म के स्वरूप को जिसने जान लिया है वह ब्रह्मामृत अर्थात् ब्राह्मानन्द की अनुभूति

1- (क) वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाश: प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।। वा० 1/124
(ख) यश्च प्रकाशाप्रकाशयो: प्रकाशयिता शब्दाख्य: प्रकाश:
तत्रैव सर्वमुपनिबद्धं यावत् स्थास्नुचरिष्णु च । वही 1/12 की वृत्ति में उद्धृत

2- सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु । वा०प० 1/126

3- सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय: ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर: ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण: कैश्चित् प्रमातृभि: ।
---स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस: ।। सा०द० 3/2-3

करता है । वेदान्तियों का जिस प्रकार ब्रह्मतत्त्व नित्य, चिन्मय तथा अखण्ड है उसी प्रकार वैयाकरणों का शब्दतत्त्व ।[1] अतएव भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व तथा ब्रह्मतत्त्व में अभेद माना है । परवर्ती वैयाकरण नागेश इससे सहमत नहीं है वे शब्दब्रह्म की अक्षयनित्यता को नहीं मानते उन्होंने उसकी उत्पत्ति का विवेचन किया है ।[2] नागेश परब्रह्म तत्त्व तथा शब्दब्रह्मतत्त्व रूप में दो सत्ताएँ स्वीकार करते हैं । इनका यह मत तान्त्रिक प्रपञ्चसार आदि के विश्लेषणों से प्रभावित है । वस्तुतः भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व को परब्रह्म कोटि तक पहुँचाकर व्याकरण से भी चरमलक्ष्य मोक्ष का प्रतिपादन कर व्याकरण को दर्शन कहलाने का अधिकारी बना दिया है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्याकरण तन्त्र ने साहित्यशास्त्रियों को ध्वनिसिद्धान्त आदि के विवेचन में जिस प्रकार पर्याप्त आधार प्रदान किया है उसी प्रकार रसस्वरूप को स्पष्ट करने में भी सहयोग दिया है । इतना अवश्य है कि साहित्यशास्त्रियों को व्याकरण के शब्दब्रह्मविषयक विवेचनों की उतनी अपेक्षा भी नहीं थी क्योंकि ब्रह्म का नित्य, तत्त्व के रूप में उपनिषदों से प्रारम्भ होकर दर्शनों में पर्याप्त विचार किया गया था । यही दार्शनिक विवेचन रससिद्धान्त के प्रतिपादन में इन्हें प्रभावित करता रहा । भर्तृहरि ने यदि प्रभावित भी किया है तो माध्यम के रूप में ।

रसनिष्पत्ति का विवेचन -

रसस्वरूप के निर्धारण के अतिरिक्त काव्यशास्त्रियों को वैयाकरणों ने मुख्यतः प्रभावित किया है रसनिष्पत्ति की व्याख्या में । भरत ने तो विभावादिकों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है कहकर छुट्टी ली, किन्तु रससूत्र के व्याख्याता इस शब्द को लेकर उलझे रहे । इस सूत्र की व्याख्या करने

1- (क) अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम् ।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये । वेदान्तसार ।
(ख) अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः । वा०प० १/१

2- बिन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद् रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत् ।
स एव श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते ।। वै०सि० ल०म०

वाले मुख्यत: चार आचार्य हुए हैं । भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त । अभिनव गुप्त के बाद के आचार्यों ने अभिनवगुप्त के ही मत का समर्थन किया है ।

1- भट्टलोल्लट -

भट्टलोल्लट का मत उत्पत्तिवाद के नाम से जाना जाता है । इसका समर्थन इनके पूर्ववर्ती दण्डी, भामह, उद्भट आदि के विवेचनों से भी होता है किन्तु व्यवस्थित रूप में भट्टलोल्लट ने ही यह स्पष्ट किया कि रस उत्पाद्य है । इनके मत को अभिनवभारती में पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है । मम्मट ने भी संक्षेप में इनके मत का विचार किया है मम्मट के अनुसार इनका मत है कि विभावों के द्वारा रत्यादिक भाव उत्पन्न होते हैं अनुभावों के द्वारा उत्पन्न वे रत्यादि भाव प्रतीति के योग्य हो जाते हैं तथा व्यभिचारीभावों के द्वारा उपचित होकर मुख्यत: रामादि अनुकार्य में तथा अनुकरण करने के कारण नर्तक में भी रस की प्रतीति कराते हैं ।[1] अत: इनके अनुसार निष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति, अभिव्यक्ति तथा पुष्टि ।[2]

2- श्री शङ्कुक -

श्रीशङ्कुक अनुमितिवादी हैं इनके अनुसार स्थायीभाव का विभावादि के साथ अनुमाप्यानुमापकभावरूपसम्बन्ध होता है अत: रसनिष्पत्ति का अर्थ है रस की अनुमिति । रत्यादि की अनुमिति ही रसनिष्पत्ति है ।[3]

3- भट्टनायक -

भट्टनायक भोगनामक एक अतिरिक्त व्यापार की कल्पना करते हैं । यह व्यापार अभिधाव्यापार से भिन्न होता है । इनके अनुसार रस न तो

1- (क) का0प्र0 पृ087
(ख) ना0शा0अभि0भा0 भाग 1 पृ0272
2- श्री विश्वेश्वर पाण्डेय रसचन्द्रिका पृ0 44
3- (क) अभि0भा0 भाग 1 पृ0272 (ख) का0प्र0 पृ0 88-90
(ग) रसचन्द्रिका पृ0 44

प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है, नही अभिव्यक्त होता है, अपितु विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्वव्यापार के द्वारा साधारणी-क्रियमाण स्थायी भाव की भोजकत्व व्यापार से भुक्ति होती है । अर्थात् रस भुक्ति का विषय है ।[1]

4- अभिनवगुप्त -

अभिनवगुप्त का विवेचन महत्त्वपूर्ण है । इन्होंने पूर्ववर्तियों की व्याख्याओं में विप्रतिपत्ति का निर्देश कर रस की अभिव्यक्ति को स्वीकार किया है । इन के द्वारा रस की कार्यरूपता का खण्डन किया गया है । इनका विचार है कि विभावादि के बोधकाल तक ही रस रहता है, यदि उसे कार्य माना जायेगा तो विभावादि के न रहने पर भी रस की प्रतीति होनी चाहिए थी । ऐसा नहीं होता अतः रस की विभावादि से उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती तथा पूर्व विद्यमान न होने के कारण वह ज्ञाप्य भी नहीं हो सकता ।[2] इन्होंने अनुमितिवाद का भी निराकरण किया है । रस को स्मृति, अनुमान तथा प्रत्यक्ष आदि से विलक्षण माना गया है ।[3] भट्टनायक के अभिमत का भी खण्डन करते हुए अभिनव गुप्त ने भोग को प्रतीति से भिन्न नहीं माना । जिस प्रकार एक ही ज्ञान को प्रत्यक्ष, अनुमिति शाब्दबोध, उपमिति आदि भिन्न भिन्न नामों से अभिहित किया जाता है उसी प्रकार भोग भी ज्ञान का एक रूप मात्र है उसके अतिरिक्त कुछ नहीं ।[4]

3- (क) लोचन पृ० 193
(ख) अभि०भा०, भाग 1 पृ0277
(ग) का०प्र०,पृ०90

2- अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य । तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात् । नापि ज्ञप्तिहेतव: येन प्रमाणमध्ये पतेयु: । सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात् । अभि०भा०भाग 1पृ० 285

3- अभि० भा० भाग 1 पृ0284

4- (क) प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः । वही पृ0277
(ख) भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्किंचित् । लोचन पृ0199

इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का निराकरण कर अभिनवगुप्त ने सिद्धान्ततः यह प्रतिपादित किया है कि अलौकिक विभावादि के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है । साधारणीकृत विभावादि के साथ स्थायी भावों के व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध की उपपत्ति होती है इससे रस अभिव्यक्त होता है । सहृदयों में रत्यादि वासना रूप में स्थित रहते हैं यही रत्यादि भाव अभिव्यक्त होकर अलौकिक चमत्कार की अनुभूति कराते हैं ।[1] अभिव्यक्तिवाद का आचार्य आनन्दवर्धन ने ही विधिवत् विवेचन किया था । उन्होंने ध्वनि की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि रसध्वनि हमेशा व्यङ्ग्य ही हुआ करती है । उसमें वाच्यता की शङ्का लेशमात्र भी नहीं होती । परवर्ती मम्मट तथा विश्वनाथ आदि आचार्य भी रस की अभिव्यक्ति ही स्वीकार करते हैं । ध्वनिसिद्धान्त की व्याख्या में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ध्वनिवादियों को व्यङ्ग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध तथा अभिव्यक्ति का सिद्धान्त वैयाकरणों से ही प्राप्त हुआ था । अभिव्यक्ति का विवेचन सर्वप्रथम वैयाकरणों ने ही किया था । अतः यह कहा जा सकता है कि रस की अभिव्यक्ति स्वीकार करने में काव्यशास्त्री वैयाकरणों से प्रभावित हैं ।

1- का०प्र० पृ०91-93

उपसंहार

व्याकरण के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रायः समस्त दर्शनों तथा अन्य संस्कृत-शास्त्रों पर प्रभाव पड़ा है । यह स्वाभाविक भी था क्योंकि यह शास्त्र सम्पूर्ण शास्त्रों के सिद्धान्तों को दीपक के समान आलोकित करता है, किन्तु सबसे अधिक इसका प्रभाव काव्यशास्त्रीय विचारों पर पड़ा । उनके विचारों के पल्लवन में व्याकरण ने दृढ़तर आधार प्रदान किये हैं, यह बात काव्यशास्त्रों पर व्याकरण के सिद्धान्तों के प्रभाव की गवेषणा से सुस्पष्ट हो जाती है । काव्यशास्त्रों में जिन विषयों का विचार हुआ है मुख्यतः वे विषय शब्द एवं अर्थ को केन्द्र मानकर प्रस्तुत हुए हैं, क्योंकि काव्य तो शब्दार्थ-युगल ही है । शब्द एवं अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में यद्यपि न्याय, तथा मीमांसा आदि ग्रन्थों में भी विचार किया गया है किन्तु इनका परिष्कृत तथा सुविचारित वैज्ञानिक स्वरूप स्पष्ट करने में व्याकरण के आचार्य जितना सफल हुए हैं उतना अन्य नहीं । इनके लिए यह आवश्यक भी था, क्योंकि इन्हें शब्दस्वरूप के समुचित ज्ञान से समस्त अभीष्टों की प्राप्ति मान्य थी।

इस शोध-प्रबन्ध में मुख्यरूप से इसी बात का विचार हुआ है कि व्याकरण के बिना साहित्य-शास्त्र अपूर्ण हैं वैयाकरणों के उपकार को स्वतः साहित्यशास्त्रियों ने स्वीकार भी किया है । कुछ तो शब्दतः कह गये हैं तथा कुछ उनके सिद्धान्तों को यथावत् स्वीकार कर उनका उपकार मानते हैं। जहाँ एक विषय पर व्याकरण के साथ अन्य मीमांसा आदि शास्त्रों के मत का सामञ्जस्य नहीं था वहाँ उन्होंने मीमांसा आदि के मत का खण्डन कर व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्तों का समर्थन किया है । सङ्केत ग्रह के प्रसङ्ग में यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है । मीमांसक केवल जाति के सङ्केतग्रह स्वीकार करते हैं तथा नैयायिक जाति, आकृति एवं व्यक्ति में । मीमांसकों के अनुसार पदार्थ केवल जातिरूप है व्यक्त्यविनाभावी होने के कारण जाति से व्यक्ति का आक्षेप कर व्यवहार का निर्वाह होता है । किन्तु सामान्यतः मुकुलभट्ट आदि

साहित्यशास्त्री इन मीमांसा एवं न्याय की मान्यताओं का समर्थन न कर वैयाकरण महाभाष्यकार आदि की अभिमत उपाधि में सङ्केतग्रह को स्वीकार करते हैं अत: इनके अनुसार पदार्थ जाति, गुण; क्रिया तथा द्रव्य इन चार रूपों का होता है ।

शब्द एवं अर्थ के बीच सम्बन्ध को नित्य माना गया है । इस धारणा के विकास में साहित्यशास्त्री वैयाकरणों से पूर्णत: प्रभावित हैं । वैयाकरणों के समान साहित्यशास्त्रियों ने शब्द की व्यापकता, प्रकाशकता आदि का भी विवेचन किया है । सङ्केतों अर्थात् हस्तविक्षेपादि चेष्टाओं से अर्थबोध को जहाँ स्वीकार किया गया है वहाँ शब्द व्यापक होने के कारण उपस्थित रहता है, अन्यथा अर्थ बोध ही न हो । साहित्यशास्त्रियों के लिए शब्दशक्तिविवेचन-विषय महत्त्वपूर्ण था । प्रारम्भिक काव्यशास्त्री यद्यपि इस शास्त्रार्थ में नहीं पड़ना चाहते थे किन्तु उन्होंने भी प्रसङ्गत: इनका नाम लिया है । बाद के आचार्यों के बीच तो यह अत्यन्त प्रिय विषय रहा ।

अभिधा के स्वरूपादि के विषय में तो किसी को आपत्ति नहीं थी, होनी भी नहीं चाहिए थी प्रत्यक्ष का भला अपलाप कैसे किया जा सकता है । रही लक्षणा एवं व्यञ्जना की बात इसमें साहित्यशास्त्रियों ने कुछ तो ग्रहण किया है अपने पूर्ववर्ती वैयाकरण तथा दार्शनिक विचारकों से तथा कुछ अपने मौलिक विचारों का दृढ़ता से प्रतिपादन किया है । लक्षणा के निमित्तों की तथा उसकी आरोपरूपता की साफ साफ अभिव्यक्ति महा-भाष्य में मिलती है फिर भी कुछ विद्वान् "सर्वे सर्वार्थवाचका:" जैसे महाभाष्य के वाक्यों के आधार पर अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा आदि को मानने में विवाद करते हैं किन्तु यह उनका भ्रम है, महाभाष्यकार तथा भर्तृहरि आदि आचार्य जहाँ शब्दों की सर्वार्थवाचकता का प्रतिपादन करते हैं वहाँ उनका अभिप्राय शब्दों के व्यापक स्वरूप को अभिव्यक्त करना रहता है । वस्तुत: शब्द से ही तो सभी प्रकार के अर्थों का बोध होता है । वाचकता से इन

आचार्यों का तात्पर्य उसकी बोधकता से है । इसी प्रकार नागेश आदि आचार्य शक्ति के ही प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध दो भेद स्वीकार कर लक्षणा का खण्डन करना चाहते हैं किन्तु उन्होंने स्वयं विभिन्न स्थलों में लक्षणा का नामतः उपादान कर उससे अर्थबोध को स्वीकार किया है। इसी आधार पर मैंने यह प्रतिपादित किया है कि वैयाकरणों को लक्षणा शक्ति मानना पड़ता है ।

जहाँ साहित्यशास्त्रियों को लक्षणा के स्वरूपादि की मूलधारणा वैयाकरणों से प्राप्त होती है वहाँ वे उसके भेदोपभेदों के विवेचन में स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत करते हैं, उसमें उनकी मौलिकता है । मैंने यह भी स्पष्ट किया है कि परवर्ती वैयाकरण नागेश ने लक्षणा का भेदों की दृष्टि से जो विचार किया है यद्यपि वह व्याकरण-परम्पराप्राप्त है तथापि उस विचार में काव्यशास्त्रियों की स्पष्ट छाया है ।

व्यञ्जनाशक्ति का साहित्य-सम्प्रदाय में ध्वनिकार के अनन्तर बहुत अधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है । व्यञ्जनाशक्ति से प्राप्त होने वाले प्रतीयमानार्थ के प्राधान्य में ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना में ध्वनिकार वैयाकरणों के बहुत ही आभारी हैं । इस प्रसङ्ग में वैयाकरणों की इतनी सूक्ष्मविवेचना थी यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी । पाणिनि, पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि के विचारों के आधार पर ही ध्वनि सिद्धान्त की पूर्णता समझी गयी है । भेदों के विश्लेषण में भी ध्वनिकार वैयाकरणों का पीछा नहीं छोड़ते । पदवर्णादि की प्रकाश्यता वैयाकरणों की ही देन है।

साहित्यशास्त्रियों ने काव्यालङ्कारों के विवेचन में भी वैयाकरणों का प्रभाव स्वीकार किया है । यहाँ तक तो ठीक ही था कि उपमान उपमेय आदि पारिभाषिक शब्दों के स्वरूप निर्धारण में वैयाकरणों का वे सहयोग लेते, किन्तु उपमा के भेदोपभेदों में उन्होंने अति कर दी है जो काव्यों की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। काव्यशास्त्रियों की मजबूरी थी, जब लक्ष्यग्रन्थों में पाणिनि-सम्मत उपमा के वयववयङ्गत प्रयोगों की भरमार थी तो भला वे उस अंश को कैसे अविवेचित रखते । अतः काव्यशास्त्रियों को यह दोष देना कि उन्होंने व्याकरण के आधार पर उपमा को नीरस बना दिया यह उचित नहीं है ।

साहित्यशास्त्रियों की रस सम्बन्धिनी अवधारणा अतीव महत्त्वपूर्ण है । रस काव्य का आत्मतत्त्व है । उनका रससम्बन्धी विचार सूक्ष्मता की ओर आचार्यों की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का द्योतक है । सूक्ष्म आत्मन, ब्रह्मन् आदि तत्त्वों के विषय में जितना विचार दर्शनग्रन्थों में हुआ उतना अन्यत्र कहीं नहीं, अत: भारतीय दर्शनों से काव्यशास्त्र का रसस्वरूपनिर्धारण में प्रभावित होना स्वाभाविक था किन्तु वैयाकरणों में भी भर्तृहरि एक ऐसा आचार्य हुआ है जिसने व्याकरण को केवल शब्दपरिष्कारक न मानकर उसको मोक्षादि का साधक मानते हुए अत्यन्त सूक्ष्म विचारों की अद्भुत अभिव्यक्ति की है । भर्तृहरि ही वह आचार्य है जिसके कारण व्याकरण भी दर्शन कहलाने का अधिकारी हुआ । अत: भर्तृहरि के शब्दब्रह्मविषयक विचार काव्यशास्त्रियों पर न पड़े हों यह सम्भव नहीं । इन्हीं अविवेचित तथ्यों का मैंने यावच्छक्य उद्घाटन करने का प्रयास किया है ।

वस्तुत: इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण के बिना साहित्यशास्त्र अपूर्ण ही होगा । व्याकरण के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत साहित्यशास्त्रियों के विचारों को देखकर तो यही प्रतीत होता है कि वे वैयाकरण पहले होते थे साहित्यशास्त्री बाद में ।

सहायक ग्रन्थ सूची

§अ§ संस्कृत

अग्निपुराण, व्यास, विद्यासागर; कलकत्ता, सन् 1882

अभिधाविमर्श: - योगेश्वरदत्त शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स - 1980

अभिधावृत्तिमातृका - मुकुलभट्ट, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1916

अभिनवभारती - अभिनवगुप्त, गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज़

अमरकोष - रामाश्रमी सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन - डॉ० कपिलदेव द्विवेदी हिन्दुस्तान एकेडमी, उ0प्र0, इलाहाबाद 1951.

अलंकारमहोदधि- नरेन्द्रप्रभसूरि, गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज़ 1942

अलंकाररत्नाकर - शोभाकर मित्र, पूना ओरिएन्टल बुक एजेन्सी, 1942

अलंकारशेखर - केशवमिश्र निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1926

अलंकारसर्वस्व- रुय्यक, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1939

अलंकार कौस्तुभ - विश्वेश्वर, काव्यमाला

अष्टाध्यायी - पाणिनि निर्णयसागर प्रेस बम्ई संवत् 1985

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी - अभिनवगुप्त कश्मीर संस्कृत सीरीज़ 1941

उपनिषत्संग्रह. - मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण 1970

औचित्यविचारचर्चा - श्री क्षेमेन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1964

कारिकावली - विश्वनाथ पञ्चानन निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1927

काशिकावृत्ति - जयादित्य वामन §सम्पादक - बालशास्त्री§ बनारस 1898

काव्यालंकार - भामह §सम्पादक - बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय§ चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1981

काव्यालंकार - रुद्रट, §नमिसाधु की व्याख्या सहित§ काव्यमाला 1928

काव्यलंकारसूत्रवृत्ति- वामन, §"कामधेनु" संस्कृत व्याख्यासहित§ चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी 1971

काव्यालंकारसारसंग्रह- उद्भट §डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा सम्पादित§ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1966.

काव्यादर्श - दण्डी, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली 1973
काव्यानुशासन - हेमचन्द्र, महावीर जैन विद्यालय, 1938.
काव्यानुशासन - वाग्भट, काव्यमाला, 1915.
काव्यप्रकाश मम्मट 1- बालबोधिनीटीका झलकीकर, भट्टवामनविरचित, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 1950 (उद्धरण इसी में से दिए गये हैं)
2- "प्रदीप", टीका, गोविन्द ठक्कुर, काव्यमाला 24, 1912.

काव्यप्रकाश - विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डलग्रन्थमाला, प्रथम संस्करण, संवत् 2017.
काव्यप्रदीप - गोविन्द, निर्णयसागर, प्रेस बम्बई, 1933.
काव्यमीमांसा - राजशेखर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1982.

कुवलयानन्द - अप्पय्यदीक्षित, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1956.
कात्यायन वार्तिक - (इनका महाभाष्य तथा सिद्धान्तकौमुदी में उपादान किया गया है अलग से इनका कोई ग्रन्थ नहीं है)

चन्द्रालोक - जयदेव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1966.
चित्रमीमांसा - अप्पय्य दीक्षित, वाणीविहार, वाराणसी 1965
तत्त्वचिन्तामणि - गंगेशोपाध्याय, निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1942.
तन्त्रवार्तिक - कुमारिलभट्ट चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी ।
त्रिवेणिका - आशाधर भट्ट, सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला (सं0वि0वि0) वाराणसी 1968.
दशरूपक धनञ्जय, धनिककृत "अवलोक टीका सहित" चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी 1967.
ध्वन्यालोक आनन्दवर्धन 1- लोचन-सहित चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1965 (समस्त उद्धरण इसी से दिए गए हैं)
2- लोचन तथा कौमुदी सहित कुप्पूस्वामी शास्त्री रिसर्च इंस्टीट्यूट मद्रास 1944.
3- आचार्य विश्वेश्वर की व्याख्या, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी 1962.

ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त - डॉ0 भोलाशंकर व्यास नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

ध्वनिसिद्धान्त : विरोधीसम्प्रदाय उनकी मान्यताएँ - डॉ0 सुरेशचन्द्र पाण्डेय, वसुमती प्रकाशन इलाहाबाद 1972

नाट्यशास्त्र - भरत, अभिनवभारती सहित भाग 1 तथा 2 गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज़ 1934·

नाट्यशास्त्र - भरत, अभि0भा0 सहित प्रथम एवं द्वितीय भाग, काशी हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी 1971·

निरुक्त - यास्क, दुर्गाचार्य की व्याख्या सहित, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई संवत् 198

नैषधीयचरितम् - श्रीहर्ष, नारायणीटीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1930·

न्यायमञ्जरी- जयन्तभट्ट, गोपीनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित, सं0सं0वि0वि0 वाराणसी 1983·

न्यायरत्नमाला - पार्थसारथिमिश्र, ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, 1967·

न्यायवार्तिक - उद्योतकर, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी ।

पदमञ्जरी- हरदत्त, 2 भाग, काशी, 1898·

परमलघुमञ्जूषा - नागेशभट्ट, बड़ौदा विश्वविद्यालय, संवत् 2017·

परिभाषेन्दुशेखर - नागेशभट्ट, गदाटीका सहित आनन्दाश्रम प्रेस पूना, 1913·

पारस्करगृह्यसूत्र - विद्याविलास प्रेस, काशी, 1925

प्रौढमनोरमा - नागेशभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ 1939·

प्रतापरुद्रीय - विद्यानाथ, बाल-मनोरमा प्रेस, मद्रास, 1970·

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य - निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1938·

भगवद्गीता - गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2020·

भावप्रकाशन - शारदातनय गा0ओ0 सीरीज़, बड़ौदा, 1930·

भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालङ्कार - डॉ0 भोलाशंकर व्यास, चौ0 विद्याभवन, वाराणसी, 1965·

भट्टिकाव्य रामचरित - भट्टिमहाकविविरचित, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई 1928·

महाभारत - चित्रशाला प्रेस, पूना

महाभाष्य - 1- नवाह्निक प्रदीपोद्योत टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1951

2- सम्पूर्ण भाग, प्रदीपोद्योतटीका सहित गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित, बनारस 1939.

महाभाष्यदीपिका भर्तृहरि, पूना, 1971

मीमांसा-शबरभाष्य - शबरस्वामी, ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, 1934.

योगसूत्र (व्यासभाष्य सहित)

रसगङ्गाधर - जगन्नाथ (दोनों भाग) चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1970

रसचन्द्रिका, श्री विश्वेश्वर पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1926.

रसप्रदीप - प्रभाकरभट्ट, सरस्वतीभवन, टेक्टस नं० 12, गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, बनारस, 1925.

रससिद्धान्त - डॉ० नगेन्द्र (अमीरचन्द्रशास्त्री द्वारा अनूदित) लालबहादुर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली 1973.

लघुशब्देन्दुशेखर - नागेश भट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी 1954.

वक्रोक्तिजीवित-कुन्तक, (डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित) हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला, दिल्ली, 1955.

वाक्यपदीय भर्तृहरि - 1- ब्रह्मकाण्ड, सूर्यनारायणशुक्लविरचित भावप्रदीप व्याख्यासहित बनारस, 1937.

2- ब्रह्मकाण्ड, हरिवृषभकृत स्वोपज्ञवृत्ति तथा रघुनाथशर्माकृत अम्बाकर्त्री व्याख्या सहित सं०सं०वि०वि०वाराणसी, 1976.

3- वाक्यकाण्ड, पुण्यराज की व्याख्या तथा अम्बाकर्त्री सहित वाराणसी, 1980.

4- तृतीय काण्ड जातिद्रव्यसम्बन्धसमुद्देश - प्रथम भाग हेलाराजकृत प्रकाश तथा अम्बाकर्त्री सहित, वाराणसी 1974.

5- तृतीयकाण्ड (भूयोद्रव्य-गुण-दिक्-साधन-क्रिया-काल-पुरुष-संख्या-उपग्रह-लिङ्ग समुद्देशात्मक) द्वितीयभाग प्रकाश तथा अम्बाकर्त्री व्याख्यासहित, वाराणसी, 1979.

6- तृतीयकाण्ड {वृत्तीसमुद्देशात्मक} भाग-तृीय, प्रकाश एवं अम्बाकर्त्री व्याख्यासहित, वाराणसी, 1977.

7- द्वितीयकाण्ड, स्वोपज्ञवृत्ति सहित, हस्तलेख, ओरिएन्टल मनुस्क्रीप्ट लाइब्रेरी, मद्रास ।

8- प्रथमकाण्ड, भर्तृहरि वृत्ति तथा वृषभदेव टीका सहित प्रो० के०एस०अय्यर सम्पादित, पूना, 1966.

9- तृतीय कांड भाग । हेलाराजकृत प्रकाश टीका सहित, प्रो० के०एस०अय्यर सम्पादित, पूना, 1963.

व्याकरणदर्शन भूमिका - रामाज्ञा पाण्डेय, संस्कृत वि०वि० वाराणसी

व्याकरणदर्शन पीठिका - रामाज्ञा पाण्डेय, संस्कृत वि०वि० वाराणसी 1965

व्याकरणदर्शनप्रतिमा - रामाज्ञा पाण्डेय, संस्कृत वि०वि०वाराणसी 1979

व्याकरण की दार्शनिक भूमिका - डॉ० सत्यकाम वर्मा, मुंशी राम मनोहरलाल नई दिल्ली 1971.

वेदान्तसार- सदानन्द, एम०हिरियन्ना की व्याख्या सहित, पूना ओ०सीरीज़, पूना, 1962.

वैयाकरणानामन्येषां च मतेन शब्द- स्वरूप तच्छक्तिविचार: - डॉ० कालिका प्रसाद शुक्ल, सं०सं०वि० विद्यालय, वाराणसी 1979.

वैयाकरण सिद्धान्त लघु मंजूषा - नागेश भट्ट, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी- 1973.

वैयाकरण भूषणसार- कौण्ड भट्ट - निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1915.

व्यञ्जनाविमर्श - डॉ० रविशंकर नागर, वन्दना प्रकाशन, दिल्ली, 1977.

व्यक्तिविवेक - महिमभट्ट, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, संवत् - 2039.

व्युत्पत्तिवाद- गदाधर भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत संस्थान

वृत्तिवार्तिक - अप्पय्यदीक्षित, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1940.

शक्तिवाद - गदाधर भट्टाचार्य , चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, 1929

शब्दव्यापारविचार-मम्मट निर्णयसागर प्रेस,बम्बई, 1916.

शब्दशक्ति प्रकाशिका - जगदीशभट्टाचार्य, चौ०सं०सं०, बनारस ।

शब्दकौस्तुभ - भट्टोजिदीक्षित प्रथम तथा द्वितीय भाग, चौ०सं०सं०बनारस, 1929.

श्लोकवार्तिक- कुमारिलभट्ट, आनन्दाश्रम, पूना, 1931.

शृंगारप्रकाश - भोज, 3 भाग, मैसूर 1955-69.

सरस्वतीकण्ठाभरण भोजदेव [रत्नदर्पण व्याख्या सहित] चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी 1976.

सर्वदर्शनसंग्रह - माधवाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1964.

संस्कृतकाव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव - डॉ0 अमरजीत कौर; भारतीय विद्याप्रकाशन, दिल्ली 1979.

संस्कृत व्याकरण दर्शन - रामसुरेश त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1972.

संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास - युधिष्ठिर मीमांसक, 3 भाग, युधिष्ठिर मीमांसक बहालगढ़, जि0 सोनीपत, हरियाणा संवत् 2030.

संस्कृत शास्त्रों का इतिहास - डॉ0 पी0वी0काणे, मोतीलाल बनारसीदास [हिन्दी संस्करण, 1966]

संस्कृत साहित्यविमर्श - द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, भारती प्रतिष्ठान, मेरठ[उ0प्र0] 1956.

साहित्यदर्पण - विश्वनाथ, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1970.

सिद्धान्तकौमुदी - भट्टोजिदीक्षित [तत्त्वबोधिनी व्याख्या सहित] क्षेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई 1926.

स्फोटसिद्धि मण्डन मिश्र, मद्रास, 1931.

स्फोटवाद - सम्पादक, कृष्णमाचार्य अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, 1946.

स्फोटचन्द्रिका - श्री कृष्ण भट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1929.

ENGLISH

Abhinava Gupt - An Historical and Philosophical Study - by Dr. K.C.Pandey (C.S.S. II Ed. 1963).

Bhoja's Sringar Prakasa - by V. Raghavan, Madras 1978.

Bhartrhari - A Study of the Vakyapadiya in the light of the Ancient Commentaries. Deccan College, Poona, 1969.

Dhvanyaloka or Theory of Suggestion in Poetry - by K. Krishnamoorthy (OBA Poona 1955).

Dhvanyaloka Udyota I and II Edited with notes - by Bishnupada. Bhattacharya (Calcutta).

History of Sanskrit Poetics - by S.K.De (II Ed. 1960).

Number of Rasas by V. Raghvan (Adyar Library).

Philosophy of Word and Meaning by Gauri Nath Shastri. (Calcutta Sanskrit College Research Series 5) 1959.

Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit by A. Shankaran.

Sanskrit English Dictionary by V.S.Apte.

Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute.

Proceedings of All India Oriental Conference, Poona.

Poona Orientalist.

Allahabad University Studies, Allahabad.

Journal of the Ganganath Jha Institute.

Journal of Andhra Historical Research Society.

Journal of Oriental Research Madras.

Indian Historical Quarterly, Calcutta.

संक्षिप्तसङ्केत-सूची

अ०वृ०मा०	–	अभिधावृत्तिमातृका
अभि०भा०	–	अभिनवभारती
अलं०मह०	–	अलंकारमहोदधि
अ०स०	–	अलंकारसर्वस्व
ऋ०	–	ऋग्वेद
का०अ०	–	काव्यालंकार
काव्यानु०	–	काव्यानुशासन
का०प्र०बा०	–	काव्यप्रकाश-बालबोधिनी
का०मी०	–	काव्यमीमांसा
का०वा०	–	कात्यायनवार्तिक
का०सा०सं०	–	काव्यालंकारसारसंग्रह
का०सू०वृत्ति	–	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
कै०उ०	–	कैवल्य उपनिषद्
क्रि०स०	–	क्रियासमुद्देश
चि०मी०	–	चित्रमीमांसा
जा०स०	–	जाति समुद्देश
तै०सं०	–	तैत्तिरीयसंहिता
द्र०स०	–	द्रव्यसमुद्देश
ध्वन्या०लो०	–	ध्वन्यालोक लोचन
ना०शा०	–	नाट्यशास्त्र
न्या०म०	–	न्यायमञ्जरी
पस्पशा०	–	पस्पशाह्निक
पा०सू०	–	पाणिनिसूत्र
ब्र०सू०शां०भा०	–	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य
म०भा०,प्र०,उ०,शि०	–	महाभाष्य,प्रदीप,उद्योत, शिश्रादी

०सू०	–	योगसूत्र
जी०	–	वक्रोक्तिजीवित
०प० स्वो०वृ०	–	वाक्यपदीय स्वोपज्ञवृत्ति
०रामा०	–	वाल्मीकिरामायण
०लं०	–	वाग्भटालंकार
०भू०सा०	–	वैयाकरणभूषणसार
०सि०ल०म०	–	वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा
व्य०वि०	–	व्यक्तिविवेक
वृ०स०	–	वृत्तिसमुद्देश
र०गं०	–	रसगङ्गाधर
स०कं०	–	सरस्वतीकण्ठाभरण
सा०द०	–	साहित्यदर्पण
सं०स०	–	सम्बन्धसमुद्देश
सि०कौ०त०बो०	–	सिद्धान्तकौमुदी तत्त्वबोधिनी
स्फो०सि०	–	स्फोटसिद्धि
शृं०प्र०	–	शृङ्गारप्रकाश